प्रगतिशील हिन्दी कविता

डॉ० दुर्गाप्रसाद झाला

मूल्य
१२.५०

प्रकाशक
अभिनव प्रकाशन
पी० रोड, कानपुर-१२

प्रकाशन-काल
फरवरी, १९६७

आवरण-मुद्रक
मनोहर प्रिंटिंग प्रेस, कानपुर

ग्रन्थ-मुद्रक
कमला प्रिंटर्स, कानपुर

प्राक्कथन

मेरे शोध-प्रबन्ध का विषय है — 'प्रगतिशील हिन्दी कविता'। 'प्रगतिशील हिन्दी कविता' — 'प्रगतिवाद' की पर्यायवाची संज्ञा है या नहीं इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। श्री शिवदानसिंह चौहान 'प्रगतिशील साहित्य' और 'प्रगतिवाद' — दोनों को एकार्थक मानने के पक्ष में नहीं है। उनका मत है : "प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवाद-ये दोनों एकार्थक नहीं हैं, और न प्रगतिशील लेखक का प्रगतिवादी होना ही जरूरी है।"[१] उन्होंने दोनों की सीमा-रेखाओं की भी विवेचना की है। उनकी दृष्टि में प्रगतिशील साहित्य 'प्रोलेतेरियन' या 'सोवियत साहित्य' का पर्याय नहीं है, वह कोई 'आज' की, किसी विशेष युग, वर्ग या देश की चीज नहीं है, किसी विशेष सिद्धान्त या पार्टी-नीति के अनुसार लिया गया साहित्य नहीं है, वह 'सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास' नहीं, बल्कि

---

१. प्रगतिशील साहित्य : साहित्य की समस्याएँ : पृष्ठ ४१

स्वयं सांस्कृतिक विरासत है — फिर जीती प्राणवान साहित्य की। यह विरास
प्रगतिशील है, क्योंकि उसने मनुष्य की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उन्नति में यो
दिया है, दे रही है। और इस युग में भी जो साहित्य जीवन के यथार्थों को गहरा
और कलात्मक सचाई से प्रति बिम्बित करता है, वह प्रगतिशील है, चाहे उस
रचना करने वाले लेखकों का व्यक्तिगत दृष्टिकोण आदर्शवादी हो या मार्क्सवादी।'[1]
इसके विपरीत, वे, 'प्रगतिवाद' को 'साहित्य की धारा' नहीं, 'साहित्य का मार्क्सवा
दृष्टिकोण' मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं: 'प्रगतिवाद को सौन्दर्य शा
(ईस्थेटिक्स) सम्बन्धी मार्क्सीय दृष्टिकोण का हिन्दी नामकरण समझना चाहिए।'[2]
डा० रामविलास शर्मा शिवदानसिंह चौहान के मत के समर्थक नहीं हैं। उनकी दृ
में प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य – दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। डा
रामविलास शर्मा का स्पष्ट कथन है — "जैसे छायावादी कवि की रचनाएँ छायावा
से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही प्रगतिशील या प्रगतिवादी लेखकों की रचनाएँ प्रगतिवा
से नहीं हैं। हिन्दी आलोचना में प्रगतिशील और प्रगतिवाद का उसी तरह व्यवहा
होता है जैसे छायावाद और छायावादी का।"[3]

मैंने अपने इस प्रबन्ध में 'प्रगतिवाद, तथा 'प्रगतिशील साहित्य' को एकार्थक
रूप में ही ग्रहण किया है। वस्तुतः शब्द का अर्थ केवल व्युत्पत्ति के आधार पर ही
ग्रहण नही किया जाता है। परम्परा और प्रयोग के द्वारा शब्द के अर्थ का निश्चय
होता है। जब किसी शब्द को जन-साधारण एक विशेष अर्थ में ग्रहण करने लग
जाता है, तब उसका व्युत्पत्तिगत अर्थ चाहे कुछ भी हो, जन-साधारण द्वारा मान्य
अर्थ ही उसका वास्तविक अर्थ होगा। यह एक तथ्य है कि आज प्रगतिशील साहित्य
तथा प्रगतिवाद को एकार्थक रूप में ही ग्रहण किया जाता है। आज प्रगतिशील
कविता एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति के रूप में मान्य हो चुकी है और उसे ही
प्रगतिवाद के नाम से भी पुकारा जाता है।

---

१. प्रगतिशील साहित्य : साहित्य की समस्यायें : पृ० ५२-५३
२. प्रगतिवाद : वही : पृष्ठ ५४
३. भूमिका : प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ : पृष्ठ ८

ग

'प्रगतिशील कविता' को आधुनिक काव्य-प्रवृत्ति 'प्रगतिवाद' के अर्थ में ही ग्रहण किया गया है—इस तथ्य को अधिक स्पष्ट बनाने के लिए ही 'आधुनिक' विशेषण भी लगा दिया गया है।

वैसे, प्रगति के तत्व प्रत्येक युग के काव्य में खोजे जा सकते हैं, लेकिन प्रगति के तत्वों के प्राप्त होने मात्र से हम उस युग की कविता को 'प्रगतिवाद' या 'प्रगतिशील काव्य-प्रवृत्ति' के नाम से अभिहित नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए महादेवी वर्मा ने छायावाद के तत्व वेदों तथा उपनिषदों में भी ढूंढ़े हैं, लेकिन क्या छायावाद के तत्वों के प्राप्त होने मात्र से हम उस युग के काव्य को छायावादी काव्य की संज्ञा से पुकार सकेंगे ? स्पष्ट है—नहीं। 'छायावाद' से तो आधुनिक युग की एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति का ही बोध होता है। उसी प्रकार 'प्रगतिशील कविता' भी आधुनिक युग की विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति का ही बोध कराती है।

इस प्रगतिशील कविता या प्रगतिवाद की परिभाषा को निर्धारित करना—एक दूसरी महत्वपूर्ण समस्या है। श्री शिवदानसिंह चौहान उस साहित्य को 'प्रगतिशील' की संज्ञा देना उचित समझते हैं—"जो पाठक को स्वस्थ प्रेरणायें देता है, मनोविकृतियों को और उभार कर व्यक्ति को असामाजिक और मानव-द्रोही नहीं बनाता, जीवन-संग्राम में आगे बढ़ने का बल और साहस देता है और मनुष्य की चेतना को गहरा, व्यापक और मानवीय बनाता है, हिंसा और द्वेष को नहीं बढ़ाता और जो वास्तव में जीवन की मार्मिक और सारगर्भित स्थितियों का चित्रण करता है अर्थात् जिसमें कला-सौष्ठव और गहराई है।"[1] डा० रामविलास शर्मा की दृष्टि में "प्रगतिशील साहित्य जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य है ......"[2] श्री केदारनाथ अग्रवाल ने प्रगतिशील कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है: "प्रगतिशील कविता वह है जो जीवन और कविता के क्षेत्र में प्रगति पर अथवा विकास और शृंगार करती है। वह कभी भी जीवन खोकर कला की अभिव्यक्ति

१. प्रगतिवाद का प्रवृत्ति-निरूपण : साहित्य की समस्याएँ : पृष्ठ ६२
२. साहित्य की परम्परा : प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें : पृष्ठ ३५

स्वयं सांस्कृतिक विरासत है — चिर जीवी प्राणवान साहित्य की। यह वि
प्रगतिशील है, क्योंकि उसने मनुष्य की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उन्नति में
दिया है, दे रही है। और इस युग में भी जो साहित्य जीवन के यथार्थों को ग
और कलात्मक सचाई से प्रति बिम्बित करता है, वह प्रगतिशील है, चाहे उ
रचना करने वाले लेखकों का व्यक्तिगत दृष्टिकोण आदर्शवादी हो या मार्क्सवादी
इसके विपरीत, वे, 'प्रगतिवाद' को 'साहित्य की धारा' नहीं, 'साहित्य का मार्क्स
दृष्टिकोण' मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं : 'प्रगतिवाद को सौन्दर्य शा
(ईस्थेटिक्स) सम्बन्धी मार्क्सीय दृष्टिकोण का हिन्दी नामकरण समझना चाहिए।
डा० रामविलास शर्मा शिवदानसिंह चौहान के मत के समर्थक नहीं हैं। उनकी दृ
में प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य – दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। डा
रामविलास शर्मा का स्पष्ट कथन है — "जैसे छायावादी कवि की रचनाएँ छायाव
से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही प्रगतिशील या प्रगतिवादी लेखकों की रचनाएँ प्रगतिवा
से नहीं हैं। हिन्दी आलोचना में प्रगतिशील और प्रगतिवाद का उसी तरह व्यवहा
होता है जैसे छायावाद और छायावादी का।"[3]

मैंने अपने इस प्रबन्ध मे 'प्रगतिवाद, तथा 'प्रगतिशील साहित्य' को एकार्थक
रूप में ही ग्रहण किया है। वस्तुतः शब्द का अर्थ केवल व्युत्पत्ति के आधार पर ही
ग्रहण नही किया जाता है। परम्परा और प्रयोग के द्वारा शब्द के अर्थ का निश्चय
होता है। जब किसी शब्द को जन-साधारण एक विशेष अर्थ में ग्रहण करने लग
जाता है, तब उसका व्युत्पत्तिगत अर्थ चाहे कुछ भी हो, जन-साधारण द्वारा मान्य
अर्थ ही उसका वास्तविक अर्थ होगा। यह एक तथ्य है कि आज प्रगतिशील साहित्य
तथा प्रगतिवाद को एकार्थक रूप में ही ग्रहण किया जाता है। आज प्रगतिशील
कविता एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति के रूप में मान्य हो चुकी है और उसे ही
प्रगतिवाद के नाम से भी पुकारा जाता है।

---

१. प्रगतिशील साहित्य : साहित्य की समस्यायें : पृष्ठ ३२-३१
२. प्रगतिवाद : वही : पृष्ठ ३४
३. भूमिका : प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ : पृष्ठ ८

'प्रगतिशील कविता' को आधुनिक काव्य-प्रवृत्ति 'प्रगतिवाद' के अर्थ में ही ग्रहण किया गया है—इस तथ्य को अधिक स्पष्ट बनाने के लिए ही 'आधुनिक' विशेषण भी लगा दिया गया है।

वैसे, प्रगति के तत्व प्रत्येक युग के काव्य में खोजे जा सकते हैं, लेकिन प्रगति के तत्वों के प्राप्त होने मात्र से हम उस युग की कविता को 'प्रगतिवाद' या 'प्रगतिशील काव्य-प्रवृत्ति' के नाम से अभिहित नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए महादेवी वर्मा ने छायावाद के तत्व वेदों तथा उपनिषदों में भी ढूंढ़े हैं, लेकिन क्या छायावाद के तत्वों के प्राप्त होने मात्र से हम उस युग के काव्य को छायावादी काव्य की संज्ञा से पुकार सकेंगे? स्पष्ट है—नहीं। 'छायावाद' से तो आधुनिक युग की एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति का ही बोध होता है। उसी प्रकार 'प्रगतिशील कविता' भी आधुनिक युग की विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति का ही बोध कराती है।

इस प्रगतिशील कविता या प्रगतिवाद की परिभाषा को निर्धारित करना—एक दूसरी महत्वपूर्ण समस्या है। श्री शिवदानसिंह चौहान उस साहित्य को 'प्रगतिशील' की संज्ञा देना उचित समझते हैं—"जो पाठक को स्वस्थ प्रेरणायें देता है, मनोविकृतियों को और उभार कर व्यक्ति को असामाजिक और मानव-द्रोही नहीं बनाता, जीवन-संग्राम में आगे बढ़ने का बल और साहस देता है और मनुष्य की चेतना को गहरा, व्यापक और मानवीय बनाता है, हिंसा और द्वेष को नहीं बढ़ाता और जो वास्तव में जीवन की मार्मिक और सारगर्भित स्थितियों का चित्रण करता है अर्थात् जिसमें कला-सौष्ठव और गहराई है।"[1] डा० रामविलास शर्मा की दृष्टि में "प्रगतिशील साहित्य जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य है ......"[2] श्री केदारनाथ अग्रवाल ने प्रगतिशील कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है: "प्रगतिशील कविता वह है जो जीवन और कविता के क्षेत्र में प्रगति पर अथवा विकास और श्रृंगार करती है। वह कभी भी जीवन खोकर कला की अभिव्यक्ति

१. प्रगतिवाद का प्रवृत्ति-निरूपण : *साहित्य की समस्याएँ* : पृष्ठ ६१
१. साहित्य की परम्परा : प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें : पृष्ठ ३१

मात्र बनने का प्रयास नहीं करती। यह जीवन को जीकर, जीवन से कविता की ओर संक्रमण करती है। उसकी विषय-वस्तु जीवन की विषय-वस्तु से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है और अपना रूप तदनुकूल प्राप्त करती है।"[१]

वस्तुतः प्रगतिशील कविता को किसी एक परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता। उसकी प्रवृत्तियों के विवेचन के द्वारा ही उसकी मूलभूत विशेषताओं को समझा जा सकता है : मोटे रूप में आधुनिक युग-संदर्भ में प्रगतिशील कविता ने समाजवादी धारणा को अपनाया है, इसलिए आधुनिक काव्य के क्षेत्र में जो समाजवादी धारणायें व्यक्त हुई हैं—उनको वहन करने वाली काव्य-प्रवृत्ति को ही 'आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता' के नाम से पुकार सकते हैं।

यह काव्य-प्रवृत्ति आधुनिक हिन्दी काव्य की अत्यधिक विवादास्पद प्रवृत्ति रही है। यद्यपि इस काव्य-प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए कुछ अध्ययन प्रस्तुत किए गये हैं, लेकिन इसके मूलतः स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की दृष्टि से वे अधूरे तथा एकांगी ही हैं : इस प्रबन्ध के द्वारा मैंने यह प्रयास किया है कि 'आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता' का संतुलित विवेचन हो, उसका मूल स्वरूप स्पष्ट हो सके और इसके सम्बन्ध में जो विविध भ्रान्तियाँ हैं उनका भी निराकरण हो सके। अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए मैंने अपना प्रत्येक निष्कर्ष पर्याप्त उद्धरण देने के पश्चात् ही निकाला है।

इस शोध-कार्य को करते समय मुझे डा० शिवमंगलसिंह 'सुमन' और डा० महेन्द्र भटनागर से समय-समय पर जो मार्ग-निर्देशन तथा प्रोत्साहन मिला है, उसे शब्दों में व्यक्त करना अत्यन्त कठिन है। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा का विचार न कर, समय-असमय का ध्यान रखे बिना जब भी मैं उनके पास पहुँचा—अपना अमूल्य समय देकर मुझे कृतार्थ किया है। अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय से अनेक अलभ्य पुस्तकें देकर भी उन्होंने मुझे अनुगृहीत किया है। वस्तुतः उनके

---

१. श्री केदारनाथ अग्रवाल के एक पत्र के आधार पर : देखिए परिशिष्ट–१

त्साहन, मार्ग-निर्देशन तथा सहायता के अभाव में तो इस प्रबन्ध का पूर्ण होना असम्भव था।

डा० रामविलास शर्मा तथा श्री केदारनाथ अग्रवाल ने भी मेरे प्रश्नों के त्तर देकर मुझे अनुगृहीत किया है।

प्रबन्ध लिखते समय मैंने जिन अनेक विद्वानों एवं कृतिकारों के चिन्तन से ाभ उठाया है, उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना भी अपना कर्त्तव्य मानता हूँ।

रवरी, १९६७ —दुर्गा प्रसाद झाला

विषय–सूची

१

पूर्व-पीठिका : परिवेश एवं परिस्थितियाँ

युग-जीवन की सामाजिक वास्तविकता सदैव ही साहित्य की प्रेरणागत पृष्ठभूमि का काम करती रही है। आधुनिक हिन्दी कविता की प्रगतिशील धारा भी इस तथ्य का अपवाद नहीं। वस्तुतः पूर्व प्रचलित आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक, आदि परिस्थितियों ने ही हिन्दी कविता को प्रभावित कर उसे नया रूप प्रदान किया है। सुश्री महादेवी वर्मा ने निम्न सिद्धान्त का कथन कर वस्तुतः इतिहास के एक अकाट्य सत्य को प्रस्तुत किया है : "वर्तमान आकाश से गिरी हुई सम्बन्ध रहित वस्तु न होकर भूतकाल का ही बालक है, जिसके जन्म का रहस्य भूतकाल में ही ढूँढ़ा जा सकता है"।[१] अतएव हिन्दी काव्य की प्रगतिशील धारा के मर्म तक पहुँचने के लिए उसे उद्भूत तथा विकसित करने वाली पूर्व-पृष्ठ-रेखाओं का संक्षिप्त अवलोकन अत्यन्त आवश्यक है।

पूँजीवादी तत्वों की भूमिका

जैसा कि हम आगे देखेंगे, सन् १९३६–३८ ई० तक इस प्रगतिशील धारा ने हिन्दी काव्य में अपना एक निश्चित तथा विशिष्ट स्वरूप ग्रहण कर लिया था। यह काल समय की उस सीमा रेखा का परिचायक बिन्दु है, जबकि विश्व-रंगमंच पर पूँजीवाद के गति-अवरोधक तत्व स्पष्ट हो चले थे। लेकिन पूँजीवाद की एक क्रान्तिकारी भूमिका भी रही है। उसने इतिहास के चक्र को अधिक तेजी से आगे बढ़ाया है और उसके द्वारा विकसित नवीन तत्वों के आधार पर ही नवीन समाजवादी चेतना का प्रादुर्भाव एवं विकास संभव हो सका है। अतएव उसके क्रान्तिकारी तथा गति-अवरोधक—दोनों तत्वों का पृथक्-पृथक् अध्ययन कर लेना उचित होगा।

---

१. महादेवी वर्मा का विवेचनात्मक गद्य (द्वितीय संस्करण) : पृष्ठ २९

(क) पूँजीवाद के क्रान्तिकारी तत्व:–पूँजीवाद अपने प्रारम्भिक रूप में सामन्तीय व्यवस्था की अपेक्षा एक अधिक क्रान्तिकारी एवं प्रगतिशील व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया जाता है । उसका कारण यह है कि पूँजीवाद ने सामन्तीय कृषि-व्यवस्था के स्थान पर एक अधिक उन्नत औद्योगिक व्यवस्था की स्थापना की । सामन्तीय युग में कृषि-व्यवस्था, वैज्ञानिक तथा अत्यन्त अविकसित श्रमविभाजन-पद्धति के कारण जीवन के विकास की गति अत्यन्त ही मन्द एवं मंथर थी । इसके विपरीत, पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में औद्योगिक विकास तथा वैज्ञानिक प्रगति ने जीवन में एक नवीन हलचल पैदा कर दी और जाति की उन्नति के अनेकानेक प्रशस्त पथों के द्वार खोल दिए । 'स्वतन्त्र बाजार' तथा 'उन्मुक्त प्रतियोगिता' की नीति से कला-कौशल के नवीन विकास में सहायता मिली । सामन्तीय समाज का अलग-अलग खण्ड भागों में बँटा हुआ कूप-मण्डूक जीवन एक अखण्ड सूत्र में ग्रथित हुआ और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय चेतना प्रसारित हुई । यातायात के साधनों के विकास के फलस्वरूप दुनियाँ के विभिन्न राष्ट्र पारस्परिक सम्पर्क में आकर एक दूसरे को स्वभावतः ही प्रेरित करने लगे । उनमें प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न हुई और वे आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र के लम्बे डग भरने का प्रयास करने लगे । इस प्रकार सामन्तीय व्यवस्था की संकीर्ण एवं रूढ़िबद्ध सीमाओं को लाँघकर पूँजीवादी समाज ने मानवता के एक अधिक व्यापक क्षेत्र में प्रवेश किया, जिसके कि परिणामस्वरूप विचार-भावना, दर्शन, संस्कृति तथा साहित्य का क्षितिज भी अधिक व्यापक और उदार हो गया । कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी-समाज व्यवस्था के इस क्रान्तिकारी पहलू का विस्तार से विवेचन किया है । उसने बताया है कि जहां मनुष्य की आवश्यकतायें, पहले स्थानीय उत्पादन से ही सन्तुष्ट हो जाती थीं, अब नयी आवश्यकताओं का उदय हुआ जोकि अपनी तृप्ति के लिए दूर के अन्य देशों में उत्पादित वस्तुओं की भी आकांक्षा करने लगीं । पहले जहाँ मनुष्य अपने स्थानीय और राष्ट्रीय घेरे में ही बद्ध था, अब उसका आवागमन प्रत्येक दिशा में बढ़ा और अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक निर्भरता का जन्म हुआ । भौतिक क्षेत्र के समान ही बौद्धिक क्षेत्र में भी इन तत्वों का समावेश हुआ । अब प्रत्येक राष्ट्र की व्यक्तिगत बौद्धिक कृतियाँ समस्त राष्ट्रों की सामान्य सम्पत्ति के रूप में परिगणित होने लगीं । इस प्रकार, कार्ल मार्क्स के मतानुसार, राष्ट्रीय एवं स्थानीय साहित्य-कृतियों में से एक विश्व-साहित्य का उद्भव होता है ।[1]

---

1. "In place of the old wants, satisfied by the production of the country, we find new wants, requiring for their satisfaction

पूँजीवादी युग मे विज्ञान के क्षेत्र में भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई। विज्ञान ने भौतिक दृष्टि से तो मनुष्य को समृद्ध बनाया ही, मनुष्य-मस्तिष्क को भी अधिक संतुलित एव सजग बनाया और उसे भविष्य के स्वरूप-चिन्तन की एक नवीन दृष्टि प्रदान की। विज्ञान से स्वस्थ प्रभाव के परिणामस्वरूप मनुष्य का दृष्टिकोण अधिक बुद्धिवादी हुआ और परम्परागत रूढ़ियों के प्रति उसका अन्ध विश्वास समाप्त हो गया। अब वह हर धारणा को बुद्धि की तराजू पर तौलने के बाद ही अपनाने लगा। इस विज्ञान से प्रभावित होकर मनुष्य परम्परागत धार्मिक विधि-विधानों के प्रति भी शंकाशील हो उठा। स्वयं धर्म भी अधिक व्यापक रूप ग्रहण करने लगा और मनुष्य सकीर्ण सम्प्रदायगत सीमाओं को लाँघकर एक सर्वात्म-वादी मानव-धर्म की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होने लगा। आगे चलकर इस वैज्ञानिक दृष्टि ने ही अधिक विकसित होकर मानव को ससार की भौतिक व्याख्या करने तथा बदलने के लिए भी प्रेरित किया। इस वैज्ञानिक दृष्टि की सबसे बड़ी देन तो यह है कि उसने किसी अदृष्ट शक्ति के सम्मुख तुच्छ बने हुए मानव ने गौरव-मूल्य की पुनः प्रतिष्ठा की और उसे सृष्टि का सर्वोत्तम मूल्य स्वीकार किया।

(ख) पूँजीवाद के गति अवरोधक तत्व :—उक्त क्रान्तिकारी तत्वों के साथ ही पूँजीवादी समाज-व्यवस्था ने क्रमशः गतिअवरोधक तत्वों की भी सृष्टि की। पूँजीवाद के विकास का वैज्ञानिक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि औद्योगिक विकास की चरम परिणति और स्वतन्त्र बाजार तथा उन्मुक्त प्रतियोगिता की नीति के परिणामस्वरूप ही पूँजी क्रमशः कम से कम हाथों में संचित होती चली गई, निम्न

---

the products of distant lands and climes. In place of the old local and national seclusion and self-sufficiency we have intercourse in every direction, universal interdependence of nations. And as in material, so also in intellectual production. The intellectual creations of individual nations became common property. National onesidedness and narrow mindedness became more and more impossible, and from the numerous national and local literatures, there arises a world literature."

—Manifesto of the Communist Party (Eng. Edi.—1952): Page 52.

मध्यवर्ग तथा सर्वहारा वर्ग की संख्या में उसी अनुपात में तीव्र वृद्धि होती ग और परिणामतः आर्थिक शोषण की प्रक्रिया में भी अप्रत्याशित तीव्रता आती गई यन्त्रों के अत्यधिक विकास ने मनुष्य को यन्त्र का ही दास बना दिया और समस्त सामाजिक सम्बन्धों के केन्द्र बिन्दु के रूप में अर्थ की प्रधानता ने पारस्परिक सद्भावना और सहयोग भावना आदि सामन्तीय युग की एक मानवीय विशेषता थी– की खाई को अधिक चौड़ा बना दिया। कार्ल मार्क्स के शब्दों में मानव को अपने 'निसर्ग प्रवरों' से बांधने वाले विविध सामन्ती बन्धनों को उसने बड़ी निर्ममता से तोड़ा है, उसने मानव-मानव के बीच नग्न स्वार्थ के अतिरिक्त भाव-विहीन नकद अदायगी के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं रहने दिया।[1] अतएव अर्थ ही मानव की महत्ता का द्योतक तत्व हो गया। मानवीय गुणों की सत्ता भी पैसे पर ही निर्भर हो गई। कार्ल मार्क्स के ही शब्दों में जो कोई साहस को खरीद सके वह साहसी है चाहे वैसे भले ही वह कायर हो।[2] इस प्रकार अर्थ के आगे अन्य सब मानवीय तथा नैतिक प्रतिमानों की स्थिति गौण हो गयी। प्रेमचन्दजी ने अपने महाजनी सभ्यता शीर्षक लेख में पूँजीवाद के इस अर्थवादी तत्व का बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि धन-लोभ ने मानव-भावों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफत गुण और कमाल की कसौटी पैसा और केवल पैसा है। जिसके पास पैसा है वह देवता स्वरूप है, उसका अन्तःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य संगीत और कला सभी धन की देहली पर माथा टेकने वालों में है। यह हवा इतनी जहरीली हो गई है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है।[3]

(ग) परिणाम :—अर्थ व्यवस्था के इस घृणित रूप ने वर्ग–विशेष की कटु-तिक्त भावना को अधिक प्रबल बनाया और पूँजीवादी युग के सर्वाधिक क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के हृदय में संघर्ष की एक ज्वलन्त प्रेरणा पैदा की। फ्रांस की महान क्रान्ति में उद्घोषित 'समानता, स्वतन्त्रता एवं बन्धुत्व के आदर्श भी केवल एकाधिकारी पूँजी-पति वर्ग तक ही सीमित रह गए और शेष वर्गों के लिए उनका कोई मूल्य नहीं रहा।' 'समानता' से तात्पर्य केवल शोषण के लिए अवसर की समानता' से रह गया। 'स्वतन्त्रता' का अर्थ 'बाजार की स्वतन्त्रता' में सिमट कर संकुचित हो गया और

---

१. पाश्चात्य काव्य–शास्त्र की परम्परा : सं० डॉ० नगेन्द्र : पृष्ठ ३२३ से उद्धृत
२. वही, पृष्ठ ३२२ से उद्धृत
३. हंस (शान्ति-संस्कृति-अंक) : वर्ष २२, अंक ६-७ : पृष्ठ ७

बन्धुत्व की भावना तो स्वयं पूँजीपति वर्ग के पारस्परिक सम्बन्धों में भी नहीं रही। वह पूर्ण रूप से 'पैसे' की गुलाम हो गई। *अतएव पूँजीवादी समाज अर्थरूपी दानव के पञ्जों में बुरी तरह जकड़ गया और उसके पर अन्ततः गतिशील उड़ान भरने की* स्थिति में नहीं रहे। परिणामतः जन-जीवन का विशेषतः सर्वहारा वर्ग का हृदय इस व्यवस्था के कृत्रिम और झूठे मूल्यों के प्रति विद्रोह कर उठा और वह इस शोषण प्रक्रिया पर आधारित वणिक समाज-रचना को समूलतः परिवर्तित करने के लिए आतुर हो उठा। फलस्वरूप मार्क्सीय चिन्ताधारा का तीव्र गति से विकास होने लगा। यद्यपि यह चिन्ताधारा भी युग-चिन्तन की पूर्ण परिणति का दावा नहीं कर सकती, इसकी अनेक मान्यताओं को काल के अगाध प्रवाह में विलीन भी होना पड़ा, लेकिन यह भी एक तथ्य है कि सर्वप्रथम इसी चिन्ता धारा ने सामाजिक विकास-क्रम का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया और पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की विषमताओं से मुक्त होने के लिए एक नवीन समाजवादी समाज-व्यवस्था के आदर्श स्वरूप की निर्धारणा की। अपनी आदर्श और साथ ही वैज्ञानिक भित्ति पर आधारित सामाजिक *मान्यताओं के द्वारा, इस चिन्ता-धारा ने समाज-मानस में एक नवीन आन्दोलन की* सृष्टि की तथा भविष्य को नए रूप-रंग में ढालने की एक नवीन दृष्टि का समावेश *हुआ और वह अपने सीमित तथा संकीर्ण क्षेत्र को छोड़कर मानव-जीवन की सम्पूर्ण* व्यापकता एवं गहराई को उसके यथार्थ-रूप में वाणी प्रदान करने का प्रयास करने लगा।

भारतीय समाज-व्यवस्था का प्राचीन रूप

भारतवर्ष में उक्त पूँजीवादी व्यवस्था के विकास के लिए भौतिक आधार *प्रस्तुत करने की दृष्टि से ब्रिटिश-शासन की भूमिका का उल्लेखनीय महत्व है।* उसके महत्व का उचित मूल्यांकन तभी हो सकता है जबकि हम अंगरेजों के आगमन के ठीक पूर्व की भारतीय समाज-व्यवस्था को अपनी दृष्टि में रखें। अंगरेजों के आगमन के पूर्व की भारतीय समाज-व्यवस्था सामन्तीय आधारभूमि पर ही प्रतिष्ठित थी। उसकी अर्थव्यवस्था का केन्द्रबिन्दु पर आधारित, अपने में पूर्ण, आत्म-निर्भर ग्राम था। ग्राम-निवासी देश के शेष भाग से सर्वथा असंपृक्त रहकर अपनी ही सीमित दुनियाँ के राग-रंग में डूबे रहते थे और इसलिए बड़ी से बड़ी हलचल भी उनकी चेतना को झकझोरने में असमर्थ रहती थी। गाँव की जमीन पर गाँव वालों का सामूहिक अधिकार रहता था और वे फसल को आपस में बाँट लिया करते थे। जमीन किसी राजा-विशेष की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं मानी जाती थी। हाँ, लगान के रूप में उपज का एक भाग राजा को अवश्य दिया जाता था। किसान खेती करने के

अलावा शेष समय में कातने–बुनने का काम करते थे और इस प्रकार अन्न के अलावा जीवन की दूसरी प्रमुख आवश्यकता वस्त्र का उत्पादन भी स्वयं कर लिया करते थे। कृषक के अलावा गाँव का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग कारीगरों तथा दस्तकारों का था, जोकि ग्राम-निवासियों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। ये लोग भी समय–समय पर आवश्यकतानुसार तथा फुरसत के समय में ग्राम-सभा या पंचायत द्वारा जमीन दिये जाने पर कृषि–कार्य भी किया करते थे। इस प्रकार श्रम विभाजन की कोई स्पष्ट रेखा नहीं थी और परिणामस्वरूप ग्रामीण शिल्प बहुत अनुन्नत अवस्था में था।[1]

सांस्कृतिक दृष्टि से भी इन ग्रामों की अवस्था कुछ अच्छी नहीं कही जा सकती थी। यातायात के साधनों के अभाव तथा पारस्परिक आर्थिक विनिमय प्रणाली के अविकसित स्वरूप के कारण ग्राम शेष संसार से कटे हुए थे।[2] इसलिए उनकी दृष्टि भी संकुचित-सीमित घेरे के अन्दर ही बद्धमूल थी। एक व्यापक राष्ट्रीय चेतना का तो उनमें नितान्त ही अभाव था। कार्ल मार्क्स ने भारत की इस पिछड़ी हुई ग्रामीण संस्कृति के सम्बन्ध में लिखा है :–

"...परन्तु साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि ये ऊपर से बड़ी सुन्दर और निर्दोष दिखने वाली ग्रामीण बस्तियाँ ही सदा पूरब की तानाशाहियों के दृढ़ आधार का काम करती आई हैं। उन्होंने मनुष्य को मस्तिष्क को संकुचित से संकुचित सीमाओं में बाँध रखा था, जिससे मनुष्य अंधविश्वासों का निस्सहाय साधन और रूढ़ियों तथा पुराने रीति-रिवाजों का गुलाम बन गया था और उसका सम्पूर्ण गौरव और गरिमा नष्ट हो गई थी, उसकी ऐतिहासिक शक्तियाँ जाती रही थीं। ....[३]"

1. "The artisan, who did all the miscellaneous duties connected with his occupation in the village, did not specialize, and the division of labour was extremely limited. The proficiency, therefore, of the artisan in his craft could not be expected to be great."
The Industrial Evolution of India : D. R. Gadgil : Page 11

2. " The almost complete absence of any appreciably developed economic exchange between the village and the outside world together with the very weak means of transport, which did not grow beyond the bullock-cart isolated the village-population, reducing it to a single small unit mainly living its life exclusively in the village."
Dr. A. R. Desai : S. B. I. N. : Page 17.

३. भारत सम्बन्धी लेख : (प्रथम संस्करण) : पृष्ठ १५

24·6·12

ही भारत के नगर शिल्प, कला,संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों में ग्रामों की
तुलना कहीं अधिक उन्नत अवस्था में थे। लेकिन आर्थिक एकसूत्रता के अभाव और
यातायात के गतिशील साधनों की कमी के कारण मूलतः हमारी संस्कृति अगतिशील
ही रही। १८वीं सदी में तो हमारी सांस्कृतिक धारा में पूर्णतः अराजकता का
समावेश हो चुका था। इस युग की सांस्कृतिक अवस्था का चित्र अंकित करते हुए
डा० केसरीनारायण शुक्ल ने लिखा है :–

......"यह कहा जा चुका है कि उस समय व्यक्ति की प्रधानता हो गई थी
और उसकी अहंभावना कर्तव्य से च्युत और अपने भोग-विलास की ओर झुक रही
थी। सामान्य जनता से संस्कृत का सम्पर्क टूट चुका था। देश की विविध जातियों
और धार्मिक तत्वों को एकसूत्र में बाँधने वाले रचनात्मक तथा क्रियात्मक आदर्श का
अभाव था और देश आर्थिक ह्रास तथा नैतिक अधःपतन के गर्त में गिर चुका था।[१]"

ब्रिटिश शासन की भूमिका

भारतवर्ष की ऐसी सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियों में अंगरेजों का
आगमन हुआ था। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि अंगरेज यहाँ व्यापार करने के
उद्देश्य से आए थे और धीरे-धीरे शासक बन बैठे। यहाँ आकर उन्होंने मुख्य रूप
से दो प्रकार की भूमिका अदा की – एक विध्वंसात्मक, दूसरी सृजनात्मक।

१. *विध्वंसात्मक भूमिका* :– अपनी विध्वंसात्मक भूमिका के अन्तर्गत उन्होंने
भारतवर्ष के प्राचीन उद्योग व्यवसाय को, कला-कौशल को, अर्थ-व्यवस्था और
समाज व्यवस्था को बड़ी निर्ममता के साथ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और इस प्रकार
भारत के पूरे सामाजिक जीवन मे एक अशान्ति की हलचल पैदा कर दी। यह
कार्य करने के लिए इन्होंने मुख्य रूप से निम्न तरीकों का आश्रय लिया –

१. सीधे सीधे भारतीय माल को लूटा।
२. सिंचाई और सार्वजनिक निर्माण के कामों की ओर ध्यान देना बन्द
   कर दिया।
३. जमींदारी की अंग्रेजी प्रथा को जन्म दिया और जमीन पर व्यक्तिगत
   अधिकार तथा जमीन को बेचने और खरीदने की प्रथा को जारी किया।
४. हिन्दुस्तान के बने हुये माल को, एकदम प्रतिबन्ध लगाकर या भारी
   चुङ्गी लगाकर पहले इंगलैंड मे और फिर यूरोप में आने से रोक दिया।[२]

---

१. आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत (द्वितीयावृत्ति), पृष्ठ १२
२. रजनी पामदत्त : भूमिका : कार्ल मार्क्स के भारत ...

उक्त तरीके से उन्होंने यहाँ के उद्योग-व्यवसाय को तो नष्ट कर दिया और फिर यहाँ से सस्ते दामों पर कच्चा माल भेजकर और यहाँ के तैयार माल को महँगे दामों में हिन्दुस्तान में ही खपाकर इंगलैंड के औद्योगिक व्यवसाय को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा दिया। यह स्मरणीय है कि प्लासी की लड़ाई सन् १७५७ में हुई थी, जिसने कि अंगरेजों को वास्तविक रूप में यहाँ का शासक बना दिया था और इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ लगभग सन् १७६० से होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दुस्तान की लूट की पूँजी द्वारा इंगलैंड ने अपनी औद्योगिक क्रान्ति का पथ प्रशस्त किया था। अमेरिकन लेखक 'ब्रूक एडम्स' ने असंदिग्ध शब्दों में लिखा है : शायद जबसे दुनियाँ शुरू हुई है, किसी भी पूँजी से कभी भी इतना मुनाफा नहीं हुआ, जितना कि हिन्दुस्तान की लूट से।[1]

अंगरेजों की हमेशा यही इच्छा रही कि भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश ही बना रहे और इंगलैंड की मिलों में बना हुआ तैयार माल भारी कीमतों में खरीद खरीद कर अपना धन लुटाता रहे। अतएव उन्होंने हिन्दुस्तान में भारी उद्योग-धन्धों के विकास की ओर कभी भी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। यद्यपि उन्होंने थोड़े बहुत उद्योग-धन्धे, कल-कारखाने खोले अवश्य, जैसा कि हम आगे देखेंगे, लेकिन वैसा उन्होंने मजबूर होकर अपने स्वार्थ के लिए ही किया। इसका परिणाम यह हुआ कि खेती पर बोझ अधिक बढ़ता गया, निर्धनता अपने विकराल जबड़े को अधिक से अधिक फैलाती गई, बेकारी की समस्या और भी भयंकर रूप धारण करती चली गई तथा भूख और अकाल के द्वारा मरना हिन्दुस्तानियों के लिए एक रोजमर्रा की साधारण-सी बात हो गई। अकाल के द्वारा मरने वाले लोगों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या के निम्न चार्ट[2] से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है :

वर्ष	अकाल से मृत्यु-संख्या
१८००—२५	१० लाख
१८२५—५०	४० लाख
१८५०—७५	५० लाख
१८७५—१९००	१ करोड़ ५० लाख

३. मुक्तव्यापार नीति — आगे चल कर भारत के कच्चे माल के निर्यात [illegible] करके ग्रेट ब्रिटेन का माल इधर से उधर भेजने की दृष्टि से ही अंग्रेजों ने भारत

1. हिन्दुस्तान की कहानी (प्रथम (१९४७)) [illegible] नेहरू : पृष्ठ ३६६ से उद्धृत
2. आज का भारत (पहली हिन्दी आवृत्ति) रजनी पामदत्त : पृष्ठ १०१ से उद्धृत

में यातायात के साधनों का विकास किया। डलहौजी के शासन-काल में सर्वप्रथम रेल की सड़कों का निर्माण हुआ। यातायात के ये साधन भारत के औद्योगिक तथा राष्ट्रीय चेतना के विकास में बहुत सहायक सिद्ध हुए। रेलों की इस क्रान्तिकारी भूमिका के सम्बन्ध में कार्लमार्क्स ने अपने 'हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के भावी परिणाम' शीर्षक लेख में बड़ी स्पष्टता के साथ लिखा है : मैं जानता हूँ कि अंग्रेज कारखानेदार केवल इसी उद्देश्य को सामने रखकर हिन्दुस्तान में रेलें बनवा रहे हैं कि उनके द्वारा कम खर्च में अधिक कपास और दूसरा कच्चा माल अपने उद्योग-धन्धों के लिए निकाल सकें। परन्तु यदि एक बार किसी देश के आवाजाही के साधनों में मशीनों का इस्तेमाल होने लगता है, और यदि उस देश में कोयला और लोहा भी मिलते हैं तो फिर उस मुल्क को मशीनें बनाने से नहीं रोका जा सकता। यह नहीं हो सकता कि आप एक विशाल देश में रेलों का जाल बिछाये रहें और उन औद्योगिक प्रक्रियाओं को वहाँ आरम्भ न होने दें जो रेल यातायात की तात्कालिक और राजमार्गों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जरूरी है। और, इन औद्योगिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप यह भी अवश्यम्भावी है कि उद्योग की जिन शाखाओं का रेलों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, उनमें भी मशीनों का उपयोग होने लगे। इस प्रकार, रेल-व्यवस्था से हिन्दुस्तान में आधुनिक उद्योग की नींव पड़ गई है।[1]

इस प्रकार, अंग्रेजों ने भारत की प्राचीन अर्थ तथा समाज-व्यवस्था को जो आघात पहुँचाया, उससे एक ओर यदि कुछ ध्वंसात्मक परिणाम हुए तो दूसरी ओर उनकी अनिच्छा के रहते हुए भी कुछ ऐसे तत्वों अथवा भौतिक साधनों का भी जन्म हुआ जो कि भारत के जड़ तथा निष्क्रिय स्वरूप को गतिशील बनाने में सहायक सिद्ध हुए। यही कारण है कि कार्ल मार्क्स ने इंगलैण्ड के अनेक पापों को स्वीकार करते हुए भी यह माना है कि इस क्रान्ति को लाने में उसने इतिहास के एक अचेतन साधन का काम अवश्य किया है।[2] कार्ल मार्क्स के ही मतानुसार इंगलैण्ड ने (ब्रिटिश शासन ने) भारतवर्ष को जो क्रान्तिकारी तत्व प्रदान किए उनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है – १. राजनीतिक एकता, २. राष्ट्रीय सेना, ३. स्वतन्त्र अखबार और छापेखानों का कायम होना, ४. भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार, ५. एक शिक्षित भारतीय वर्ग का निर्माण, ६. यूरोप के साथ भारतवर्ष का पार-

---

१. भारत-सम्बन्धी लेख : पृष्ठ ८८
२. वही : पृष्ठ ३६

स्परिक नियमित संपर्क, और ७. रेल आदि यातायात के साधनों का विकास।[1] इन उक्त उल्लिखित तत्वों ने निश्चय ही भारतीय जनता को सामन्तवाद के संकीर्ण एवं रूढ़िबद्ध जीवन की सीमा से बाहर निकाल कर उसे एक व्यापक दृष्टिकोण, मानवतावादी भाव-चेतना तथा सामाजिक रूढ़ि-रीतियों के प्रति विद्रोह-भावना के प्रसार में सहायता दी।

तत्कालीन भारतीय जनता उक्त दोनों प्रकार के तत्वों से पूर्णतः परिचित थी। यह तथ्य उस समय के साहित्य तथा लोक गीतों के अध्ययन से प्रमाणित हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की निम्न पंक्तियां ब्रिटिश शासन को उक्त दोनों प्रकार की भूमिकाओं की ओर संकेत करती हैं:—

> अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
> पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।
> ताहू में महँगी काल-रोग विस्तारी।
> दिन दिन दूने दुख ईस देत हा! हारी!![2]

इसी प्रकार, रेल, तार, नल आदि की स्थापना के लिए अंगरेजों की प्रशंसा के विषय में अनेक पद्य तथा लोकगीत मिलते हैं। एक लोकगीत देखिए:

> फिरंगी तेरी राज सुन्दर सदा रहियो।
> तैंने रुपिया चलाए चेहरा-सा ही
> फिरंगी तेरा राज सुन्दर सदा रहियो।
> तैंने सड़क पर रेल चलाई
> फिरंगी तेरो राज सुन्दर सदा रहियो।
> तैंने धुएं के शब्द उड़ाए
> फिरंगी तेरो राज सुन्दर सदा रहियो।
> तैंने नैनू चलाये बूटेदार
> फिरंगी तेरो राज सुन्दर सदा रहियो।
> तैंने पैसा चलाये डबल साई
> फिरंगी तेरो राज सुन्दर सदा रहियो।

---

१. भारत-सम्बन्धी लेख : पृष्ठ ८४–८८
२. भारतेन्दु-नाटकावली : (प्रथम भाग) प्रथम संस्करण (सं० १९९२) : भारत दुर्दशा – पृष्ठ ४२८

तेरो रैयत ये सुख पाई
फिरंगी तेरो राज सुन्दर सदा रहियो।[1]

हिन्दुस्तान का औद्योगिक विकास

इस प्रकार अंगरेजों की अनिच्छा के बावजूद भारतवर्ष में वे भौतिक परिस्थितिया उत्पन्न होने लगी जो पूंजीवाद के प्रसार में सहायक होती हैं और परिणामतः हिन्दुस्तान औद्योगिक विकास की डगर पर आगे बढ़ चला। सन १८५० और १८५५ के बीच एक कपास की और कुछ जूट तथा कोयले की खानें प्रारम्भ हो चुकी थी। सन १८८२ मे जूट मिलों की संख्या २० तक पहुंच गयी थी। सन १८८० में देश में ५६ कोयले की खानें कार्यरत थी। इसके बाद सन् १९१३–१४ तक कपास की मिलों की संख्या २६४ तक तथा जूट मिलों की सख्या ६४ तक पहुंच गई थी। सन् १९१४ में कोयले की खानों में १५१,३७६ मजदूर काम कर रहे थे।[2] औद्योगिक विकास की यह गति सन् १९१४ के बाद और भी तेज हो गई। लार्ड हार्डिङ्ग ने सन् १९१५ में औद्योगिक विकास की गति और भी तीव्रतर बनाने की घोषणा की। यह घोषणा निश्चय ही, उनकी सद्भावना अथवा शुभकामना की प्रतीक नहीं थी, वरन् उनके अपने आर्थिक तथा सैनिक स्वार्थों की आवश्यकताओं का ही परिणाम थी। सन् १९१८ की 'मांटेग्यू चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट' का निम्न अंश उक्त तथ्य को ही प्रकट करता है:—

"सभी दलीलों से यह नतीजा निकलता है कि औद्योगिक विकास में आगे बढ़ने की नीति बहुत जरूरी है। हिन्दुस्तान को आर्थिक दृष्टि से स्थिर बनाने के लिए ही नहीं, यहाँ की जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए भी यह जरूरी है।"

"आर्थिक और सैनिक दोनों ही दृष्टियों से साम्राज्यवादी हितों की यही माँग है कि अब आगे से हिन्दुस्तान के प्राकृतिक साधन और अच्छी तरह काम में लाये जाएँ। हिन्दुस्तान का औद्योगीकरण होने पर साम्राज्य की ताकत और कितनी बढ़ जायगी, हम अभी इसका हिसाब नहीं लगा सकते।"[3]

इस नीति के परिणामस्वरूप, भविष्य में – चाहे धीमी गति से क्यों न हुई हो – क्रमशः कारखानों तथा उसमें काम करने वाले मजदूरों की संख्या में और भी

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य (तृतीय संस्करण) : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पृ० ७८–७९ से उद्धृत।
2. Dr. A. R. Desai : S. B. I. N. : Page 96-97
3. रजनी पामदत्त कृत आज का भारत : पृ० १४४ से उद्धृत।

अधिक वृद्धि हुई। सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट से पता लगता है कि उस समय ब्रिटिश भारत में जिन कारखानों पर फैक्ट्री कानून लागू होता था, उनमें रोजाना काम करनेवाले मजदूरों की संख्या १५, १५३, १९६ थी।[1] बाद में यह संख्या और भी बढ़ी। फैक्ट्री-कानून के आँकड़ों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सन् १९३९ तक कारखानों की संख्या १०,४६६ तथा उनमें काम करनेवाले मजदूरों की रोजाना की औसत संख्या १७,५१,१३७ हो गई थी।

औद्योगिक विकास का परिणाम

इस औद्योगिक विकास का प्रगतिशील परिणाम यह हुआ कि देश के आर्थिक गठन में अधिक दृढ़ता तथा एकरूपता आई, बाजार का संकुचित तथा स्थानीय रूप अधिक व्यापक होने लगा, बड़े शहरों का विकास हुआ जो कि प्रगतिशील चेतना के प्रसार के केन्द्र बने और सबसे बड़ी बात यह हुई कि आधुनिक समाज की दो बड़ी शक्तियों — पूँजीपति वर्ग और श्रमिक सर्वहारा वर्ग—का उदय हुआ। इन दोनों वर्गों के पारस्परिक विरोध स्वार्थों और संघर्ष के परिणामस्वरूप वर्ग संघर्ष की चेतना अधिक तीव्र होने लगी तथा जन-जीवन समाजवाद की ओर अधिक आकर्षित होने लगा।

मजदूरों में वर्ग चेतना

मजदूरों में वर्ग-संघर्ष की चेतना को अधिक तीव्र बनाने में उनकी अत्यधिक दीनता पूर्ण दयनीय स्थिति भी एक बहुत बड़ा कारण थी। न तो उन्हें पर्याप्त मजदूरी ही मिलती थी और न उनके रहने के लिए कोई उचित प्रबन्ध था। सन् १९२८ में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस के एक प्रतिनिधि मण्डल ने हिन्दुस्तान में मजदूरों की हालत के बारे में एक रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। उसमें उन्होंने यह बताया कि सही जाँच पड़ताल से यही पता लगता है कि हिन्दुस्तान के अधिकतर मजदूरों को रोजाना १ शिलिंग से (पौने ग्यारह आने से) ज्यादा नहीं मिलता।[2] इस प्रकार मजदूरों के रहने की जगहों के बीभत्स रूप का भी इस रिपोर्ट में बड़ा यथार्थ चित्र अंकित किया गया है।[3]

---

1. 'हिन्दुस्तान की मर्दुमशुमारी', १९३१, खण्ड १, भाग १, पृष्ठ २८५
2. आज का भारत : रजनी पामदत्त : पृष्ठ ३५० से उद्धृत।
3. हम लोग मजदूर-बस्तियों में गये और अगर वहाँ न जाते तो यह कभी यकीन होता कि ऐसी गन्दी जगहें दुनिया के पर्दे पर हैं। एक गली में कोठरियाँ बनी हैं…

ऐसी स्थिति में मजदूरों के हृदय में वर्ग-चेतना एवं विद्रोह की भावना अधिका-धिक ज्वलन्त होने लगी। लेनिन ने तो लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी के विरुद्ध म्बई के श्रमिक वर्ग ने जो हड़ताल की थी, उसके आधार पर सन् १९०८ में ही हा था कि *हिन्दुस्तान का श्रमिक वर्ग इतना तैयार हो गया है कि सचेतन रूप राजनीतिक जन-संघर्ष का संचालन कर सके।* और इसलिए, हिन्दुस्तान में एशिया बादशाही ढंग से ब्रिटिश शासन का भविष्य अंधकारमय है।[1] लेकिन श्री रजनी मदत्त ने हिन्दुस्तान की परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि *१९१४ के पहले मजदूर वर्ग का काम राजनीतिक पृष्ठभूमि में पड़ा हुआ था। ष्ट्रीय आन्दोलन के आगे चलने के बजाय यह उसके पीछे चलता था।*[2]

कुछ हो, लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि भारत के राजनीतिक क्षितिज में मिक सर्वहारा वर्ग का महत्व मंजिल-दर-मंजिल बढ़ता चला गया। सन् १९१० मजदूरों की एक प्रतिनिधि संस्था 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' का जन्म आ। सन् १९२९-३० तक मजदूरों में वर्ग-चेतना का पर्याप्त विकास हो गया था। ० जवाहरलाल नेहरू ने सन् १९२७-२८ के भारत की राजनीतिक स्थिति का श्लेषण करते हुए मेरी कहानी में लिखा है : "सात आठ साल पहले जो आल डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस कायम हुई थी, वह एक मजबूत तथा प्रतिनिधिक स्था थी। न सिर्फ उसकी तादाद और उसके संगठन में ही काफी तरक्की हुई थी, लेकि उसके विचार भी ज्यादा लड़ाकू और ज्यादा गरम हो गए थे। अक्सर हड़तालें होती थीं और मजदूरों में वर्ग-चेतना जोर पकड़ रही थी।"[3] बाद में मजदूरों द्वारा पने *जनवादी अधिकारों के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाइयों–हड़तालों आदि में और भी द्धि हुई।* सन् १९३२ से लेकर सन् १९३९ तक प्रति वर्ष हड़तालों तथा उनमें

"इन ६ फीट लम्बी और ६ फीट चौड़ी कोठरियों में चौका-चूल्हा, रहना-सहना सभी कुछ होता है। इनकी दीवालें कच्ची हैं और ऊपर खपरैले छाई है। सामने छोटा-सा अहाता है, जिसके एक कोने में संडास बना हुआ है। कोठरी से बाहर एक तंग गली है जिसमें सभी तरह की गन्दगी बहा करती है। वही : पृष्ठ ३५० से उद्धृत।

1. India and Lenin : Edited by Anand Gupta : Page 62.
२. आज का भारत, पृष्ठ ३४५
३. मेरी कहानी (हिन्दी अनुवाद : नवां सं०) : पृष्ठ २४८

भाग लेने वाले मजदूरों की निरंतर बढ़ती हुई संख्या के निम्न चार्ट [१] से यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाता है।

वर्ष	तालाबंदी और हड़तालों की संख्या	उनमें कितने मजदूर शामिल थे	उनमें मजदूरी के कितने दिन जाया हुए
१९३२	११८	१,२८,०९९	१६,२२,४३७
१९३३	१४६	१,६४,९३८	२१,६८,९६१
१९३४	१५९	२,२०,८०८	४७,७५,५५९
१९३५	१४५	१,१४,२१७	९,७३,४५७
१९३६	१५७	१,६९,०२९	२३,५८,०६२
१९३७	३७९	६,४७,८०१	८९,८२,०००
१९३८	३९९	४,०१,०७४	९१,९८,७०८
१९३९	४०६	४,०९,१८९	४९,९२,७९५

इस प्रकार हम देखते है, कि मजदूरो की संघर्ष-चेतना तीव्र होती चली गई। यह गति बाद में भी जारी रही। सन १९४५ में तो तालाबंदो और हड़तालों की संख्या ८४८ तक पहुँच गई थी और उनमें ७,८२,१९२ मजदूर शामिल थे।[२]

किसानों में वर्ग चेतना

मजदूरों की तरह किसानों में भी यह संघर्षमयी वर्ग-चेतना धीरे धीरे विकसित हुई अंग्रेजों ने भारतवर्ष में आकर यद्यपि औद्योगिक क्रान्ति का शुभारम्भ किया, भूमि के सामूहिक स्वामित्व की पद्धति को बदलकर उसे वैयक्तिक अधिकार की वस्तु बनाया तथा ग्रामों की आत्म-निर्भर, अपने में पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को एक राष्ट्रीय रूप देने का प्रयत्न किया, लेकिन यह सब स्वाभाविक अवस्था में नहीं हुआ। अंग्रेजों ने ये कार्य अपने हीनतम स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही किए थे। उन्होंने यहां की पुरानी अर्थ-व्यवस्था को तो नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, लेकिन उसके स्थान पर उसी गति से नवीन अर्थ-व्यवस्था का विकास नहीं किया। उन्होंने ध्वंसात्मक कार्य तो बड़ी तेजी से किया, लेकिन पुनर्रचनात्मक भूमिका की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।[३] इसका सबसे अधिक असर किसानों तथा ग्रामीण जनता पर पड़ा वे उजड़ने चले गए—उजड़ते चले गए, लेकिन उनके बसने की प्रक्रिया का कहीं कोई निशान नहीं दिखाई दिया।

---

१. आज का भारत : पृष्ठ ३७२ से उद्धृत

२. वही : पृष्ठ ३७२ से उद्धृत

३. कार्ल मार्क्स ने ब्रिटिश शासन की भूमिका के इस पहलू का वर्णन करते हुए लिखा है : ...... लेकिन, इंगलैंड ने तो भारतीय समाज के पूरे ढांचे को तोड़ डाला

भूमि को वैयक्तिक अधिकार की वस्तु बना देने से, ग्रामीण उद्योग-व्यवसायों के नष्ट होने से तथा औद्योगिक विकास की गति अत्यन्त धीमी होने से क्रमशः भूमि पर निर्भर रहने वाले लोगों की संख्या बढ़ती ही चली गई और किसानों तथा तथा खेतिहर मजदूरों की स्थिति दयनीयतर बनती चली गई। किस प्रकार कृषि पर निर्भर रहने वाले लोगों की संख्या का प्रतिशत बढ़ता चला गया, यह निम्न चार्ट से स्पष्ट हो जाता है :

कृषि पर निर्भर रहने वाले लोगों का प्रतिशत :[1]

सन्	प्रतिशत
१८९१	६१.१
१९०१	६१.५
१९११	७२.२
१९२१	७३.०
११३१	७५.०

इसके विपरीत, उद्योगों पर निर्भर रहने वाले लोगों का प्रतिशत क्रमशः घटा है, जो निम्न चार्ट द्वारा प्रकट होता है।

उद्योगों पर निर्भर रहने वाले लोगो का प्रतिशत [2]

सन्	प्रतिशत
११११	५.५
१६३१	४.९
१६३१	४.३
१९४९	४.२

किसानों पर गरीबी और कर्ज का बोझ बढ़ानेवाले अन्य मुख्य कारणों में अंग्रेजों द्वारा प्रचलित की गई नई लगान पद्धति और जमींदारी प्रथा भी उल्लेखनीय

है उसके पुनिर्माण के अभी तक कोई चिन्ह नहीं दिखाई दे रहे हैं। पुरानी दुनियाँ का इस तरह बिछुड़ जाना और नई दुनियाँ का कहीं पता न लगना -इससे हिन्दुस्तानियों के वर्तमान दुःखों पर एक विशेष प्रकार की उदासी की परत चढ़ जाती है और ब्रिटेन के शासन के नीचे हिन्दुस्तान अपनी सारी प्राचीन परम्पराओं और अपने संपूर्ण पुराने इतिहास से कट जाता है। ...... भारत सम्बन्धी लेख : पृष्ठ २९

1. Quoted from S.B.I.N. : Dr. A.R.Desai : Page 48-49
2. —do— ; -do- : Page 49

है । गौण कारणों में अनिवृष्टि, सूखा तथा मुकदमेबाजी के कभी न रुकने वाले चक्र का भी उल्लेख किया जा सकता है ।

गरीबी और कर्ज के इस बोझ ने क्रमशः किसानों में भी असंतोषजन्य वर्ग चेतना का प्रसार किया । यह ध्यान देने की बात है कि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में किसानों ने भी क्रान्तिकारी भूमिका अदा की है । सन् १९१५ के चम्पारन सत्याग्रह १९२० के बारडोली सत्याग्रह आदि प्रारम्भिक आन्दोलनों में ही किसानों ने जिस धीरता का प्रदर्शन किया था, वह उनकी बढ़ती हुई क्रान्ति-चेतना का ही द्योतक तत्व था ।

सन् १९३० के पश्चात् किसान-सभाओं के संगठन का कार्य भी प्रारम्भ हो गया था । बिहार में तो सन् १९२७ में ही किसान-सभा की स्थापना हो गई थी जिसने कि सन् १९३४ में अधिक व्यापक रूप ग्रहण किया । सन् १९३५ में उत्त प्रदेश में एक प्रान्तीय किसान सभा की स्थापना हुई, जिसमें कि अपने कार्यक्रम जमींदारी-प्रथा की समाप्ति की माँग को भी सम्मिलित किया था । फिर सन् १९३१ में किसानों के एक अखिल भारतीय संगठन की भी स्थापना हुई, जिसका के नाम 'अखिल भारतीय किसान-सभा रखा' गया । इसका पहला अधिवेशन दिसम्बर १९३६ में, तीसरा मई १९३८ में और चौथा अप्रैल १९३९ में हुआ । इस प्रकार सन् १९३९ तक किसानों में वर्ग-चेतना का पर्याप्त विकास हो गया था । मार्च १९४० में 'अखिल भारतीय किसान-सभा' द्वारा पारित एक प्रस्ताव से उनकी बढ़ती हुई वर्ग-चेतना का और भी अधिक स्पष्ट आभास हो जाता है । उस प्रस्ताव में कहा गया था : "सभा का विश्वास है कि किसानों का हित दुनिया में शान्ति कायम रहने में है, इसलिए किसान आजादी की लड़ाई में मजदूरों के साथ आगे बढ़कर विदेशी सरकार से लोहा लेंगे और देश के साधनों को लुटने से बचावेंगे। इस उद्देश्य से किसानों को तुरन्त अपनी आये दिन की लड़ाई शुरू करनी और बढ़ानी चाहिए । यह लड़ाई ब्रिटिश सरकार के अलावा देशी राजाओं, जमींदारों और साहूकारों के खिलाफ भी होगी जो इस देश में अंगरेजी राज्य के मुख्य स्तम्भ हैं ।"[1]

राष्ट्रीय आन्दोलन तथा ब्रिटिश शासन की भूमिका

इस आर्थिक वर्ग-चेतना के प्रसार के साथ ही साथ राष्ट्रीय-आन्दोलन भी

---

1. आज का भारत : रजनी पामदत्त : पृष्ठ २५८ से उद्धृत

अधिकाधिक गतिशील होता गया है और भारतीय जन-जीवन की क्रान्तिकारी चेतना को उद्बुद्ध करने का एक महत्तम साधन बना है। यद्यपि राष्ट्रीय आन्दोलनों की मुख्य परिवाहक संस्था कांग्रेस प्रारम्भ में नरम सुधारवादी दृष्टिकोण को ही अपनाये हुये थी, लेकिन धीरे-धीरे उसमें समाजवादी क्रान्तिकारी चेतना का भी प्रसार हुआ है। इन राष्ट्रीय आन्दोलनों की गति को कुण्ठित करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने मुख्यतः तीन नीतियों का अवलम्बन ग्रहण किया था :— (१) सामन्तीय शक्तियों से गठबन्धन, (२) साम्प्रदायिक शक्तियों को प्रोत्साहन, और (३) राष्ट्रीय आन्दोलनों का क्रूर तथा निर्मम दमन।

ब्रिटिश सरकार के लिए अपनी शासन-सत्ता को अधिक दृढ़ आधार पर स्थायी बना रखने के लिये यह आवश्यक था कि वह यहाँ के अपेक्षातर प्रतिक्रियावादी तत्वों के साथ गठबन्धन करके उन्हें अपने पक्ष में रखे। सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् से ही ब्रिटिश सरकार इस तथ्य के महत्व का अनुभव कर चुकी थी। उसने सन् १९२२ में तो देशी राजाओं के पक्ष में एक कानून भी बनाया था, जिसके कि अनुसार कोई भी व्यक्ति देशी राजाओं की आलोचना तक नहीं कर सकता था। जमींदारी प्रथा को प्रचलित करने के पीछे भी अंग्रेजों से सहयोग करने वाले एक वर्ग के निर्माण का ही उद्देश्य था। सन् १८२९ में लार्ड विलियम बैंटिंग ने स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में दलील देते हुए स्पष्ट रूप से कहा था "......हालांकि स्थाई बन्दोबस्त कई ढंग से खराब रहा है लेकिन उसमें कम से कम यह फायदा जरूर है कि उसने मालदार जमींदारों का एक ऐसा बहुत बड़ा समुदाय यकीनी तौर पर पैदा कर दिया है जिसका ब्रिटिश राज्य को जारी रखने में बहुत बड़ा स्वार्थ है और जिसका आम जनता पर पूरा काबू है।"[1]

इसी प्रकार, साम्प्रदायिक तत्वों को समय समय पर एक दूसरे के विरुद्ध उभार कर राष्ट्रीय चेतना को छिन्न-भिन्न करना भी उनकी नीति का ही एक अंग था। सन् १९०९ के 'मार्ले मिन्टो सुधार' तथा सन् १९३५ के शासन-अधिनियम द्वारा पृथक निर्वाचन प्रणाली की स्थापना उनकी इसी नीति की अभिव्यक्ति थी। सन् १९०६ में मुस्लिम वर्ग की परम प्रतिक्रियावादी संस्था 'मुस्लिम लीग' की स्थापना ब्रिटिश शासन की ही प्रेरणा और प्रोत्साहन से हुई थी। बाद में इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप सन् १९०७ में 'पंजाब हिन्दू सभा' की स्थापना हुई जो कि आगे

---

१. पं० नेहरू कृत 'हिन्दुस्तान की कहानी' (हि० अ०-१९४७) : पृष्ठ ३४७ से उद्धृत।

चलकर 'हिन्दू महासभा' के रूप में परिणत हो गई। इस प्रकार ब्रिटिश शासन भारतवर्ष में साम्प्रदायिक तनाव को उत्पन्न करने में सफल रहा। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारतवर्ष का विभाजन उनकी उक्त नीति के चरम भीषण रूप को ही प्रक करता है।

'दमन' ब्रिटिश नीति का एक अन्य आधारभूत सिद्धान्त था। सन् १९०८ राजद्रोही सभाबन्दी कानून और प्रेस-एक्ट, १९१० का क्रिमनल ला एमेंडमेंन्ट एव १९१९ का रौलट बिल आदि कानून ब्रिटिश सरकार की दमन नीति के ही प्रतीक थे सन १९०५ का अङ्गभंग सन् १९१९ का जलियावाला बाग का हत्याकाण्ड तथा स १९४२ के क्रूर एवं घृणित दमन की कहानी तो आज भी हर देश भक्त के दिल में खून अक्षरों से लिखी हुई है। सन् १९४६ के नौ सैनिक विद्रोह का दमन भी अप स्वरूप में घोर बर्बर एवं पाशविक था। वस्तुत: ब्रिटिश सरकार ने भारत के अहिंस राष्ट्रीय आन्दोलनों को दबाने के लिये जिस पाशविक एवं बर्बर शक्ति का प्रयो किया है, वह क्रूरता के इतिहास में एक अन्यतम उदाहरण है।

लेकिन यह गौरव की बात है कि ब्रिटेन की उक्त नीतियों से राष्ट्रीय आन्दो लनों की गति कभी धीमी अवश्य पड़ी, लेकिन पूर्णत: कुण्ठित कभी नहीं हुई। कई बार तो उसने भारतीय जनता की उमंग और विद्रोह–ज्वाला को और भं अधिक उदीप्त ही किया। भारतीय जनता हर प्रकार के दमन का सामना करती हुई आगे ही बढ़ती रही और अन्त में १५ अगस्त सन् १९४७ को अपने स्वाधीनता के जन्म-सिद्ध अधिकार को प्राप्त करके ही रही। कभी कभी राष्ट्रीय आन्दोलनों की अन्तर्निहित कमजोरियाँ अवश्य ही राष्ट्रीय चेतना एवं उमंग के प्रसार में बाधक सिद्ध हुईं। चौरी-चौरा काण्ड के आधार पर राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती हुई लहर को बीच में ही आकस्मिक रूप से रोक देना एक ऐसी ही अन्तर्निहित कमजोरी थी। उसके प्रभाव का विश्लेषण करते हुये पं० नेहरू ने लिखा है: "……यों आन्दोलन स्थगित करने से लोगों का विश्वास ढीला हो गया और एक प्रकार की पस्त हिम्मती आगई"[१] सन् १९३९ का 'गांधी इर्विन–समझौता' ऐसी कमजोरी का दूसरा उदाहरण है। श्री रजनी पामदत्त ने इस समझौते का विश्लेषण करते हुये निष्कर्ष रूप में लिखा है: "जिन उद्देश्यों के लिये कांग्रेस ने लड़ाई छेड़ी थी, उनमें से एक भी इस समझौते से सिद्ध न हुआ।"[२]

---

१. मेरी कहानी : पृष्ठ १२९
२. आज का भारत : पृष्ठ ३३७

इन कतिपय कमजोरियों के रहते हुये भी, यह एक तथ्य है कि हमारी राष्ट्रीय चेतना की धारा अव्याहत गति से बही है और उसने तत्युगीन समाज एवं साहित्य-चेतना को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है।

प्रथम तथा द्वितीय महासमर

प्रथम तथा द्वितीय महासमर की विशृङ्खलता से उत्पन्न आर्थिक-सामाजिक विभीषिका ने भी भारतीय जन-मानस को आन्दोलित किया है। जहाँ यह सत्य है कि इन परिस्थितियों ने भारतीय जन-जीवन में निराशागत अनिश्चितता तथा भावनागत अस्थिरता की वृद्धि की, वहाँ यह भी सत्य है कि इनसे प्रेरित हो भारतीय मानस की सुषुप्त चेतना ने अंगड़ाई ली, वह पाश्चात्य समाज और साहित्य के अधिकाधिक सम्पर्क में आई और उसकी संकीर्ण सीमित जातीय दृष्टि अधिक व्यापक और उदार होगई। साथ ही, वह खण्डित मानवीय गौरव की पुनर्स्थापना के लिए भी मचल कर खड़ी हो गई। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'प्रथम विश्व महायुद्ध' के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए ठीक ही लिखा है : "प्रथम महायुद्ध ने हमें पश्चिमी समाज के हल्के से सम्पर्क में ला रक्खा और हम साहित्य तथा अन्य साधनों से पश्चिम की अधिकाधिक जानकारी करने लगे। महायुद्ध की परिस्थितियों ने हमारी जातीयता की कट्टर भावना को बहुत कुछ शिथिल कर दिया और अब हम उस भूमिका पर आ गए जब जातीय और प्रादेशिक सीमाओं से ऊपर उठकर विश्व की प्रगति को एक निगाह देख सकें।"[१]

सांस्कृतिक चेतना

(क) पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव :—उक्त आर्थिक-राजनीतिक तत्वों के अतिरिक्त पाश्चात्य अंग्रेजी शिक्षा ने भी भारतीय दृष्टि को अधिक व्यापक और अन्तर्राष्ट्रीय रूप प्रदान करने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति में निहित समानता, स्वतन्त्रता एवं बन्धुत्व के आदर्शात्मक प्रगतिशील सिद्धान्तों को भारतीय मानस तक पहुँचाने में अंग्रेजी शिक्षा का ही योगदान रहा है। अंगरेजी शिक्षा की इस प्रगतिशील भूमिका का उल्लेख करते हुये पं० नेहरू ने लिखा है : "अंगरेजी शिक्षा से हिन्दुस्तानी क्षितिज विस्तृत हुआ, अंगरेजी साहित्य और संस्थाओं के लिये दिल में इज्जत हुई, हिन्दुस्तानी जिन्दगी के कुछ पहलुओं और उसकी कुछ रीतियों के खिलाफ विद्रोह हुआ और राजनीतिक सुधार की मांग बढ़ी।"[२]

---

१. भूमिका : आधुनिक साहित्य (प्र० सं०) : पृष्ठ २१
२. हिन्दुस्तान की कहानी : पृष्ठ ३९३

चलकर 'हिन्दू महासभा' के रूप में परिणत हो गई। इस प्रकार ब्रिटिश शासन भारतवर्ष में साम्प्रदायिक तनाव को उत्पन्न करने में सफल रहा। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारतवर्ष का विभाजन उनकी उक्त नीति के चरम भीषण रूप को ही प्रकट करता है।

'दमन' ब्रिटिश नीति का एक अन्य आधारभूत सिद्धान्त था। सन् १९०८ का राजद्रोही सभाबन्दी कानून और प्रेस-एक्ट, १९१० का क्रिमनल ला एमेंडमेन्ट एक्ट, १९१९ का रौलट बिल आदि कानून ब्रिटिश सरकार की दमन नीति के ही प्रतीक थे। सन १९०५ का अङ्गभंग सन् १९१९ का जलियावाला बाग का हत्याकाण्ड तथा १९४२ के क्रूर एवं घृणित दमन की कहानी तो आज भी हर देश भक्त के दिल में सु अक्षरों से लिखी हुई है। सन् १९४६ के नौ सैनिक विद्रोह का दमन भी अ स्वरूप में घोर बर्बर एवं पाशविक था। वस्तुतः ब्रिटिश सरकार ने भारत के अहि राष्ट्रीय आन्दोलनों को दबाने के लिये जिस पाशविक एवं बर्बर शक्ति का प्र किया है, वह क्रूरता के इतिहास में एक अन्यतम उदाहरण है।

लेकिन यह गौरव की बात है कि ब्रिटेन की उक्त नीतियों से राष्ट्रीय आन्दो लनों की गति कभी धीमी अवश्य पड़ी, लेकिन पूर्णतः कुण्ठित कभी नहीं हुई कई बार तो उसने भारतीय जनता की उमंग और विद्रोह–ज्वाला को और अधिक उद्दीप्त ही किया। भारतीय जनता हर प्रकार के दमन का सामना करती आगे ही बढ़ती रही और अन्त में १५ अगस्त सन् १९४७ को अपने स्वाधीनता जन्म-सिद्ध अधिकार को प्राप्त करके ही रही। कभी कभी राष्ट्रीय आन्दोलनों अन्तर्निहित कमजोरियाँ अवश्य ही राष्ट्रीय चेतना एवं उमंग के प्रसार में बाधक हि हुईं। चौरी-चौरा काण्ड के आधार पर राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती हुई लहर बीच में ही आकस्मिक रूप से रोक देना एक ऐसी ही अन्तर्निहित कमजोरी थी उसके प्रभाव का विश्लेषण करते हुये पं० नेहरू ने लिखा है: "......यों आन्दोलन स्थगित करने से लोगों का विश्वास ढीला हो गया और एक प्रकार की पस्त हिम्मती आ गई"[1] सन् १९३१ का 'गाँधी इर्विन-समझौता' ऐसी कमजोरी का दूसरा उदाहरण है। श्री रजनी पामदत्त ने इस समझौते का विश्लेषण करते हुये विस्तृत रूप में लिखा है: "जिन उद्देश्यों के लिये कांग्रेस ने लड़ाई छेड़ी थी, उनमें से एक भी इस समझौते से सिद्ध न हुआ।"[2]

---

१. मेरी कहानी : पृष्ट १२९
२. आज का भारत : पृष्ठ ३३७

इन कतिपय कमजोरियों के रहते हुये भी, यह एक तथ्य है कि हमारी राष्ट्रीय चेतना की धारा अव्याहत गति से बही है और उसने तद्युगीन समाज एवं साहित्य-चेतना को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है।

प्रथम तथा द्वितीय महासमर

प्रथम तथा द्वितीय महासमर की विशृङ्खलता से उत्पन्न आर्थिक-सामाजिक विभीषिका ने भी भारतीय जन-मानस को आन्दोलित किया है। जहाँ यह सत्य है कि इन परिस्थितियों ने भारतीय जन-जीवन में निराशागत अनिश्चितता तथा भावनागत अस्थिरता की वृद्धि की, वहाँ यह भी सत्य है कि इनसे प्रेरित हो भारतीय मानस की सुषुप्त चेतना ने अंगड़ाई ली, वह पाश्चात्य समाज और साहित्य के अधिकाधिक सम्पर्क में आई और उसकी संकीर्ण सीमित जातीय दृष्टि अधिक व्यापक और उदार होगई। साथ ही, वह खण्डित मानवीय गौरव की पुनर्स्थापना के लिए भी मचल कर खड़ी हो गई। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'प्रथम विश्व महायुद्ध' के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए ठीक ही लिखा है : "प्रथम महायुद्ध ने हमें पश्चिमी समाज के हल्के से सम्पर्क में ला रखा और हम साहित्य तथा अन्य साधनों से पश्चिम की अधिकाधिक जानकारी करने लगे। महायुद्ध की परिस्थितियों ने हमारी जातीयता की कट्टर भावना को बहुत कुछ शिथिल कर दिया और अब हम उस भूमिका पर आ गए जब जातीय और प्रादेशिक सीमाओं से ऊपर उठकर विश्व की प्रगति को एक निगाह देख सकें।"[1]

सांस्कृतिक चेतना

(क) पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव :—उक्त आर्थिक-राजनीतिक तत्वों के अतिरिक्त पाश्चात्य अंग्रेजी शिक्षा ने भी भारतीय दृष्टि को अधिक व्यापक और अन्तर्राष्ट्रीय रूप प्रदान करने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति में निहित समानता, स्वतन्त्रता एवं बन्धुत्व के आदर्शात्मक प्रगतिशील सिद्धान्तों को भारतीय मानस तक पहुँचाने में अंग्रेजी शिक्षा का ही योगदान रहा है। अंगरेजी शिक्षा की इस प्रगतिशील भूमिका का उल्लेख करते हुये पं० नेहरू ने लिखा है : "अंगरेजी शिक्षा से हिन्दुस्तानी क्षितिज विस्तृत हुआ, अंगरेजी साहित्य और संस्थाओं के लिये दिल में इज्जत हुई, हिन्दुस्तानी जिन्दगी के कुछ पहलुओं और उसकी कुछ रीतियों के खिलाफ विद्रोह हुआ और राजनीतिक सुधार की माँग बढ़ी।"

---

१. भूमिका : आधुनिक साहित्य (प्र० सं०) : पृष्ठ २१
२. हिन्दुस्तान की कहानी : पृष्ठ ३९३

लेकिन यह सोचना गलत होगा कि अंगरेजों ने भारत के सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने की दृष्टि से अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार किया था। अंग्रेजी शिक्षा-प्रसार की नीति के सम्बन्ध में उनका मूल लक्ष्य तो प्रशासनिक सुविधा प्राप्त करना ही था। उन्हें अपने प्रशासन के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए अंग्रेजी में कार्य कर सकने की योग्यता रखने वाले एक शिक्षित वर्ग की आवश्यकता थी। इसलिये स्कूल और कालेज खोलकर उन्होंने क्लर्कों की एक सेना तैयार करने का प्रयत्न किया। लार्ड मैकाले की धारणा थी कि हिन्दुस्तानी लोग अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर मानसिक रूप से भी अंग्रेजों के दास बन जायेंगे। वे रक्त और रंग से तो भारतीय रहेंगे, लेकिन रुचि-विचार, नैतिकता और बुद्धि की दृष्टि से पूरे अंग्रेज हो जायेंगे।[1] कुछ अंगरेजों, खास तौर पर ईसाई मिशनरियों का यह विश्वास था कि अंगरेजी शिक्षा पढ़कर भारतीय लोग सरलता से ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेंगे और अपने ही धर्म से घृणा करने लग जावेंगे। लार्ड मैकाले का भी यह विश्वास था कि "यदि मेरा शिक्षा-विधान ठीक-ठीक चलाया गया तो बंगाल में ३० साल बाद उच्चवर्ग में एक भी मूर्ति पूजक न रह जायगा।"[2]

व्यावहारिक दृष्टि से यद्यपि कहीं-कहीं अंग्रेजों के उक्त ध्येय पूर्ण होते हुए दिखाई दिए, लेकिन अधिकांश में अंग्रेजी शिक्षा का असर उनके सपनों के विपरीत हुआ। अंग्रेजी शिक्षा से हानि की अपेक्षा लाभ ही अधिक हुए। श्री रामधारी सिंह दिनकर का तो कहना है : "वस्तुतः वर्तमान भारत का जन्म ही अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की गोद में हुआ।[3]" इसमें संदेह नहीं कि अंगरेजी शिक्षा के द्वारा पाश्चात्य ज्ञान और विज्ञान का अटूट भण्डार खुल गया। अंगरेजी भाषा के द्वारा भारतीय लोग स्पेन्सर, मिल, हेगेल, काण्ट, डार्विन, शेक्सपियर, शैले, कीट्स बर्ट्रेन्ड रसल एच. जी. वेल्स, बर्नार्ड शा आदि अनेक महान प्रतिभाओं के वैचारिक सम्पर्क में आये

---

1. "We must at present do our best to form a class who may be interpretes between us and the millions whom, we govern, a class of persons Indian in blood and colour but English in tastes opinions, morales and intellect."
   Quoted from-'Modern Indian culture' by D. P. Mukherji : Page 109
2. डा० केसरीनारायण शुक्ल कृत आ० का० धा० का सां० स्रोत, पृष्ठ २१ में उद्धृत
3. संस्कृति के चार अध्याय (द्वितीय संस्करण) : पृष्ठ ४२१

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मार्क्स, एंगिल्स, लेनिन आदि समाजवादी चिन्तकों के विचारों से भी भारतीय जनता अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही परिचित हुई। आधुनिक विज्ञान के प्रसार में भी अंग्रेजी भाषा का अभूतपूर्व योगदान है। अतएव स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टि को अधिक प्रगतिशील और रूढ़ि-मुक्त बनाने में और अन्ततः राष्ट्रीय एकता को पुष्ट करने में भी अंग्रेजी भाषा की उल्लेखनीय भूमिका रही है। दिनकर जी ने तो अंग्रेजी को राष्ट्रीय एकता का सबसे बड़ा आधार बताते हुए लिखा है–

"अंग्रेजी के सार्वदेशिक प्रचलन के कारण देश की एकता बहुत पुष्ट हो गई। आज भी हमारी एकता का सबसे बड़ा आधार अंग्रेजी भाषा ही है जिसमें हमारी सरकार और संसद के अधिकतर काम चल रहे हैं।[1]"

(ख) सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन :—पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के इस सम्पर्क के कारण भारतवर्ष में अनेक सामाजिक धार्मिक सुधार-आन्दोलनों में ब्रह्म-समाज (सन १८२८), प्रार्थना-समाज (सन १८६७), आर्य-समाज (सन १८७५), रामकृष्ण मिशन और थियोसाफिकल सोसायटी (सन् १८७६) के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं। इन समस्त सुधार-संस्थाओं ने मुख्यतः हिन्दू समाज और धर्म में व्याप्त रूढ़ियों एवं कुरीतियों के विरुद्ध एक तीव्र आन्दोलन-सा खड़ा कर दिया।

(१) ब्रह्म-समाज :–ब्रह्म-समाज के प्रवर्तक राजा राममोहनराय थे। उन्होंने मुख्यतः सती-प्रथा को बन्द कराने विधवा-विवाह को प्रचलित कराने, और पाश्चात्य शिक्षा को भारतीय जन–जीवन में व्याप्त कराने के लिए विशेष प्रयत्न किया। इस संस्था ने व्यक्ति–स्वातन्त्र्य, राष्ट्रीय एकता और प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों को फैलाने के लिए भी बड़ा काम किया है।

(२) प्रार्थना-समाज :–प्रार्थना-समाज के मुख्य उद्देश्य चार थे–१. जाति प्रथा का विरोध, २. विधवा–विवाह का समर्थन, ३. स्त्री-शिक्षा का प्रचार और ४. बाल–विवाह का अवरोध।[2]

(३) आर्य-समाज :–आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा की गयी थी। यद्यपि स्वामी दयानन्द ने वेदों को ही समस्त ज्ञान, सभ्यता और संस्कृति का एक मात्र कोष मानकर ज्ञान को प्रगतिशील भूमिका का निषेध किया था और इस प्रकार एक प्रतिक्रियावादी दृष्टि को जन्म दिया था, लेकिन साथ

---

१. संस्कृति के चार अध्याय (द्वितीय संस्करण) : पृष्ठ ४२१
२. देखिये - श्री दिनकर कृत संस्कृति के चार अध्याय : पृष्ठ ४५७

ही वर्ण-व्यवस्था के आधार के रूप में जन्म की अपेक्षा गुण और कर्म को मान्यता प्रदान कर पुरुष और नारी के समान अधिकारों के सिद्धान्त का प्रचार कर, विधवा विवाह का समर्थन कर और बाल-विवाह, धार्मिक अन्ध-विश्वास तथा नाना प्रकार के आडम्बरमय विधि-विधानों का दृढ़ता के साथ विरोध कर उन्होंने प्रगतिशील चेतना का भी प्रसार किया था। द्विवेदी युग की काव्य-चेतना पर आर्य-समाज का अत्यधिक प्रभाव था। द्विवेदी युग की आदर्शमूलक सुधारवादी मान्यताएँ स्वामी दयानन्द के आर्य-समाज की ही ऋणी है। इस सम्बन्ध में डा॰ सुधीन्द्र के इस मत को प्रामाणिक माना जा सकता है कि "आलोच्यकाल के अधिकांश की कविता और अन्य साहित्यांगों पर इस चेतना का पूरा प्रभाव है। आलोच्यकाल में सामाजिक सुधारवाद की जो कविताएँ प्रस्तुत हुईं उनमें पूर्णतया 'आर्य-समाज' का ही स्वर और उसकी गूँज है।"[१]

(४) रामकृष्ण मिशन:– रामकृष्ण मिशन के मुख्य प्रचारक स्वामी विवेकानन्द ने भारत की प्राचीन संस्कृति के विशुद्ध रूप को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए तूफानी प्रयत्न किया। उन्होंने जहाँ एक ओर पाखण्डो पुरोहितों, जाति-भेद, छुआछूत, धार्मिक अन्ध-विश्वास और व्यर्थ के विधि-विधानों का घोर विरोध कर धार्मिक सामाजिक जीवन में प्रगतिशील तत्वों की स्थापना की, वहीं दूसरी ओर भारत के दरिद्रनारायण को अपनी पूर्ण सहानुभूति अर्पित कर युवकों को आर्थिक वैषम्य का उन्मूलन करने के लिए भी प्रेरित किया। व्यापक मानवतावादी भावना के प्रसार में भी स्वामी विवेकानन्द का महत्वपूर्ण योगदान रहा। उन्होंने दीन दुःखी मनुष्यों में ही भगवान का दर्शन करने की प्रेरणा दी। एक स्थान पर तो उन्होंने बड़ी ओजपूर्ण भाषा में लिखा है: "मैं ऐसे भगवान या धर्म में विश्वास नहीं करता जो किसी विधवा के आंसू नहीं पोंछ सकता या किसी अनाथ के मुँह में रोटी नहीं दे सकता। किसी धर्म के सिद्धान्त कितने ही उच्च हों या उसका दर्शन कितना ही सूक्ष्म हो तो भी जब तक वह ग्रन्थों तथा विश्वासों तक सीमित है, मैं उसे धर्म नहीं कहता। भगवान को खोजने के लिए आपको कहाँ जाना चाहिए? क्या सभी दरिद्र, दुःखी, दुर्बल व्यक्ति भगवान नहीं हैं? पहले उनकी पूजा क्यों न की जाय?"[२]

---

१. हिन्दी कविता में युगांतर (दूसरा संस्करण) : पृष्ठ ८
२. विवेकानन्द के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में विचार (प्रकाशक: सामुदायिक विकास, पंचायती राज तथा सहकारिता मंत्रालय : (मार्च १९६३) : पृष्ठ १

(५) थियोसाफिकल सोसायटी :— थियोसाफिकल सोसायटी के प्रवर्तकों में मैडम ब्लैवेट्स्की तथा हेनरी स्टील स्काट का नाम प्रसिद्ध है । हिन्दुस्तान में इस सोसायटी के उद्देश्यों तथा कार्यों को आगे बढ़ाने में मिसेस एनी बेसेण्ट का विशेष योगदान रहा है। इस सोसायटी ने भी हिन्दू-समाज में फैले हुए जाति-भेद तथा रूढ़िवाद के विरुद्ध आवाज उठायी और मनुष्य मनुष्य में भ्रातृत्व-भावना के विकास पर अधिक जोर दिया ।

(६) मुस्लिम सुधार-आन्दोलन :- मुस्लिम समाज में सुधार की आवाज उठाने वाले आन्दोलनों में 'अहमदिया' तथा 'अलीगढ़' आन्दोलनों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है । अहमदिया आन्दोलन ने मुख्यतः मुसलमानों के हृदय से जेहाद तथा काफिरों के विरुद्ध घृणा की भावना को दूर करने का प्रयत्न किया । अलीगढ़ आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य मुसलमानों में पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता का प्रसार था। सर सैयद अहमद और सर मोहम्मद इकबाल के प्रयत्न भी इस दिशा में उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। सन् १८७५ में, अलीगढ मे मुस्लिम कालेज की स्थापना सर सैयद अहमद खान के प्रयत्नों से ही हुई थी। इसी कालेज ने बाद में सन् १८६० में अलीगढ विश्व-विद्यालय का एक अधिक विकसित रूप ग्रहण कर लिया । सर मोहम्मद इकबाल एक महान मानवतावादी कवि थे। उन्होंने अपनी कविताओं के द्वारा राष्ट्रीय एकता की ज्योति को अधिक उज्ज्वल तथा हिन्दू और मुसलमानों के हृदय में व्याप्त साम्प्रदायिक वैमनस्य को मिटाने का बड़ा सजीव प्रयत्न किया था । उनकी कुछ कविताओं में तो समाजवादी निष्ठा भी कुछ अंशों तक मुखरित हुई हैं। लेकिन अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने प्रजा-तान्त्रिक तथा मानवतावादी मूल्यों का विरोध कर एक प्रतिक्रियावादी भूमिका अदा की थी ।

(७) सुधार-आन्दोलनों का प्रभाव :– यद्यपि उक्त सुधार-आन्दोलनों की मूल चेतना धार्मिक थी, उनमें जातीय पुनरुत्थान की भावना ही विशेष थी और समाजवादी वर्ग-चेतना की ओर तो उन्होंने इंगित भी नहीं किया था, लेकिन उन्होंने एक व्यापक मानवतावादी चेतना का प्रसार अवश्य ही किया है । प्रायः उक्त सभी संस्थाओं ने जातीय रूढ़ियों का तिरस्कार किया, पाश्चात्य शिक्षा के प्रति लोकमत जागृत किया, नारी के अधिकारों का पोषण किया, एक नवीन राष्ट्रीय चेतना का उद्घोष किया और मानव-मानव की पारस्परिक एकता की भावना को बल पहुँचाया । इस प्रकार निश्चित रूप से उन्होंने समाज के प्रगतिशील कदमों को कुछ आगे ही बढ़ाया है । श्री रामधारी-सिंह दिनकर ने हिन्दू समाज के सुधार-आन्दोलनों के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए ठीक ही लिखा है :-" इस नवोत्थान से भारत का कायाकल्प हुआ है, धर्म

की रूढ़ियाँ धूलवत् झड़ गयी हैं, मनुष्य की उदारता में वृद्धि हुई है और हिन्दू धर्म संशोधित होकर इस रूप में खड़ा हुआ है कि जिसे हम विश्व धर्म की भूमिका कह सकते हैं।"[१]

(ग) कवीन्द्र रवीन्द्र और महात्मा गांधी की भूमिका :– भारत की संस्कृति और राजनीति में नवीन क्रान्तिकारी चेतना को उद्‌बुद्ध करने में कवीन्द्र रवीन्द्र तथा महात्मा गांधी की भूमिका को भी भुलाया नहीं जा सकता। वस्तुतः आधुनिक भारत को जन्म देने में इन दोनों महापुरुषों का अन्तिम योगदान है। एक ने यदि कला और सौन्दर्य के माध्यम से मानवीय चेतना के उदात्त रूप को संस्कृति प्रदान की तो दूसरे ने राजनीति और कर्म के माध्यम से युग-जीवन की प्रगति-चेतना को आकार प्रदान किया।

कवीन्द्र रवीन्द्र की भूमिका

यद्यपि श्री टैगोर मूलतः एक रोमैन्टिक कवि थे, लेकिन उन्होंने धरती की पुकार को भी कभी अनसुना नहीं किया। यों हुमायूं कबीर की तो धारणा है कि "धरती को इतने प्राण-पण से प्यार करने वाला कोई दूसरा कवि शायद कभी नहीं हुआ।"[२] देश भक्ति की चेतना से उनका मानस सदैव आन्दोलित रहा करता था, और समय-समय पर उनका देशाभिमान शत सहस्र धाराओं में फूटकर बह निकलता था। सन् १९१९ में, जलियावाला बाग के हत्याकाण्ड के विरोधस्वरूप 'नाइट हुड' (सर) की उपाधि का त्याग, उनकी देश-भक्ति की ज्वलन्त चेतना-शिखा की ही एक किरण को प्रकट करता है। उनकी यही चेतना-शिखा उनके साहित्य में भी विविध रूप धारण कर अभिव्यक्त हुई। उनकी अनेक कविताओं में विश्व-मानवतावाद तथा मानव की अपराजेय महानता के प्रति अगाध विश्वास, धरती तथा जीवन के प्रति अनन्य अनुराग, आडम्बर एवं पाखण्ड का खण्डन और गरीब किसान तथा मजदूरों के प्रति अपार सहानुभूति के स्वर बार-बार मुखरित हुए हैं।[३] देखिए 'ए बार फिराओ मोरे' शीर्षक कविता में धरती के अभावों को देखकर उनकी मर्म-चेतना किस प्रकार अत्यन्त आतुर होकर स्वर्ग से विश्वास की तस्वीर ले आने के लिए उन्मुख हो उठी है।

---

१. संस्कृति के चार अध्याय : पृष्ठ ४४६
२. भूमिका : 'एकोत्तर शती' (१९५८) : पृष्ठ ९
३. विशेष रूप से देखिए, एकोत्तर शती में संकलित – 'वसुन्धरा स्वर्ग हइते विदाय' 'ए बार फिराओ मोरे' 'मुक्ति' 'भारत तीर्थ' 'आत्मत्राण' 'पूजा मन्दिर' 'ताज महल' 'दुविनीत धूलि' – आदि कविताएँ।

—कवि, तबे उठे एसो—यदि थाके प्राण
तबे ताइ सहो साथे, तबे ताइ करो आजि दान।
बड़ो दुःख, बड़ो व्यथा—सम्मुखेते कष्टेर संसार
बड़ोइ दरिद्र, शून्य, बड़ो क्षुद्र, बद्ध अन्धकार।
अन्न चाइ, प्राण चाइ, आलो चाई, चाइ मुक्त वायु
चाइ बल, चाइ स्वास्थ्य, आनन्द उज्ज्वल परमायु
साहस विस्तृत वक्ष-पट। ए दैन्य मा झारे कवि,
एक बार निये एसो स्वर्ग हते विश्वासेर छवि॥[1]

अर्थात्—"कवि, तब उठ आओ, यदि तुममे प्राण है तो उसे ही साथ लो, उसका ही आज दान करो। बड़ा दुःख है, बड़ी व्यथा है, सामने दुखी संसार है, यहाँ तो बड़ी ही गरीबी, शून्यता, तुच्छता तथा अंधकार है। अतएव अन्न चाहिए, प्राण चाहिए, आलोक चाहिए, उन्मुक्त वायु चाहिए, बल चाहिए आनन्द से उज्ज्वल आयु चाहिए और चाहिए साहस से फैली हुई छाती। हे कवि, इस दैन्य के बीच एक बार स्वर्ग से विश्वास की तसवीर तो ले आओ।"

कहना नहीं होगा कि रवीन्द्रनाथ के काव्य मे भारत की आधुनिक आत्मा का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व हुआ है। श्री सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में यह कहना वास्तविक तथ्य को ही प्रकट करना मात्र है कि—"रवीन्द्रनाथ इस युग के भारतीय जागरण के कवि रहे हैं। और रूप-कला आदि सारा है, रवीन्द्र साहित्य उसका प्रतिनिधित्व करता है। निश्चय ही आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता भी अपनी भाव और शिल्प-सम्पदा के अनेक रूपों के लिए रवीन्द्र-साहित्य की भी ऋणी है। यह स्मरणीय है कि प्रगतिशील लेखक-संघ के दूसरे अधिवेशन के मनोनीत सभापति श्री रवीन्द्र नाथ टैगोर ही थे और इस संघ को उनकी हार्दिक शुभकामनाएं भी प्राप्त हुई थीं।

महात्मा गांधी की भूमिका

महात्मा गांधी तो आधुनिक भारतीय जीवन की मूल प्राण शक्ति ही रहे हैं। उनकी वास्तविक महानता इस तथ्य मे निहित है कि उन्होंने भारतीय जीवन के प्रायः हर पहलू को छुआ और उसकी सोयी हुई विभिन्न रगों में एक नवीन चेतना का संचार कर दिया। सामाजिक जीवन के क्षेत्र मे उन्होंने साम्प्रदायिक एकता अस्पृश्यता-निवारण जाति-पाँति के भेद-भाव का उन्मूलन नारी और पुरुष के समानाधिकारों का समर्थन तथा विभिन्न धर्मों में निहित एक मानवीय नैतिक चेतना

---

[1] एकोत्तर शती : पृष्ठ १०१

के उद्घाटन का महत्वपूर्ण कार्य किया। राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने जनता के विभिन्न वर्गों को साम्राज्यवाद के विरोध के लिए एक झण्डे के नीचे एकत्रित किया तथा उनकी साम्राज्य-विरोधी क्रान्ति-चेतना को सत्याग्रह-आन्दोलन के रूप में एक सक्रिय सामूहिक स्वरूप प्रदान किया। शान्ति-चेतना के प्रसार के क्षेत्र में तो महात्मा गाँधी की अद्वितीय भूमिका रही है। यद्यपि कुछ समाजवादी विशेष कर कम्युनिस्ट विचारकों ने महात्मा गाँधी को मुख्यतः पूँजीपति वर्ग का ही प्रतिनिधि माना है और उनके सामाजिक-आर्थिक दृष्टिकोण को एक सीमा तक प्रतिक्रियावादी सिद्ध करने की कोशिश की है, लेकिन उनकी सामाजिक सुधारमूलक तथा साम्राज्यवाद-विरोधी शान्ति-कामी प्रगतिशील भूमिका की महत्ता भी उन्होंने स्वीकार की है।[1]

महात्मा गाँधी की इस प्रगतिशील भूमिका ने आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता को भी एक बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है। पन्तजी ने तो अपने 'युगवाणी-ग्राम्या' काल में गाँधीवाद को मनुष्यत्व का तत्व-सिखाने वाला माना है।[2] और उनकी शान्ति-चेतना को तो प्रायः सभी प्रगतिशील कवियों ने हृदयंगम किया है।

महात्मागाँधी ने कला के क्षेत्र को भी अपनी आदर्शवादी दृष्टि से छुआ था। वे साहित्य और कला को करोड़ों आदमियों की जिन्दगी के सन्दर्भ में ही महत्व देते थे। उनका स्पष्ट मत था :-"………करोड़ों भूखे आदमियों को जो चीज काम की हो सकती है, वही मेरे दिमाग में खूबसूरत चीज है। आज हम सब से पहले जिन्दगी देने वाली चीजों को महत्व दें, और उसके बाद जिन्दगी के सारे अलकार और उसकी सारी परिष्कृतियाँ अपने आप आ जावेंगी। …… मैं उस कला और साहित्य को चाहता हूँ जो करोड़ों आदमियों के लिये काम का हो।[3] प्रगतिशील कविता को

१. उक्त दृष्टिकोण के विस्तृत विवेचन को देखने के लिए श्री ई. एम. एस. नम्बूद्रीपाद की 'गाँधी जी और उनका वाद' (पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि०, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित-हिन्दी संस्करण : दिस० १९६०) शीर्षक पुस्तक देखी जा सकती है।

२. मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद'
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य-योजना है अविवाद।
-युगवाणी (प्र० सं) : पृष्ठ ४१

३. पं० नेहरू कृत "हिन्दुस्तान की कहानी" : पृष्ठ ४५२ से उद्धृत

जीवन के अधिक निकट लाने में मार्क्सवादी प्रभाव के साथ ही महात्मा गाँधी के उक्त दृष्टिकोण ने भी प्रेरणा का काम किया है ।

समाजवादी चेतना का प्रसार

उक्त परिस्थितियों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जन-मानस में राष्ट्रीय तथा समाजवादी चेतना को प्रसारित करनेवाले तत्व भारत की मिट्टी में पैदा हो गये थे । भारतीय नवयुवक के हृदय में गांधी जी द्वारा बताये हुए मार्ग के साथ समाजवादी-भावना की हिलोरें भी उठने लगीं । वह सत्याग्रह के साथ ही क्रान्ति के बारे में तथा राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के साथ ही आर्थिक-सामाजिक विषमताओं से मुक्ति पाने के सम्बन्ध में भी सोचने लगा ।

सन् १९२१ में ही, जबकि हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी ने 'अहमदाबाद कांग्रेस के नाम ऐलान' प्रसारित किया था, उक्त तथ्य के स्पष्ट संकेत मिल जाते हैं । उस ऐलान में यह घोषित किया गया था कि-"अगर कांग्रेस उस क्रान्ति की अगुवाई करना चाहती है, जिससे समूचा हिन्दुस्तान हिल रहा है, तो उसे क्षणिक उत्साह और जुलूसों के भरोसे ही न रहना चाहिए । उसे मजदूर-संघों की मांगों को अपनाना चाहिए । किसान-सभाओं के कार्यक्रम को उसे अपना कार्यक्रम बनाना चाहिए । तब वह समय बहुत जल्दी आ जायगा जब कांग्रेस किसी भी अड़चन के सामने नहीं रुकेगी । उसके पीछे तमाम जनता की अटूट ताकत होगी जो सचेत होकर अपने हितों के लिए लड़ेगी ।"[१]

सन् १९२४ में श्री श्रीपाद अमृत डांगे के सम्पादन में बम्बई से "सोशलिस्ट" नामक पत्रिका निकली, जिसने कि सामाजवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार में काफी योग प्रदान किया । सन् १९१७ की रूस की क्रान्ति ने भी भारतीय जनता को आर्थिक-सामाजिक क्रान्ति के लिये एक बड़ी सीमा तक प्रेरित किया । सन् १९१७ और सन् १९३६ के बीच रूस ने आर्थिक सामाजिक स्वतन्त्रता तथा अन्तर्राष्ट्रीय भाई चारे के क्षेत्र में लम्बे कदम बढ़ाये थे । वह थोड़े ही समय के अन्दर एक पिछड़े हुये खेतिहर देश से एक महान औद्योगिक राष्ट्र के रूप में परिवर्तित हो गया था । सन् १९३६ में तो अपने नये विधान के द्वारा सोवियत सरकार ने स्वतन्त्रता के अधिकारों को भी सुरक्षित कर दिया ।[२] अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में भी उसने समानता, . . .

१. श्री रजनी पामदत्त कृत "आज का भारत" : पृष्ठ ३१५ से उद्धृत

२. इस दृष्टि से रूस के संविधान की धारा १२४, दृष्टव्य है :

"In order to ensure to citizens freedom of conscience, the church in the U.S.S.R. is separted from the state, and the school from the church. Freedom of religions worship and freedom of anti religions propoganda is recognized for all citizens."

—Constitution of the union of S.S.R. (1952 Eng. Ed.). Page 97

एवं बन्धुत्व के सिद्धान्तों को ठोस व्यावहारिक रूप दिया तथा चीन, बुखारा, फारस, तुर्की, अफगानिस्तान आदि पड़ोसी देशों के साथ में भी-सम्बन्ध स्थापित किए, साथ ही, उसने फासिस्ट एवं साम्राज्यवादी शक्तियों का भी प्रबल विरोध किया। अतएव गुलाम एवं पराजित भारतवर्ष के हृदय का रूस की ओर आकर्षित होना तथा रूस के समान ही यहाँ भी आर्थिक-सामाजिक ढांचा बनाने की आकांक्षा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या ने तत्युगीन भारत की इस मनोवैज्ञानिक स्थिति का बड़ा यथार्थ चित्र अंकित किया है : "आम जनता के उत्थान की दिशा में इस विशालकाय रूस ने जो लम्बे लम्बे कदम बढ़ाये थे और जो नई समाज-व्यवस्था बनाई थी और जिससे रूस के सभी भाग समान रूप में प्रभावित थे, उसको देख कर, रूस और यूक्रेन से प्रेरणा लेकर यहाँ के लोगों में वैसा ही आन्दोलन करने, वैसा ही ढांचा बनाने और वैसा ही सार्वजनिक स्वतन्त्रता स्थापित करने की तीव्र उत्कंठा थी। ......हिन्दुस्तान विदेशी शासन से कुचला जा रहा था और वह शासन किसी राष्ट्रीय, निरंकुश तानाशाह के शासन से बेहतर नहीं था। रूस को देख कर यहाँ लोगों की कल्पनाएँ जगती, आशाएँ और आकांक्षाएँ उभरती और अपने पड़ोसी की एकांगी किन्तु आकर्षक कहानियों को सुनकर भावनाएँ सजीव होती।"[२]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्तर्गत भी यह समाजवादी चेतना धीरे-धीरे प्रसार पाती रही। प्रारंभ में तो कांग्रेस का रूप पूर्णतया सुधारवादी रहा, लेकिन क्रमशः वह उग्र प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर होती गई और स्वाधीनता प्राप्ति करने के लक्ष्य के साथ ही साथ आर्थिक-सामाजिक ढाँचे को परिवर्तित करने की विचार-धारा भी जोर पकड़ती गई। सन् १९२६ में कांग्रेस महासमिति ने जो कौंसिल सम्बन्धी कार्यक्रम बनाया था, उसमें राष्ट्रीय संपत्ति की उचित वृद्धि के लिए, देश के आर्थिक, कृषि-सम्बन्धी तथा उद्योग और व्यापार सम्बन्धी हितों की उन्नति के लिए प्रस्ताव पेश करने का स्पष्ट उल्लेख किया गया था। इसी प्रकार सन् १९२९ में बम्बई महासमिति की बैठक में 'वर्तमान आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने' की आवश्यकता का तीव्रता से अनुभव किया गया था। सन् १९३१ की कराची कांग्रेस में श्रमिक वर्ग तथा आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम पर जो प्रस्ताव पास किए गए थे, वे भी अत्यन्त क्रांतिकारी थे। उस समय कांग्रेस

---

२. कांग्रेस का इतिहास (दूसरा खण्ड : प्रथम बार) : डा० पट्टाभि सीतारामय्या

ने 'राजनीतिक स्वतन्त्रता' के साथ-साथ 'आर्थिक स्वतन्त्रता' के महत्व को भं समझ लिया था और वह उस पर जोर देने लग गई थी। उस प्रस्ताव में यह स्पष्ट रूप से कहा गया था......"इस काग्रेस की राय है कि कांग्रेस जिस प्रकार के स्वराज्य की कल्पना करती है, उसका जनता के लिए क्या अर्थ होगा–इसे वह ठीक ठीक जान जाय, इसलिए यह आवश्यक है कि कांग्रेस अपनी स्थिति इस प्रका से प्रकट करदे जिसे वह आसानी से समझ सके। साधारण जनता की तबाही क अन्त करने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता में लाखों भूखे मरनेवालों को वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता भी निहित हो।"[१]

सन १९३४ मे कांग्रेस के अन्तर्गत ही समाजवादी पार्टी की स्थापना हुई जिसने कि समाजवाद को स्पष्ट रूप से अपना लक्ष्य घोषित किया। इस पार्टी क पं० नेहरू का भी आशीर्वाद प्राप्त था। २० दिसम्बर १९३६ की समाजवादी-सम्मेलन के लिए अपनी शुभकामना तथा सन्देश भेजते हुए उन्होंने लिखा था" ... जैसा कि आप लोगों को मालूम है, मुझे हर समस्या के प्रति समाजवादी दृष्टिकोण में बड़ी भारी दिलचस्पी है। इस पद्धति के पीछे जो सिद्धान्त है, उसे हमें समझना चाहिए। इससे हमारी दिमागी उलझन दूर होती है और हमारे काम की कु उपयोगिता हो जाती है।"[२]

सन् १९३६ में पं० नेहरू ने लखनऊ कांग्रेस के सभापति के पद से अत्यन्त क्रान्तिकारी भाषण दिया, जिसमें साम्राज्य-विरोधी ताकतों का तथा मध्यम वर्ग के लोगों को साथ लेकर किसान मजदूरों का एक सयुक्त मोर्चा बनाने के सम्बन्ध में विशेष जोर दिया गया था। अपने इस भाषण में उन्होंने अपनी यह आन्तरिक इच्छ प्रकट की थी : "मैं तो चाहता हूँ कि कांग्रेस एक समाजवादी संगठन बन जा और दुनियाँ की दूसरी शक्तियों के साथ, जो एक नई सभ्यता को लाने के लि प्रयत्नशील हैं, सहयोग करें।"[३]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सन् १९३७ के चुनाव-घोषणा-पत्र में भ सामाजिक आर्थिक कार्यक्रम का विशेष उल्लेख किया गया था। इस कार्यक्रम क कुछ महत्वपूर्ण बातें इस प्रकार थीं :

(क) कानून द्वारा आँकड़े इकट्ठे करने की सुविधा हो,

---

१. कांग्रेस का इतिहास : खण्ड १ : पृष्ठ ४४९

२. वही : खण्ड : पृष्ठ १६

३. आज का भारत : पृष्ठ ५६५ से उद्धृत

(ख) अनियंत्रित कारबारों में भी फैक्ट्री-एक्ट लागू किया जाय,
(ग) मौसमी फैक्ट्रियों में फैक्ट्री-एक्ट ज्यादा सख्ती से लागू किया जाय,
(घ) जहां मातृत्व-कालीन सुविधा की व्यवस्था न हो, वहां कम से कम आठ सप्ताह की छुट्टी का प्रबन्ध किया जावे,
(ङ) संगठित उद्योगों में वेतन की पर्याप्तता के सवाल की जाँच की जावे,
(च) श्रम-विनिमय संस्था बने,
(छ) बीमारी में बिना वेतन कटे हुए छुट्टी मिले,
(ज) न्यूनतम वेतन निश्चित करने की व्यवस्था हो,
(झ) सरकार और मालिक उन ट्रेड-यूनियनों को मानें जो शांतिपूर्ण और उचित उपायों को काम में लाने की नीति पर आचरण करती हों,
(ञ) श्रमिकों के रहने का इन्तजाम हो,
(ट) कर्ज का बोझ हटाया जावे,
(ठ) काम मिलने का बीमा हो,
(ड) उद्योगों को श्रम के सम्बन्ध में सरकारी सहायता की शर्तें निश्चित हों।[1]

इसके अतिरिक्त श्री एम० एन० राय की पार्टी ने भी समाजवादी चेतना के प्रसार में पर्याप्त योग प्रदान किया। 'कानपुर बोल्शेविक षड्यंत्र केस' (१९२३) तथा 'मेरठ षड्यंत्र केस' (सन १९२६ ई०) के द्वारा भी लोगों का ध्यान समाजवाद की ओर आकृष्ट हुआ। यह ध्यान देने की बात है कि मेरठ षड्यंत्र केस के अभियुक्तों पर मुख्य आरोप साम्यवादी प्रचार का ही लगाया गया था। इन अभियुक्तों में श्री श्रीपाद अमृत डांगे, एस० एस० मिरजकर, पूरनचन्द्र जोशी, सोहनसिंह जैसे साम्यवादी भी सम्मिलित थे। इन अभियुक्तों ने उस समय बड़ी ही निष्ठा के साथ कम्युनिजम के ध्येय की वकालत की थी। अतएव अनेक नवयुवकों का ध्यान उस समय इस विचार-धारा की ओर आकृष्ट हुआ था।

इस समाजवादी चेतना ने कम से कम अपने आर्थिक सामाजिक कार्यक्रम के द्वारा तो विरोधी दार्शनिक मान्यतायें रखनेवाले आदर्शवादी चिन्तकों को भी आकर्षित किया है। उदाहरण के लिए डा० राधाकृष्णन जैसे आदर्शवादी मूल्यों में विश्वास रखने वाले दार्शनिक ने भी 'सोवियत रूस' को 'एक महान परीक्षण' तथा उस भूभाग में हुई क्रान्ति को—'अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रांतियों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व

---

[1] कांग्रेस का इतिहास (दूसरा खण्ड) : पृष्ठ ६६-६७

पूर्ण माना है। उन्होंने यद्यपि मार्क्सवाद के दार्शनिक प्रतिमानों को अस्वीकृत किया है लेकिन उसके सामाजिक सन्देश के प्रति एक सीमा तक अपनी सहमति प्रकट की है।[१]

इस प्रकार यह समाजवादी चेतना निरन्तर प्रसारित तथा विकसित होती चली गई है। आज तो, देश की सबसे बड़ी संस्था कांग्रेस ने 'समाजवादी समाज रचना' की स्थापना को ही अपना मुख्य उद्देश्य घोषित कर दिया है। अन्य पार्टियाँ, जो कि समाजवादी उद्देश्यों तथा मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील हैं, उनमें साम्यवादी पार्टी, प्रजा समाजवादी पार्टी तथा समाजवादी पार्टी (लोहिया-दल) मुख्य हैं।

मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी की भूमिका

यहीं पर हमें इस तथ्य को भी समझ लेना है कि हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय तथा समाजवादी चेतना के प्रसार में मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों का बड़ा हाथ रहा है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व तो मुख्यतः इसी वर्ग ने किया है। मजदूर तथा किसान-सभाओं को संगठित करने में भी इसी वर्ग का प्रमुख हाथ रहा है। इसी वर्ग ने शिक्षित होकर सर्वप्रथम पाश्चात्य प्रजातांत्रिक एवं समाजवादी चेतना को ग्रहण किया और भारतीय जीवन को उस दिशा की ओर अग्रसर करने के लिए प्रयत्न किया। यद्यपि कभी-कभी अपनी वर्ग-स्थिति के कारण इस वर्ग ने अस्थिरता

---

१. "......उसके कठोर से कठोर आलोचक भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि सोवियत रूस एक महान परीक्षण है, जो अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रान्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। ......दो दशाब्दियों में वहाँ से जमींदार और पूँजीपति लुप्त होगए हैं और व्यक्तिगत नवारम्भ (उद्यम) केवल किसानों और कारीगरों के छोटे पैमाने के कार्यों तक ही सीमित रह गया है। ......

"......साम्यवाद विद्यमान बुराइयों को चुनौती देता है, कार्रवाई के लिए एक स्पष्ट और सुनिश्चित कार्यक्रम प्रस्तुत करता है और आर्थिक तथा सामाजिक दशाओं का एक वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का दावा करता है। गरीबों और पीड़ितों के लिए इसकी चिन्ता सम्पत्ति और उन्नति के अवसरों के और अधिक उचित वितरण के लिए इसकी माँग, और जातीय समानता पर इसके आग्रह के द्वारा यह हमें एक ऐसा सामाजिक सन्देश देता है, जिससे सब आदर्शवादी सहमत हैं।"—(धर्म और समाज हि० सं०) : पृ० २४)

का परिचय दिया है, लेकिन भारत की विशेष परिस्थितियों में उनकी क्रांतिकारी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। डा० ए० आर० देसाई ने शायद इसीलिए इन प्रगतिशील बुद्धिजीवियों को 'आधुनिक हिन्दुस्तान' का निर्माता बताया है।[1]

साहित्य और कला के क्षेत्र में भी इसी वर्ग के एक प्रगतिशील दल ने क्रांतिकारी चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान की है। वस्तुतः ऐसे देश में जहाँ की अधिकांश जनता अशिक्षित हो, प्रगतिशील मध्यमवर्ग ही जन-जीवन की धड़कनों को अनुगुंजित करता है। एंगेल्स ने भी कार्ल मार्क्स को लिखे गए अपने एक पत्र में यह लिखा है कि– "किसानों का देश अपने साहित्यिक प्रतिनिधियों को सदैव नगरों के आभिजात्य तथा बुद्धिजीवी वर्ग से ग्रहण करता है।"[2] यद्यपि मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग प्रगतिशील चेतना को वाणी देने की इस प्रक्रिया में, यदि बहु-जनता से अपना अटूट सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका है, तो प्रायः या तो शुष्क बौद्धिक या मात्र उच्छ्वासमूलक अभिव्यक्ति ही दे पाता है, लेकिन प्रगति के सोपान की दृष्टि से इसका भी अपना एक महत्व रहता है। इसी प्रक्रिया से गुजर कर साहित्य वास्तविक प्रगतिशील बाना धारण करता है और अन्ततः जन-जीवन का एक अंग बनने में सफलता प्राप्त करता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता को भी विविध रूप-रंग तथा रेखाओं से अलंकृत करने में इसी वर्ग का प्रमुख योगदान रहा है और इसलिए ऐसे वर्ग द्वारा रचित प्रगतिशील काव्य के अनिवार्य भाव-अभाव उसमें भी रूपायित हुए हैं।

---

1. S. B. I. N. : Page 180.
2. "A nation of peasants always has to take its literary representatives from the bourgeoise of the towns and their intelligentia."
—The correspondence of Marx and Engels (1846-1895): Page 208

२

साहित्यिक पूर्व पृष्ठाधार

पिछले पृष्ठों में विवेचित सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तन से जो नवीन भाव एवं विचार-प्रतिक्रियायें उत्पन्न हुईं, हिन्दी साहित्य में उनका स्वर भारतेन्दु युग से ही सुनाई देने लगता है। बल्कि, यह कहना चाहिए कि 'आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता' में जिन अनेक प्रगतिशील तत्वों के विकसित रूप का दर्शन होता है, उनके विकास का प्रारम्भ-बिन्दु भारतेन्दु युगीन काव्य में देखा जा सकता है। यही कारण है कि श्री रामधारी सिंह दिनकर 'भारतेन्दु' को 'प्रगतिवाद का उन्नायक' ठहराते हैं।[1] डा॰ रामविलास शर्मा का भी मत है: हिन्दी में यथार्थवाद का आरम्भ भारतेन्दु से हुआ।[2] डा॰ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने भी उक्त मतों का ही पोषण करते हुये लिखा है :—"नये युग की उपलब्धियों के प्राय: सभी बीज भारतेन्दु युग के काव्यों, नाटकों और निबन्धों में पड़ चुके थे।"[3]

रीति-बद्ध काव्य-धारा

भारतेन्दु-युग के ठीक पूर्व की काव्य-धारा मूलत: रीतिबद्ध थी। वह अपने आश्रयदाता सामन्तों के विलास की वस्तु बनी हुई थी। उसमें न तो भक्ति की

---

१. भारतेन्दु की पंक्तियों में भी छायावादी शैली का आभास उतना है, किन्तु छायावाद से अधिक वे प्रगतिवाद के उन्नायक ठहरते हैं, क्योंकि नवीनता की दिशा में उनका खास ज़ोर कविता के सामाजिक पक्ष पर था।" काव्य की भूमिका, पृष्ठ १८।

२. सम्पादकीय : समालोचक (यथार्थवाद विशेषांक) : फरवरी १९५८ : पृष्ठ ११८

३. आधुनिक हिन्दी कविता : सिद्धान्त और समीक्षा : पृष्ठ ११०

उपवन बनकर रह गई थी और न लोक-जीवन के हृदय की धड़कन की अनुभूति ही। उसमें वैभव की रंगीनी, नारी की मांसलता और कामुकता की मादक विलासिता तो थी, लेकिन जीवन यापन की स्वाभाविक दशा, धरती की गंधोन्मुख गति और हृदय के उन्मुक्त तथा निश्छल भावों का नितान्त अभाव था। यह कविता श्रृंगार की चहारदीवारी में बंद-सी हो गई थी और जीवन की अनेक रूप छवियों को देखने में असमर्थ हो गई थी। इसकी भाषा-शैली भी अलंकारों के अत्यधिक बोझ से दबी हुई थी और उसका स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट हो गया था। रीति काव्य के इस संकीर्ण दृष्टिकोण पर प्रहार करते हुये श्री सुमित्रानन्दन पंत ने 'पल्लव' की भूमिका 'प्रवेश' में ठीक ही लिखा है : ''भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुर-वृष्टि, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है ? ... ब्रजभाषा के उजड़े बाग पर इन कवियों की लालसा के गीत, इनकी उपमाओं के घास-फूस मकान, उसके कोमल वक्ष में इनके अत्याचार के पदाघात, उसके सुकुमार अंगों में इनकी वासना का विषदंश का अमिट दाग सदा के लिए बना ही रहेगा। उसकी उदार छाती पर इन्होंने पहाड़ रख दिया।''[1]

भारतेन्दु युगीन काव्य-धारा

भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी लेखकों ने इस अभाव को पहचाना और उन्होंने कविता में नवीन प्राण-धारा का संचार किया। उन्होंने कविता को लोक-जीवन की अभिव्यक्ति का साधन बनाया और उसे रंगमहलों की चहारदीवारी से बाहर निकाल कर लोक-पथ पर लाकर खड़ा कर दिया। इस प्रकार भारतेन्दु युग के लेखकों ने रीतिकाल में टूटे हुए साहित्य और युग-जीवन के सम्बन्ध सूत्र को फिर से जोड़ दिया। वस्तुतः इस युग के लेखकों का अपने सामाजिक जीवन से गहरा अनुराग था और वे समाज के हर कार्य-कलाप में बड़ी ज़िंदादिली के साथ भाग लेते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की निम्न प्रामाणिक वाणी उक्त तथ्य की ही स्थापना करती है : ''उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक सम्बन्ध जीवन के विविध रूपों के साथ पूरा पूरा बना था। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में पड़ने वाले त्योहार उनके मन में उमंग उठाते थे। परम्परा से चले आते हुए आमोद प्रमोद के मेले उनमें कुतूहल जगाते और प्रफुल्लता लाते थे। आजकल के समान उनका जीवन देश

---

१. शिल्प और दर्शन : पृष्ठ ७

के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आंखों में इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता।"[1] अतएव उनके काव्य में सामाजिक जीवन चेतना का प्रतिफलन होना स्वाभाविक ही था। उनके द्वारा परिपाटी-गत छन्दों के अतिरिक्त लावनी, कजली, विरहा, रेखता, मलार, ठुमरी, गजल, आदि लोक-प्रचलित छन्दों का प्रयोग, उनकी उक्त सामाजिक दृष्टि का द्योतक तत्व है। इन शब्दों के प्रयोग के द्वारा उन्होंने पूर्व युगीन संकीर्ण काव्य-शैली को अधिक व्यापक और जन-सुलभ रूप दिया।

भारतेन्दु-युगीन काव्य को समस्या-प्रधान काव्य भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसयुगीन कवियों की दृष्टि अपने समय की प्रायः सभी समस्याओं की ओर गई थी। अंगरेजों के सम्पर्क तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' के प्रभाव से हिन्दू-समाज में जो सुधारवादी भावना की लहर प्रवाहित हुई थी, उससे इन कवियों का हृदय-कूल भी अछूता नहीं बचा था। परिणामतः उनके काव्य में विधवा-विवाह, बाल-विवाह, शिक्षा और बेकारी, पुलिस और कर्मचारियों की लूट-खसोट, शराब, समुद्र-यात्रा निषेध, जाति-भेद—आदि अनेकानेक ज्वलन्त सामाजिक समस्याओं को वाणी प्राप्त हुई है। भारतेन्दु की 'शराब' से सम्बन्धित एक मुकरी' से उक्त सुधारवादी प्रवृत्ति और कवियों की समस्याओं के प्रति जागरूकता की एक झलक का दर्शन किया जा सकता है।

मुँह जब लागे तब नहिं छूटै।
जाति मान धन सब कुछ लूटै॥
पागल करि मोहिं करै खराब।
क्यों सखि सज्जन नहीं सराब॥[2]

भारतेन्दु युग के प्रायः सभी कवियों में देश-भक्ति की उदात्त चेतना भी विद्यमान थी। भारतेन्दु के सम्बन्ध में कहा गया आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन 'नवीन धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देश-भक्ति का था'[3] -उस युग के अन्य कवियों पर भी समान रूप से लागू होता है। भारतेन्दु के 'नीलदेवी' 'भारत-दुर्दशा'—आदि नाटक-ग्रन्थों में तो उनकी इस भावना की बड़ी

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००५) पृष्ठ ४५३
२. भारतेन्दु-ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड : पहला संस्करण) : पृष्ठ ८१२
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृष्ठ ४८९

मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। देश-भक्ति की इस चेतना ने एक ओर तो उनके हृद में अपने देश के अतीत-इतिहास के प्रति गौरव-गरिमा की भावना जागृत की, दूसर ओर, भारत की वर्तमान अधोगति ने उन्हें क्षुब्ध भी बनाया। एक ओर, यदि उनकी आंखों के सामने अतीत का गौरवमय पृष्ठ खुला तो दूसरी ओर अपने वर्तमान की सिसकती हुई सांसों को सुनकर बेचैन भी हुए। भारतेन्दु की निम्न पंक्तियों में अतीत और वर्तमान के इसी वैषम्य की चीत्कार गूँजी है :

> होत सिंह को नाद जौन भारत-बन मांही।
> तहँ अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाहीं॥
> जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे वर।
> तहँ अब रोअत सिवा चहूं दिसि लखियत खंडहर॥
> धन-विद्या-बल, मान वीरता-कीरति छाई।
> रही जहाँ तित केवल अब दीनता लखाई॥[1]

उनकी यह राष्ट्रीयता की भावना केवल परम्परागत ही नहीं थी। वे केवल अतीत का पुनरुत्थान ही नहीं करना चाहते थे, नवीन विद्या के प्रति भी उनमें आकर्षण की भावना थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने प्राचीन और नवीन की समन्वयशील भावना से प्रेरित होकर ही 'आग्रह अनैक्य' को छोड़ने पर तथा 'भेड़-चाल' से मुख मोड़ने पर बल दिया है।[2] प्रेमघन ने भी इस प्राचीन और नवीन के समन्वय की उदार दृष्टि की ही पुष्टि की है :

> सीखो नई पुरानी दोनों प्रकार की विद्यायें।
> दोनों प्रकार के विज्ञान सिखाओ रच शालायें॥[3]

और इसलिए उन्होंने शिल्प कला-व्यापार आदि के प्रसार और आवश्यक समाज-संशोधन की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया :—

> शिल्प कला सम्यक् प्रकार उन्नत कर शीघ्र प्रचारो।
> निज व्यापार अपार प्रसार करो जग यश विस्तारो॥
> आवश्यक समाज संशोधन करो न देर लगाओ।
> हुए नवीन सभ्य औरों से अपने को न हँसाओ॥[4]

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड) : पृष्ठ ८०५
२. आग्रह अनैक्य को छोड़ें, मुख भेड़चाल से मोड़ें।—प्रताप-लहरी : पृष्ठ १६० ;
३. 'प्रेमघन सर्वस्व' प्रथम भाग (प्रथमावृत्ति)—आनन्द-अरुणोदय : पृष्ठ ३७६
४. वही : पृष्ठ ३७६

इस युग की राष्ट्रीयता की एक अन्य विशेषता थी—उसका हिन्दुत्व भावना से ओत-प्रोत होना। पं० प्रतापनारायण मिश्र की निम्न पंक्तियाँ य संकेत करती हैं कि वे 'हिन्दी, हिन्दू–हिन्दुस्तान' की उन्नति में ही सारे देश कल्याण समझते थे :

चहहु जो साचो निज कल्यान,
तो सब मिल भारत-संतान।
जपो निरन्तर एक जबान,
हिंदी—हिंदू—हिन्दुस्तान।
तबहिं सुधरिहैं जन्म निदान,
तबहिं भलो करिहैं भगवान।
जब निसि दिन रहिहै यह ध्यान,
हिंदी—हिंदू—हिन्दुस्तान।[१]

इस सम्बन्ध में हिन्दी–काव्य के विवेचकों में मतभेद है कि इन कवि की उक्त 'हिन्दी, हिन्दू–हिन्दुस्तान' की भावना संकुचित, साम्प्रदायिक और मुस्लिम विरोधी थी या उसमें राष्ट्रीयता के व्यापक तत्व विद्यमान थे और वह साम्प्रदायिक की गन्ध से अछूती थी। श्री शिवदानसिंह चौहान यह मानते हैं कि "भारते और उनके साथी आर्य समाज के पक्षपाती न थे, लेकिन आर्य-समाज-आन्दोल की संकीर्णता उनमें भी थी। ....भारतेन्दु कालीन लेखकों का हिन्दी–प्रे आर्य समाजियों की तरह ही उर्दू और मुसलमानों का विरोधी था।"[२] इस विपरीत, डा० केसरीनारायण शुक्ल का मत है कि 'राजनीति या देशभक्ति के क्षे में इनकी भावना में साम्प्रदायिकता की गंध न थी। वहाँ वे समग्र भारत के हि का ध्यान रखते थे और उस समय देश का रहने वाला उनके लिए हिंदू या पारस न होकर भारतवासी था।"[३]

यद्यपि श्री शिवदानसिंह चौहान की तरह यह नहीं माना जा सकता कि भारतेन्दु युगीन कवियों का हिन्दी–प्रेम उर्दू और मुसलमानों का विरोधी था, लेकि यह तथ्य अपने आप में बहुत ही स्पष्ट है कि उनका मुख्य ध्यान अपने समाज औ संस्कृति के उत्थान की ओर ही विशेष रूप से था। इसलिए उनकी राष्ट्रीयता के

१. प्रगतिवाद : विजयशंकर मल्ल : पृष्ठ ११ से उद्धृत
२. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : पृष्ठ २४
३. आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत (द्वितीयावृत्ति) : पृष्ठ ७७

व्यापक मानवतावादी भाव-भूमि से आविष्ट था, सम्पूर्ण मानवता अपनी अन्तरंगता का ही परिचय देना होगा। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि आगे चलकर राष्ट्रीयता की भावना ने जो व्यापक मानवतावादी आधार ग्रहण किया है, उसका बीजरूप में उस समय क्रमशः विकास हो रहा था। यह इस आधार पर कहा जा सकता है कि जब भारतेन्दु युग के कवि भारत की आर्थिक दुरवस्था का चित्र प्रस्तुत करते थे, तब उनकी दृष्टि में केवल हिन्दुओं का समाज ही नहीं रहता था। उस समय सम्पूर्ण देश का नग्न चित्र ही उनकी आँखों के सामने नाचता था।

भारतेन्दु—युगीन राष्ट्रीयता की एक अन्य सीमा थी—उसमें राजभक्ति की चेतना का समाविष्ट होना, जो कि एक अन्तर्विरोध-सा प्रतीत होता है। यद्यपि इन कवियों ने कई स्थानों पर अंगरेजी सभ्यता, संस्कृति तथा नीति की आलोचना की है,[1] लेकिन ब्रिटिश-शासन के प्रति विद्रोह की भावना का सर्वथा अभाव है। जहाँ कहीं उन्होंने ब्रिटिश-शासन की अर्थ-नीति की भर्त्सना की है, वहाँ भी उनके स्वर में क्षोभ और याचना की भावना ही[2] अधिक है, क्रान्ति या विद्रोह की चेतना

१· उदाहरण के लिए भारतेन्दु-ग्रन्थावली खण्ड २ में संकलित भारतेन्दु की 'नए जमाने की मुकरी' देखिए। इन मुकरियों में 'अंगरेजी शिक्षा', 'ग्रेजुएट', 'अंगरेजी कानून' 'चुंगी' 'अंगरेजों द्वारा आर्थिक शोषण की नीति', 'पुलिस', 'खिताब', 'अंगरेजों की नौकरशाही'—आदि ब्रिटिश-शासन की नीति के विभिन्न पहलुओं पर करारी व्यंगोक्तियाँ हैं। यहाँ, अंगरेजों की नौकरशाही से सम्बन्धित एक मुकरी द्रष्टव्य है :

मतलब ही की बोले बात। राखे सदा काम की घात॥
डोले पहिने सुन्दर समला। क्यों सखि सज्जन, नहिं सखि अमला॥

—भारतेन्दु ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड) : पृष्ठ ८११

२. क्षोभ-भावना : अंगरेज-राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात, इहै अति ख्वारी॥

भा० ना० : पृष्ठ ४५८

याचना : 'प्रेमघन' ने अंगरेज शासकों की नीति का विरोध करते हुए भी अन्त में याचना भरे स्वरों में यही लिखा है :

चहत न हम कछु और दया चाहत इतनो बस।
छूटैं दुख हमरे, बाढ़ै जासों तुमरो जस॥
भारत को धन, अन्न और उद्यम व्यापारहिं।
रच्छहु, वृद्धि करहु सींचि उन्नति आधारहिं॥
पूरन मानव आयु लहौ तुम भारत भागनि।
पूरन भारतीन की करत सकल सुख-साधनि॥

—प्रेमघन सर्वस्व : आर्याभिनन्दन : पृ० ३७८–३८८

रहीं। इसका कारण वस्तुतः उस युग की सीमा थी। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, ब्रिटिश-शासन ने उस युद्ध में अपने कतिपय सैनिक तथा आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के हेतु अनजाने में ही कुछ ऐसे कार्य भी किए थे, जिनको कि हम निश्चित रूप से प्रगतिशील कह सकते हैं। साथ ही, उस युग के कवियों में समन्वय की भावना ही अधिक थी–विद्रोह की नहीं। वे सुधार तो चाहते थे, लेकिन आमूल परिवर्तन नहीं। इसलिए ऐसी भावनाएँ यदा कदा प्रकट होती रही हैं :

'राज-भक्त भारत सरिस और ठौर कहुँ नाहिं।'[1]

या 'युवराज' के स्वागत में—

आओ, आओ, हे युवराज,
धन धन भाग हमारे जागे पूरे सब मन-काज।[2]

भारतेन्दु युगीन काव्य का सर्वाधिक प्रगतिशील रूप उसकी यथार्थ-चेतना में देखा जा सकता है। उस युग के कवियों ने जहाँ अंगरेजी-राज्य की प्रशस्ति में कुछ बातें कही थी, वहीं उनके आर्थिक शोषण की भर्त्सना भी की थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने तो अत्यंत निर्भीक स्वरों में लिखा था :

सर्वस लिए जात अंगरेज,
हम केवल 'ल्यकचर' के तेज।[3]

'भारतेन्दु' की निम्न मुकरी भी अंगरेजों की आर्थिक शोषण की नीति को ही स्पष्ट करती है :

भीतर भीतर सब रस चूसै,
हँसि हँसि के तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन मे अति तेज,
क्यों सखि सज्जन, नहिं अंगरेज।।[4]

अमीर और गरीब के वर्ग-वैषम्य की ओर भी उस युग के कवियों की दृष्टि गई थी। कृषक वर्ग के प्रति उन कवियों में अपार सहानुभूति की भावना थी। वे देखते थे कि जो कृषक वर्ग के प्रति उन कवियों में अपार सहानुभूति की भावना थी। वे देखते थे कि जो कृषक अपने भुजबल से सृष्टि के प्राणों को पाल रहा

१. प्रेमघन सर्वस्व : प्रथम भाग : आर्याभिनन्दन : पृष्ठ ३८७
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली : पृष्ठ ७२३
३. लोकोक्ति-शतक (१८८८ ई०) : पृष्ठ ३
४. भारतेन्दु ग्रन्थावली : खण्ड २ : पृष्ठ ८११

है–वही भूखे पेट रहता है। अतएव उनके क्षुब्ध हृदय से अनायास ही सहानुभूति की भावना से परिपूर्ण ऐसी पंक्तियाँ निस्सृत हो उठती थी :

> सम लगान–व्यय अधिक, आय कम सदा लहत जे।
> दीन हीन ताही सों नित प्रति बने जात ये॥
> नहिं इनके तन रुधिर, मास नहिं वसन समुज्ज्वल।
> नहिं इनकी नारिन तन भूषण हाय आजकल॥
> सूखे वे मुख कमल, वेश रूखे जिन केरे,
> वेश मलीन, छीन तन, छवि हत जात न हेरे॥
>
> दुर्बल, रोगी, नंग–घिड़ंगे, जिनके शिशुगन।
> दीन दृश्य दिखराय हृदय पिघलावत पाहन॥[1]

श्री बालमुकुन्द गुप्त में यह वर्ग चेतना पर्याप्त विकसित अवस्था में थी। उनकी वाणी तो किसानों की दुर्दशा का चित्र अंकित करने के साथ ही धनिक वर्ग के प्रति तिरस्कार व्यञ्जना करने में भी नहीं चूकती थी :

> हे धनियों क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार।
> जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार॥
> भूखों की सुध उसके जी में कहिये किस पथ से आवे।
> जिसका पेट मिष्ट भोजन से ठीक नाक तक भर जावे॥[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस सामाजिक एवं यथार्थ चेतना का प्रस्फुटित एवं प्रगतिशील स्वरूप आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता मे मिलता है, उसका बीजारोपण भारतेन्दु युगीन काव्य में हो चुका था।

द्विवेदी युगीन काव्य–धारा

भारतेन्दु युग में प्रसूत यथार्थ और सामाजिक चेतना की यह धारा द्विवेदी युग में और भी अधिक विकसित रूप धारण कर प्रवाहित हुई। अतीत प्रेम, वर्तमान के प्रति विक्षोभ, देश भक्ति, समाज सुधार और मानवतावादी दृष्टि का प्रसार इस युग की मूल प्रवृत्तियाँ हैं।

अतीत प्रेम तथा वर्तमान के प्रति विक्षोभ का जो स्वरूप भारतेन्दु युग में था, वही तनिक विस्तार के साथ इस युग में भी दृष्टिगत होता है। गुप्त जी ने 'भारत भारती' के 'अतीत खण्ड' में अतीत के गौरवमय स्वरूप का बड़ा ही आकर्षक चित्र

---

१. प्रेमघन सर्वस्व : जीर्ण जनपद : पृष्ठ ३६।
२. स्फुट कविता : पृष्ठ ३८

संद्धित किया है।[1] हरिऔध जी ने भी 'प्रिय प्रवास' की कथावस्तु के द्वारा अपने अतीत के सांस्कृतिक गौरव की ही व्यञ्जना की है। अतीत के साथ ही इन कवियों ने वर्तमान जीवन को भी सदैव अपनी दृष्टि के सम्मुख रखा है। वस्तुतः उन्होंने तो अपने प्रबन्ध काव्यों में भी अतीत की कथा के माध्यम से वर्तमान की समस्याओं का ही विवेचन प्रस्तुत कर भविष्य के लिए नवीन सन्देश देने का प्रयत्न किया है। गुप्त जी का 'साकेत' तथा हरिऔध का 'प्रिय प्रवास' इस तथ्य के ज्वलंत प्रमाण हैं। गुप्त जी ने 'साकेत' के माध्यम से यदि आज भी उपेक्षित नारियों को पुन. गौरव-मण्डित करने का प्रयास किया है तो हरिऔध जी ने *प्रिय प्रवास* के द्वारा *'लोक-सेवा'* के आधुनिक संदेश को ही अनुगुंजित किया है। 'भारत-भारती' में तो कवि का मुख्य उद्देश्य वर्तमान की विभीषिका को ही प्रस्तुत करना रहा है। उसने 'अतीत' का वर्णन तो वर्तमान जीवन के पतित रूप की रेखाओं को अधिक गहराई से उरेहने की दृष्टि से ही किया है। इस काव्य के वर्तमान खण्ड में जीवन में व्याप्त-'दारिद्रय' 'जन-दुर्भिक्ष'

---

१. भूलोक का गौरव, प्रकृति पुण्य लीला-स्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगा जल जहाँ।
हाँ वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है ?
भगवान की भव भूतियों का यह प्रथम भाण्डार है,
विधि ने किया नर-सृष्टि का पहले यही विस्तार है।
—भारत भारती : अतीत खंड : छन्द १६ : पृ० ४

२ रहता प्रयोजन से प्रचुर पूरित जहाँ धन-धान्य था,
जो 'स्वर्ण भारत' नाम से संसार में विख्यात था,
दारिद्र्य दुर्धर अब वहीं करता निरन्तर नृत्य है,
आजीविका अवलम्ब बहुधा मृत्य का ही कृत्य है।
—वही : वर्तमान खण्ड : छंद ६ : पृष्ठ ८७।

३ दुर्भिक्ष मानों देह धरके घूमता सब ओर है,
हा अन्न ! हा ! हा ! अन्न का रव गूँजता घनघोर है !
सब विश्व में सौ वर्ष में रण में मरे जितने हरे,
जन चौगुने उनसे यहाँ दस वर्ष में भूखों मरे।
—वही, पृष्ठ :

'कृषि और कृषक'[1] आदि का यथार्थ स्थिति का बड़ा ही सजीव और मर्मभेदी वर्णन हुआ है। श्री मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, 'त्रिशूल' आदि ने भी भारत की गरीब जनता को अपनी पूर्ण सहानुभूति अर्पित की थी। श्री त्रिशूल ने तो 'उच्च वर्ग' की शोषक मनोवृत्ति का बड़ा ही स्पष्ट चित्र खींचा है :

उधर जुए का लिए धर्म-व्यापारी पट्टा
बाजी बद बद रोज किया करते हैं सट्टा ॥
खुलती गाँठें नहीं पड़े कपड़े सड़ते हैं ।
भरके अपने भवन गरीबों को हड़ते हैं ॥
सब साधन रहते हुये कैसी पड़ी झमेल है ।
होता चिड़ियों का मरण, लड़कों का तो खेल है ॥[2]

इससे यह स्पष्ट होता है कि उस युग में ही कवियों की दृष्टि में शोषित वर्ग का महत्व बढ़ता जा रहा था। श्री रामनरेश त्रिपाठी तो कवीन्द्र रवीन्द्र के समान दीन-दुःखी जनों में ही भगवान का दर्शन करने लग गए थे। अपने 'स्वप्न' काव्य में उन्होंने लिखा है :

पर हरि के पद-पद्म कहाँ है, क्या सरिता के सुन्दर तट पर ?
नहीं, निराशा नाच रही है जहाँ भयानक मूरि भेख घर।
निस्सहाय निरुपाय जहाँ हैं बैठे चिन्ता-मग्न दीन जन,
उनके मध्य खड़े हरि के पद-पंकज के मिलते हैं दर्शन ।[3]

द्विवेदी युगीन कवियों की देश-भक्ति इसी यथार्थ चेतना से समन्वित है। वे अपने देश में व्याप्त बुराइयों का समूल नाश चाहते थे और उनकी अदम्य आकांक्षा थी कि सभी देशवासियों में पुनः विद्या-कला-कौशल आदि के प्रति अनुराग-भावना जाग्रत हो जाए, सब आलस्य-अघ का त्याग कर उद्योग के लिए तत्पर हो

---

१ भरपेट भोजन ही चरम सुख वे अकिञ्चन मानते,
पर साथ ही दुर्भाग्यवश दुर्लभ उसे हैं जानते ।
दिन दुख के हैं भर रहे करते हुए संतोष वे,
लाचार हैं निज भाग्य को ही दे रहे हैं दोष वे ।
भारत : भारती : पृष्ठ ९६

२. त्रिशूल–तरंग (तृतीय संस्करण : १९२१) । पृष्ठ ४६

३. स्वप्न : पृष्ठ १२

जाएँ, सुख और दुःख में सभी का समान भाग हो और सब के अन्तःकरण में निरन्तर राष्ट्रीयता का राग गूँजता रहे।[1]

यद्यपि इस युग में भी कभी कभी राष्ट्र-प्रेम के साथ ही राज्य-भक्ति की भावना अनुगुंजित हुई है,[2] लेकिन वह एक व्यापक प्रवृत्ति का रूप ग्रहण नहीं कर सकी।

भारतेन्दु युग की दूसरी प्रवृत्ति 'सुधार-भावना' भी इस युग के काव्य-क्षितिज पर छाई हुई है। इस युग के प्रायः सभी कविगण, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेई के शब्दों में, "सामाजिक दृष्टि से सुधारवादी थे। समाज के प्रत्येक क्षेत्र में वे सुधार करना चाहते थे–नैतिक और भौतिक दोनों।"[3] अपनी इस सुधार-भावना से प्रेरित होकर ही उन्होंने बाल-विवाह, अन्ध-परम्परा, वर-कन्या-विक्रय, अस्पृश्यता, मदिरा-पान, आडम्बर आदि अनेक सामाजिक कुरीतियों का घोर विरोध किया और नए युग की प्रगतिशील मान्यताओं को वाणी प्रदान की। इस क्षेत्र में उनकी दृष्टि स्वामी दयानन्द के आर्य-समाज से ही विशेष प्रभावित हुई, इसलिए उनकी काव्य-चेतना हिन्दू-समाज की सीमाओं में ही परिबद्ध रही है।

'बौद्धिक दृष्टि' इस युग की एक अन्य विशेषता है, जो कि वैज्ञानिक विकास के साथ साथ क्रमशः विकसित हो चली थी। हरिऔध जी का 'प्रिय-प्रवास' इस युग की बौद्धिक दृष्टि का ही प्रतिनिधित्व करता है। उन्होंने कृष्ण-कथा की अनेक अलौकिक घटनाओं को बुद्धि-सम्मत कार्य-कारण-शृङ्खला की कड़ी में जोड़कर ही प्रस्तुत किया। उदाहरणार्थ कृष्ण-लीला के गोवर्धन-धारण के प्रसंग को लिया जा सकता है। 'प्रिय-प्रवास' में, इस असम्भव-सी लगने वाली घटना का

---

१. विद्या, कला, कौशल में सबका अटल अनुराग हो,
उद्योग का उन्माद हो, आलस्य-भय का त्याग हो।
सुख और दुख में एक-सा सब भाइयों का भाग हो,
अन्तःकरण में गूंजता राष्ट्रीयता का राग हो।
—भारत भारती : भविष्यत खण्ड : छंद १३६

२. परमेश्वर की भक्ति है, मुख्य मनुज का धर्म,
राजभक्ति भी चाहिए सच्ची सहित सुकर्म।
—श्री पूर्ण : पूर्ण संग्रह (सं० १६८२), स्वदेशी कुण्डल : पृष्ठ २०

३. आधुनिक साहित्य : (प्रथम संस्करण) : पृष्ठ ११

हरिऔध जी ने एक बुद्धि-संगत समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया :

> लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में
> व्रज धराधिप के प्रिय पुत्र का।
> सकल लोग लगे कहने उसे,
> रख लिया उंगली पर श्याम ने ॥[1]

इसी प्रकार, कृष्ण और राधा को किसी दैवी शक्ति के रूप में न मानकर सामान्य पुरुष और नारी का रूप प्रदान करना तथा तृणासुर को आंधी के रूप में चित्रित करना कवि की बुद्धिवादी प्रवृत्ति के ही द्योतक तत्व हैं।

इस युग में धीरे धीरे मानवतावादी दृष्टि का प्रसार भी हो चला था। भारतेंदुयुगीन काव्य-चेतना पर जिस प्रकार यह आरोप लगाया गया था कि उसमें आर्य-समाज की संकीर्णता थी और उस युग के कवियों का हिन्दी प्रेम उर्दू तथा मुसलमानों का विरोधी था, वैसा ही कुछ आरोप इस युग के कवियों पर भी लगाया गया है और उनकी काव्य-चेतना को जातिगत, सम्प्रदायगत और भाषागत स्वार्थों के घेरे में बद्ध माना गया है। श्री शिवदानसिंह चौहान का मत है : "उनका देश-प्रेम एक ओर हिन्दू-पुनरुत्थानवाद की मुस्लिम-विरोधी साम्प्रदायिकता तो दूसरी ओर *राजभक्ति की अवसरवादिता के संकीर्ण घेरे में ही अन्त तक* चक्कर काटता रहा। आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ही नहीं, बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों तक अर्थात् छायावादी काव्य धारा के फूट पड़ने से पहले तक के हिन्दी कवि (महावीरप्रसाद, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त) इस संकीर्ण घेरे का अतिक्रमण करने का साहस नहीं कर पाये।"[2] यह अवश्य है कि इन कवियों ने 'हिन्दी, हिन्दू-हिन्दुस्तान' की बातें अधिक कहीं और अपने काव्यों में हिन्दू महापुरुषों का ही उल्लेख अधिक किया, लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि अन्य जातियों के प्रति उनके हृदय में विद्वेष अथवा घृणा की भावना थी। उदाहरण के लिए पुनः गुप्तजी की 'भारत-भारती' को देखा जा सकता है। उन्होंने अपने इस काव्य में जहाँ औरंगजेब के अत्याचारों की निंदा की[3] वहीं अकबर की प्रशंसा भी की है।[4] और इस प्रकार

---

१. प्रिय प्रवास (अष्टम संस्करण) : द्वादश सर्ग : पृष्ठ १५४
२. *हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : पृष्ठ १८-१९*
३. भारत भारती : पृष्ठ ७१
४. वही : पृष्ठ ७३

अपनी उदार दृष्टि का ही परिचय दिया है। अपने 'हिन्दू' काव्य में भी उन्होंने 'हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य' की भावना का प्रतिपादन किया है।[1] और, हरिऔधजी ने 'प्रिय प्रवास' में अपनी मानवतावादी दृष्टि का बड़ा ही उदात्त स्वरूप प्रदर्शित किया है। लोक सेवा तथा विश्व-प्रेम इस काव्य की मूल केन्द्रीय भावना है। 'प्रिय प्रवास' के कृष्ण को अपने प्राणों से भी अधिक विश्व का प्रेम प्यारा है :

प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा।[2]

और *'कृष्ण' की परम प्रेमिका 'राधा' की भी आन्तरिक आकांक्षा यही है :*

प्यारे जीवें, जग हित करें, गेह चाहे न आवें।[3]

अतएव स्पष्ट है कि अपने समग्र रूप में द्विवेदी युग की राष्ट्रीय-चेतना साम्प्रदायिकता के घेरे में बद्ध नहीं थी, वरन् वह तो मानवता के व्यापक क्षितिज की ओर अग्रसर हो रही थी। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी भी उन लोगों से सहमत नहीं हैं जो कि उन कवियों की चेतना को मूलतः "मुस्लिम-विरोधी साम्प्रदायिकता" से ग्रस्त मानते हैं। उन्होंने उस युग की काव्य-प्रवृत्ति का स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करते हुए लिखा है :"...... *इस समय की हमारी राजनैतिक आकांक्षाएँ कई प्रकार के* आवरणों में से व्यक्त होने के कारण अनेक अस्पष्टताओं और सन्देहों का आधार बनी हुई है। कुछ ने इन्हें इस्लाम के विरुद्ध हिन्दू जातीयता या हिन्दू राष्ट्रीयता का नाम दिया है। पर कदाचित ऐसी कोई जातीयता या राष्ट्रीयता हमारे इन पूर्वजों के ध्यान में न थी। वे देश के प्राचीन वीरों और विशेषकर क्षत्रिय या राजपूत गाथाओं का उल्लेख और वर्णन इसलिए करते थे कि उनके चारित्रिक गुणों, त्याग, वीरत्व, देश प्रेम और स्व-गौरव आदि से प्रभावित होकर नई नैतिक प्रेरणा और उत्साह संचय करना चाहते थे। इस्लाम या मुसलमानों के प्रति कोई बद्धमूल वैमनस्य हमारे कवियों और लेखकों में न था, पर वे भारतीय आदर्शों (या संस्कृति) से अनुप्रेरित अवश्य थे। आगे चलकर सन् २० के आस-पास यह स्पष्ट हुआ कि हमारे प्रयत्न और हमारी पुकार सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता के लिए ही थी।[4]

सन् २० के आस पास ही द्विवेदी युग की यह मानवतावादी चेतना और भी स्पष्ट आकार ग्रहण करने लग गई थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, रामनरेश

---

१. हिन्दू : पृष्ठ १४६
२. प्रिय प्रवास : चतुर्दश सर्ग : पृष्ठ १९१
३. वही : षोडश सर्ग : पृष्ठ २२१
४. भूमिका : आधुनिक साहित्य : पृष्ठ १२-१३

त्रिपाठी, मैथलीशरण गुप्त–आदि कविगण पहले से ही किसान और दीन–दु:ख व्यक्तियों को अपनी सहानुभूति अर्पित कर रहे थे, लेकिन उनके काव्य के नायक अधिकतर पौराणिक आदर्श पुरुष ही होते थे। अब उनकी चेतना ने अधिक व्यापक धरातल पर प्रवेश किया और वे किसानों तथा कारखानों से निकले हुए मेले मजदूरों को भी काव्य–नायक के पद पर प्रतिष्ठित करने का विचार करने लगे थे। सन् १९२० की "सरस्वती" में प्रकाशित सम्पादकीय "कविता का भविष्य" में आचार्य द्विवेदीजी ने लिखा था : "अभी तक वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखानों से निकले हुए मैले मजदूरों को अपने काव्य का नायक बनाना नहीं चाहता था।......परन्तु अब वह क्षुद्रों की भी महत्ता देखेगा और तभी जगत का रहस्य सबको विदित होगा।.. ..जो साधारण है, वही रहस्यमय है, वही अनन्त सौन्दर्य से युक्त है"[१] लेकिन जब इस प्रकार की मानवतावादी भाव–चेतना से सम्पृक्त यथार्थ अपना रूप ग्रहण करने जा ही रहा था कि हिन्दी-काव्य के रंगमंच पर अपने आकुल हृदय की अभिव्यक्ति की पुकार लेकर अन्तर्मुखी दृष्टि-सम्पन्न छायावाद का प्रवेश हो गया जिसने कि वाह्याकार वाले स्थूल यथार्थ को उपेक्षित कर अपनी अस्पष्ट और धूमिल भाव-चेतना को ही महत्व देना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि एक दूसरे रूप में उसने भी मानवतावाद की भाव-धारा को अधिक व्यापक बनाया, लेकिन वह अन्तर्मुखी ही अधिक रही, जन-जीवन समसामयिक दैनिक वास्तविकता को छूकर सौन्दर्य-मण्डित नहीं बन सकी। हां, यदा कदा बिखरे हुए रूप में वह चेतना भी आकार पाती रही - जो कि अपना उन्मुक्त रूप आगे चलकर प्रगतिशील कविता में ही पा सकी।

छायावादी काव्य में यथार्थ चेतना का स्वरूप

छायावादी कविता यद्यपि मूलत: अन्तर्मुखी और वैयक्तिक चेतना से सम्पन्न है, जिसके कि कारण इसमें कहीं-कहीं पलायन के स्वर भी ध्वनित हुए हैं, लेकिन इस वैयक्तिक चेतना ने भी, अपने प्रारम्भिक रूप में बड़ी क्रान्तिकारी भूमिका अदा की है। इसी वैयक्तिक चेतना के परिणामस्वरूप छायावादी कवि सामाजिक रूढ़ि-रीतियों एवं बन्धनों के विरुद्ध अपनी आत्मा के निर्बन्ध विद्रोह को वाणी प्रदान कर सका। ऐतिहासिक दृष्टि से यह वैयक्तिक चेतना विकासशील पूँजीवाद की ही देन है। जिस प्रकार पूँजीवाद ने अपनी विकासशील अवस्था में सामन्तीय समाज–व्यवस्था के

---

१. सरस्वती : भाग २१ : संख्या ३, १९२०

[सं]कीर्ण घेरे को तोड़कर एक अधिक व्यापक औद्योगिक सभ्यता की स्थापना की तथा समाज को गतिशील बनाया, उसी प्रकार इस वैयक्तिक चेतना ने भी सामन्तीय रूढ़ि-बद्ध जीवन के विरुद्ध क्रान्ति की उद्घोषणा की और शत-शत बन्धनों में जकड़ी हुई मानव-आत्मा की मुक्ति के पथ को अधिक प्रशस्त बनाया। अतएव श्री शिवदानसिंह चौहान के शब्दों में यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि "व्यक्ति-चेतना का यह रूप मनुष्य मात्र की चेतना का मुक्तिदायी विकास चिन्ह है।"[1]

वैयक्तिक चेतना का यह क्रान्तिकारी रूप कविवर निराला की कविताओं में अपने पूर्ण प्रखर रूप में प्रकट हुआ। उन्होंने अपनी शक्ति के प्रमुख विश्व-भार को 'पद-रज-भर' भी नहीं माना।

पद-रज-भर भी है नही पूरा यह विश्व भार।[2]

इसी प्रकार 'सम्राट एडवर्ड के प्रति' शीर्षक कविता मे उन्होंने जो मुक्त प्रेम का समर्थन किया, 'बादल' को विप्लव के रूप मे समादृत किया और सरोज-स्मृति में सामाजिक-बन्धनों के प्रति कठोर उपेक्षा-भावना प्रदर्शित की–सब उनके विद्रोही व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है।

छायावादी कवि की सर्वात्मवादी भाव-चेतना उसकी वैयक्तिक दृष्टि से ही प्रसूत है। उसने एक प्रकार से अपनी आत्म-चेतना का ही दर्शन सृष्टि के कण-कण में किया और, इसलिए वह विश्व के विविध रूपों में एक ही उल्लास को मूर्तिमान देख सका।[3] महादेवी वर्मा ने भी मनुष्य के अश्रु मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का जो एक मूल्य माना है, वह उनकी सर्वात्मवादी भाव-चेतना को ही प्रतिबिम्बित करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सर्वात्मवादी भाव-चेतना

---

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : पृष्ठ ३१

२. जागो फिर एक बार (२) : अपरा (चतुर्थ संस्करण) : पृष्ठ २०

३.
एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व मे पाता विविध भास
तरल जलनिधि में हरित विलास
शान्त अम्बर में नील विकास।

पन्त : परिवर्तन : पल्लव (चतुर्थवृत्ति) : पृष्ठ ८७

४. छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों मे प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस–बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।

महादेवी का विवेचनात्मक गद्य : (दि० सं०) : पृष्ठ ६१

[...]र्ण घेरे को तोड़कर एक अधिक व्यापक औद्योगिक सभ्यता की स्थापना की [...]त समाज को गतिशील बनाया, उसी प्रकार इस वैयक्तिक चेतना ने भी सामन्तीय [...]ढ़िबद्ध जीवन के विरुद्ध क्रान्ति की उद्घोषणा की और शत-शत बन्धनों मे जकड़ी हुई [...]नव-आत्मा की मुक्ति के पथ को अधिक प्रशस्त बनाया। अतएव श्री शिवदानसिंह [...]हान के शब्दों में यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि "व्यक्ति-चेतना का यह रूप [...]ष्य मात्र की चेतना का मुक्तिदायी विकास चिन्ह है।"[१]

वैयक्तिक चेतना का यह क्रान्तिकारी रूप कविवर निराला की कविताओं [...] अपने पूर्ण प्रखर रूप में प्रकट हुआ। उन्होंने अपनी शक्ति के प्रमुख विश्व-भार को [...]द-रज-भर' भी नही माना।

पद-रज-भर भी है नहीं पूरा यह विश्व भार।[२]

इसी प्रकार 'सम्राट एडवर्ड के प्रति' शीर्षक कविता मे उन्होंने जो मुक्त प्रेम [...]ा समर्थन किया, 'बादल' को विप्लव के रूप में समादृत किया और सरोज-स्मृति [...] सामाजिक-बन्धनो के प्रति कठोर उपेक्षा-भावना प्रदर्शित की—सब उनके विद्रोही [...]यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है।

छायावादी कवि की सर्वात्मवादी भाव-चेतना उसकी वैयक्तिक दृष्टि से ही [...]सूत है। उसने एक प्रकार से अपनी आत्म-चेतना का ही दर्शन सृष्टि के कण-कण [...]में किया और इसलिए वह विश्व के विविध रूपों में एक ही उल्लास को मूर्तिमान [...]देख सका।[३] महादेवी वर्मा ने भी मनुष्य के अश्रु मेघ के जलकण और पृथ्वी के [...]ओस-बिन्दुओं का जो एक मूल्य माना है, वह उनकी सर्वात्मवादी भाव-चेतना को ही [...]प्रतिबिम्बित करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सर्वात्मवादी भाव-चेतना

---

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : पृष्ठ ३१

२. जागो फिर एक बार (२) : अपरा (चतुर्थ संस्करण) : पृष्ठ २०

३. एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व मे पाता विविधा भास
तरल जलनिधि में हरित विलास
शान्त अम्बर मे नील विकास।
पन्त : परिवर्तन : पल्लव (चतुर्थावृत्ति) : पृष्ठ ८७

४. एकाकार की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों मे प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।
महादेवी का विवेचनात्मक गद्य : (द्वि० सं०) : पृष्ठ ११

ने मानवता के व्यापक रूप की ही प्रतिष्ठा की है। छायावादी कवि ने संपूर्ण मानवता को एक अखण्ड रूप में देखा और इससे जाति, सम्प्रदाय, लिंग आदि की संकीर्ण सीमाओं में घिरी हुई दृष्टि एक अधिक प्रशस्त और उदार क्षेत्र में प्रवेश कर सकी।

राष्ट्रीय चेतना तथा देश-भक्ति की भावना भी छायावादी काव्य में यत्र-तत्र मुखरित हुई है। निरालाजी की "जागो फिर एक बार", "गीतिका" का प्रथम गीत 'वर दे, वीणा वादिनि, वर दे' तथा 'भारति जय विजय करे' और प्रसाद जी की "पेशोला की प्रतिध्वनि", "प्रलय की छाया", "भारत-गीत" आदि में राष्ट्रीय स्वाभिमान को ही वाणी मिली है। देखिए, चन्द्रगुप्त नाटक का निम्न प्रयाण-गीत कितना प्रेरणास्पद है :

> हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
> स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती
> अमर्त्य वीर-पुत्र हो दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो
> प्रशस्त पुण्य-पंथ है-बढ़े चलो, बढ़े चलो।[१]

इन राष्ट्रीय गीतों के प्रणयन में पन्त, निराला और प्रसाद के साथ साथ श्री माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, सियारामशरण गुप्त, नवीन, उदयशंकर भट्ट, सुभद्राकुमारी चौहान आदि ने विशेष योग दिया है। इन कवियों पर गांधीजी की अहिंसक राष्ट्रीय चेतना का विशेष प्रभाव रहा, इसलिए इन्होंने तो राष्ट्रीय घटनाओं पर ही अपनी अधिकांश रचनाएँ लिखी और उनमें आत्म-त्याग तथा बलिदान की चेतना ने प्रमुख वाणी प्राप्त की। श्री माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता उक्त चेतना की प्रतिनिधि रचना के रूप में द्रष्टव्य है :

> चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ
> चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ
> चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि, डाला जाऊँ
> चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ
> मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक
> मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।[२]

---

१. चन्द्रगुप्त (तेरहवां संस्करण) : पृष्ठ १७७
२. माखनलाल चतुर्वेदी (राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली) : पृष्ठ ११

इनमें से 'दिनकर,' 'उदयशंकर भट्ट', और 'नवीन' ने तो आगे चलकर प्रगतिशील कविता की भाव-भूमि को भी प्रशस्त बनाया और धर्म-चेतना से सम्पृक्त रचनायें भी लिखीं।

इस राष्ट्रीय चेतना को स्वर देने के साथ ही छायावादी कवि ने विशुद्ध मानवतावादी भावना को भी अनुगुंजित किया है। विश्व कल्याण की उदात्त कामना तो अनेक कविताओं में लहराई है। प्रसाद जी ने तो अपने 'वेदना-प्रधान' 'आँसू' जैसे काव्य में भी लिखा :

> निर्मम जगती को तेरा मंगलमय मिले उजाला।
> इस जलते हुये हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाला[1]

और निराला जी ने भी इस जगत को जगमग बना देने के लिये 'वीणा वादिनी' के सम्मुख अपने प्रार्थना-स्वरों को मुखर किया :

> काट अन्ध उर के बन्धन–स्तर
> बहा जननि ज्योतिर्मय निर्झर
> कलुष-भेद–तम हर प्रकाश भर
> जगमग जग करदे।[2]

अपनी इस भावना की उदात्तता के कारण ही छायावादी कवि ने युगों-युगों की उपेक्षिता नारी को भी गौरव के पद पर प्रतिष्ठित किया। पन्तजी ने उसके रोम-रोम से प्रकट किया[3] और प्रसाद जी ने उसे जीवन की विषमता को समरस बनाने वाली शक्ति के रूप में देखा।[4] लेकिन छायावादी कवि ने नारी के भावमय रूप की ही अभ्यर्थना विशेष की, उसके यथार्थिक शोषित-पीड़ित रूप की ओर उसकी दृष्टि अधिक नहीं गई। निराला जी की मानवमयी दृष्टि ने अवश्य ही

---

१. आँसू (षष्ठम संस्करण) : पृष्ठ ६३
२. गीतिका : (तृतीय संस्करण) : पृष्ठ ३
३. तुम्हारे रोम रोम से नारि,
मुझे है स्नेह अपार।
—पन्त : नारीरूप : पल्लव : पृष्ठ ५१
४. नारी! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास-रजत-नग पगतल में
पीयूष-स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में
—कामायनी (अष्टम संस्करण) : पृष्ठ १०६

'विधवा' तथा 'वह तोड़ती पत्थर' के रूप में नारी के शोषित-पीड़ित रूप को भी अपनी काव्य-चेतना के स्वर समर्पित किए। उनकी दृष्टि तो समाज के 'भिक्षुक' वर्ग की ओर भी गई थी और इस प्रकार उन्होंने उस युग में अपनी सर्वाधिक प्रगतिशील सामाजिक दृष्टि का परिचय दिया था।

छायावादी काव्य में यद्यपि वेदना की विवृति अधिक हुई है, लेकिन आशा उमंग, प्रवृत्ति अन्य अनुराग की भावना प्रसादजी की निम्न पंक्तियों में देखिये :

> तप नहीं केवल जीवन–सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद
> तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आल्हाद।[1]

यहाँ तक कि, अपने जीवन को 'वि   जलजात' समझने वाली महादेवी वर्मा ने भी प्रगति का सन्देश दिया है :

> बाँध लेंगे क्या   यह मोम के बन्धन सजीले ?
> पन्थ की बाधा   ये तितलियों के पर रंगीले ?
> विश्व का क्रन्द   भुला देगी मधुप की मधुर गुन गुन,
> क्या डुबा देंगे तुझे यह फूल के दल ओस गीले ?
> तुम न अपनी छांह को अपने लिये कारा बनाना।
> जाग तुझको दूर जाना।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी काव्य में भी यथार्थ दृष्टि से युक्त प्रगतिशील तत्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। डा० रामविलास शर्मा जैसे मार्क्सवादी आलोचक ने भी छायावाद के इस सबल पक्ष को स्वीकार किया है। उनका निभ्रान्त मत है : "छायावाद ने रीतिकालीन परम्परा से हिन्दी–काव्य को मुक्त किया। प्रकृति–प्रेम, विश्व-बन्धुत्व, नारी के सम्मान की प्रतिष्ठा, अतीत पर गर्व और सामन्ती रूढ़ियों के विरुद्ध व्यक्ति के गौरव की घोषणा–यह छायावाद का सबल पक्ष है। उसने उस भाव–जगत को बदल दिया जो सामन्ती संस्कारों की नींव पर खड़ा हुआ था।"[3]

यथार्थ और प्रगतिशील चेतना की इस धारा ने ही आगे चलकर प्रगतिशील काव्यधारा का रूप ग्रहण किया। अतएव स्पष्ट है कि प्रगतिशील काव्य-धारा कोई आकस्मिक घटना नहीं है। वह पूर्व–प्रचलित काव्य-धारा के ही स्वस्थ तत्वों को

---

१. कामायनी अष्टम संस्करण: पृष्ठ ५५
२. यामा (तृतीय संस्करण) : पृ० २३३
३. सम्पादकीय : समालोचक (यथार्थवाद विशेषांक) फरवरी १९५९ : पृ० १९८

समेट कर बीसवीं सदी के विकसित नवीन परिवेश से प्रेरणा लेती हुई ही प्रभावित हुई है।

छायावाद के ह्रासशील तत्व-पतन के कारण

प्रगतिशील कविता को छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप मे भी ग्रहण किया जाता है। वह इसी अर्थ मे कि उसने छायावाद के स्वस्थ्य तत्वों को अपनाने के साथ ही उसके कतिपय ह्रासशील तत्वों के विरुद्ध विद्रोह भी किया है। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि छायावाद के कतिपय ह्रासशील तत्वों के कारण ही प्रगतिशील कविता को हिन्दी साहित्य में शीघ्र ही प्रतिष्ठित होने मे सहायता मिल सकी।

छाया काव्य की वैयक्तिक चेतना ने जहाँ एक ओर क्रान्तिकारी भूमिका अदा की है, वहाँ, आगे चलकर उसी ने निराशा, पलायन, अमूर्त वायवी कल्पना, अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि और रहस्य के प्रति अस्वाभाविक उत्कंठा को भी जन्म दिया। परिणामतः जीवन के स्थूल धरातल से उसका पूर्णतः संबंध-विच्छेद हो गया। छायावादी कवि केवल कल्पना के लोक मे विचरण करने लगा और 'स्याही का बूंद' जैसे विषय को भी इस प्रकार निरर्थक काल्पनिक उपमानों से अलंकृत करने लगा।

> मौन का-सा यह नीरव तार
> ब्रह्म-माया का सा संचार
> सिन्धु-सा घट में,-यह उपहार
> कल्पना ने क्या दिया अपार,
> कली में छिपा वसंत-विकास ?[१]

इधर जीवन कठोर से कठोरतर रूप ग्रहण करता जा रहा था। आर्थिक तथा सामाजिक विषमतायें मनुष्य की चेतना को आहत किए जा रही थीं। ऐसी अवस्था मे जीवन से उदासीन कला का अन्त होना स्वाभाविक ही था। छायावाद के उन्नायक श्री सुमित्रानंदन पंत ने ही ऐसी अवस्था में उसका साथ छोड़ दिया। उन्होंने उसके पतन के मूल कारणों का विवेचन करते हुए लिखा है. "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध और नवीन विचारों का रस नही था। वह काव्य

---

१. पंत : पल्लव : पृष्ठ ७६

न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।............उसमें व्यावसायिक क्रान्ति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्न-वस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। उसके 'ह्रास-युग आशाऽकांक्षा' 'खाद्य मधु-पानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भाव प्रधान (सब्जेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक और आवरण-मात्र रह गया।"[1]

श्री रामधारीसिंह दिनकर ने भी अपने निबन्ध 'कोमलता से कठोरता की ओर' में छायावाद के पतन के कारणों की विवेचना की है। उनके मतानुसार छायावाद के पतन के मूल कारण निम्नलिखित हैं :—

१. छायावादी कवियों की वैयक्तिकता की धुन,
२. बौद्धिकता का प्रसार,
३. भावुकता और रुदनशीलता,
४. वास्तविकता की उपेक्षा,
५. सजावट का मोह,
६. काव्य-चित्रों में उस पारदर्शिता का अभाव जिसके भीतर से जीवन को देखा जा सके।[2]

इस प्रकार, पूर्व प्रचलित यथार्थ की परम्परा और छायावाद के कतिपय अतिवादी ह्रासशील तत्व—दोनों ने प्रगतिशील कविता की प्रवृत्ति के विकास में प्रेरणा का कार्य किया है। श्री भोलानाथ तिवारी की धारणा है कि प्रगतिशील कविता को लोकप्रिय बनाने में छायावाद की विषयगत और शैलीगत कुछ कमजोरियों का प्रधान स्थान है।[3]

प्रगतिशील कविता : उद्भव और स्थापना

ऐसी परिस्थितियों में साहित्यकारों और कवियों का ध्यान प्रगतिशील सामाजिक चेतना की ओर अधिकाधिक आकर्षित होने लगा। प्रेमचन्दजी ने अपने 'जागरण' एवं 'हंस' पत्र के द्वारा साहित्य के क्षेत्र में इस समानवादी सामाजिक चेतना को प्रसारित करने का महान कार्य किया। उन्होंने तो सन् १९३४ में ही २८

---

१. शिल्प और दर्शन : पृष्ठ ४३-४४
२. काव्य की भूमिका : पृष्ठ ७५-७८,
३. हिन्दी साहित्य : पृष्ठ ११७-११८,

जनवरी के 'जागरण' के सम्पादकीय में साम्यवादी चेतना का प्रतिपादन करते हुए लिखा था : "साम्यवाद का विरोध वही तो करता है जो दूसरों से ज्यादा सुख भोगना चाहता है, जो दूसरों को अपने अधीन रखना चाहता है। जो अपने को भी दूसरों के बराबर समझता है, जो अपने में कोई सुर्खाब का पर लगा हुआ नहीं देखता, जो समदर्शी है, उसे साम्यवाद से विरोध क्यों होने लगा ?" सन् १९३५ में पेरिस में होने वाले विश्व के प्रगतिशील लेखकों के सम्मेलन ने भी उस समय साहित्यकारों का ध्यान इस समाजवादी प्रगतिशील चेतना की ओर आकृष्ट किया। उसी की प्रेरणा से तथा डा० मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर के प्रयत्नों से प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। सन् १९३६ में लखनऊ में इस संघ का प्रथम अधिवेशन श्री प्रेमचन्दजी के सभापतित्व में हुआ। इस सम्मेलन को प्रेमचन्दजी ने 'साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना' बताया[1] और साहित्य के उद्देश्य पर विचार प्रकट करते हुए यह घोषणा की कि " ... हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो–जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[2] सन् १९३७ के मार्च के माह के 'विशाल भारत' में श्री शिवदानसिंह चौहान ने 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक एक लेख भी लिखा, जिसमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार उन्होंने कहा कि—"......कला कला के लिये नहीं वरन् संसार को बदलने के लिए है। इस नारे को बुलन्द करना प्रत्येक प्रगतिशील साहित्यिक का फर्ज है।" श्री इलाचन्द्र जोशी ने भी 'छायावादी कविता' के विनाश की उद्घोषणा की। 3

---

१. कुछ विचार : भाग १ (चतुर्थ संस्करण) पृष्ठ ५,
२. कुछ विचार : पृष्ठ २१,
३. "छायावादी कविता का विनाश क्यों हुआ ?" शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा : 'व्यक्तिगत रूप से मेरी यह ध्रुव धारणा है कि छायावादी कविता मूलतः विनष्ट हो चुकी है और साथ ही मैं यह विश्वास करता हूँ कि जिन लोगों की दृष्टि में कोई खराबी नहीं आई है, वे मेरी इस बात से पूर्णतः सहमत होंगे। काल वास्तव में भूतकाल की हो गई है। तीन चार वर्ष पहले ही 'मृतप्राय' हो चुका है।"
—विवेचना (द्वितीय संस्करण) : पृष्ठ ४१ से उद्धृत.

काव्य के क्षेत्र में छायावादी युग के अन्त की सूचना 'युगान्त' से मिलती है। पन्तजी की इस कृति में 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण-पत्र', 'गा कोकिल वरसा पावक-कण', 'गर्जन कर मानव–केशरि', 'बांसों का झुरमुट', 'ताज', 'मानव' आदि ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें स्पष्ट ही छाया-युगीन भावधारा से भिन्न एक नवीन चेतना का दर्शन होता है। कवि ने 'जीर्ण पत्र' को निष्प्राण 'विगत युग' का प्रतीक माना और उससे झर जाने का आग्रह किया।[1]

अपनी दूसरी कविता में तो कवि ने 'कोकिल' को नवीन चेतना की अग्रदूतिका के रूप में मानकर विद्रोह का ही आमन्त्रण दे दिया :

> गा, कोकिल, बरसा पावक-कण।
> नष्ट–भ्रष्ट हो जीर्ण–पुरातन
> ध्वंस-भ्रंश जग के जड़-बन्धन।
> पावक-पग धर आवे नूतन,
> हो पल्लवित नवल मानवपन।[2]

इसी संदर्भ में श्री भवानीप्रसाद मिश्र की जनवरी, १९३० में लिखी गई 'कवि' शीर्षक कविता उल्लेखनीय है। इस कविता में कवि ने बड़ी ही सफाई के साथ प्रगतिशील काव्य-चेतना के भाव एवं कला–दोनों पक्षों की मूल विशेषताओं को सुन्दर अभिव्यक्ति दी है। निम्न पक्तियाँ दृष्टव्य हैं :

> कलम अपनी साध,
> और मन की बात बिलकुल ठीक कह एकाध।
> ये कि तेरी भर न हो तो कह,
> और कहते बने सादे ढग से तो वह।
> जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख,
> और इसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख।

---

१. निष्प्राण विगत युग। मृत विहंग, जग-नीड़ शब्द औ श्वास-हीन,
च्युत, अस्त-व्यस्त पंखों-से तुम झर झर अनन्त में हो विलीन।
कंकाल–जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर,—पल्लव-लाली
प्राणों की मर्मर से मुखरित जीवन की मांसल हरियाली।
—युगान्त (पृ० सं०) : पृ० २

२. युगान्त : पृष्ठ ३

बीज ऐसा दे कि जिसका स्वाद सिर चढ़ जाए
बीज ऐसा बो कि जिसकी बेल बन चढ़ जाए।
फल लगें ऐसे कि सुख-रस, और समर्थ
प्राण-संचारी कि शोभा भर न जिसका अर्थ।[1]

इस कविता में कवि ने 'यह कि तेरी भर न हो तो कह' के द्वारा स्पष्ट ही छायावाद की निगूढ़ वैयक्तिक चेतना का ही विरोध कर सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि को महत्व दिया है और जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख, और इसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख'—पंक्तियों के द्वारा प्रगतिशील कविता के कला अथवा शिल्प पक्ष की सरलता, लेकिन साथ ही सौन्दर्य-समन्वित भाषा का प्रतिपादन किया है।

श्री रामधारीसिंह दिनकर की कविताओं में सन् १९३१ के आसपास से ही भारतीय समाज के वर्ग-वैषम्य के विरुद्ध आक्रोशमयी ललकार गूंजने लगी गई थी उनकी 'कस्मै देवाय' शीर्षक प्रसिद्ध रचना १९३९ ई० की ही सृष्टि है जिसमें कि उनकी क्रान्तिकारी वर्ग-चेतना का स्पष्ट स्वरूप झलकता है :

क्रान्ति धात्रि कविते, जग, उठकर आडम्बर में आग लगादे
पतन, पाप, पाखण्ड जलें, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।
विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है
अरी हृदय को थाम, महल के लिए झोपड़ी बलि होती है।[2]

उनकी सन् १९३१ मे लिखी गई 'कविता की पुकार', सन् १९३७ की 'हाहाकार' और सन् १९३८ की 'विपथगा' में भी शोषित-पीड़ित मानवता की पीड़ा के साथ ही भावोच्छ्वास जनित विद्रोह-ज्वाला का भी स्वरूप व्यक्त हुआ है।

सन् १९३४ में प्रकाशित श्री रामेश्वर 'करुण' की 'करुण-सतसई' के ७०० (सात सौ) दोहों के संग्रह में भी साम्यवादी भावना से उत्प्रेरित शोषित पीड़ित मानवता के प्रति हार्दिक संवेदना प्रकट हुई है। कवि ने इसमें साम्यवादी समाज की स्थापना में ही जग की अगाध व्याधि का सही निदान माना है।[3]

---

१. गीत फरोश : पृष्ठ १
२. चक्रवाल : पृष्ठ १६
३. जब लौ श्रम अरु उपज को, होत न साम्य-विभाग
बुझे-बुझाए किमि कहो, यह अशान्ति की आग
है न भयो है है नहीं, साम्यवाद सम आन।
जग की व्याधि अगाध को, साँचो सही निदान

✓ सन् १९३८ तक तो भगवतीचरण वर्मा, नवीन, सुधीन्द्र, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, दयशंकर भट्ट आदि कवियों की दृष्टि भी धरती के यथार्थ की ओर आकर्षित हो ली थी और वे दलित वर्ग के प्रति अपने उच्छ्वास की व्यञ्जना करने लग गये थे। राशा के सागर में ऊब डूब करने वाले बच्चनजी ने भी उस समय तो मानव के रव की स्थापना करते हुये लिखा था :

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर।[1]

श्री नरेन्द्र शर्मा ने भी 'प्रवासी के गीत' के वक्तव्य में उस समय के युग-वन में व्याप्त असन्तोष तथा निराशा की सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की और इस हिष्णु निराशा से बचने के मार्ग का उल्लेख इन शब्दों में किया : "उसे अपनी ा करने के लिये सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के साथ चलना होगा, दोनों में शान्ति उपस्थित करने के लिए उसे पूरा सहयोग देना होगा।"[2]

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में इस सामाजिक यथार्थ एवं क्रान्तिकारी चेतना को वस्थित रूप देने की दृष्टि से श्री सुमित्रानन्दन पंत तथा नरेन्द्र शर्मा के सम्पादकत्व सन् १९३८ में 'रूपाभ' का प्रकाशन हुआ। इस पत्रिका के प्रथम अंक के पादकीय में ही तद्युगीन परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष ाला गया कि-'इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार ग्रहण कर या है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है र काव्य की स्वप्न जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप हम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ है।"

रहस्य और स्वप्न के लोक में अन्तर्मग्न रहनेवाली महादेवी वर्मा भी इस -चेतना से अप्रभावित न रह सकीं। यद्यपि वे स्वयं अपने काव्य में सामाजिक र्थ की किसी सजीव मूर्ति का अंकन कर सकने में असमर्थ रहीं, लेकिन उन्होंने श्य स्वीकार किया कि—'इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, -द्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का

एकान्त-संगीत : पृष्ठ ११८ [प्रथम संस्करण]
वक्तव्य, प्रवासी के गीत (चतुर्थ संस्करण) पृ० १
रूपाभ, वर्ष १, संख्या १, जुलाई १९३८ : पृष्ठ ११

अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह अध्ययन मे मिली जीवन की मिली चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण संवेदन-शक्ति के साथ जीवन मे घुलमिल जावे। उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा आज गौण है, उसकी केवल व्यक्तिगत हार-जीत आज मूल्य नही रखती, क्योंकि उसके सारे व्यष्टिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है।" [1]

यह विवेचन इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि सन् १९३० के आस-पास से ही हिन्दी कविता में एक नवीन सामाजिक चेतना का प्रादुर्भाव होने लग गया था। यह अवश्य है कि उस समय उसका व्यक्तिगत रूप स्पष्ट नही हो सका था। उसमें भावोच्छ्वास की मात्रा भी अधिक थी और उसकी दृष्टि मे गन्तव्य का निश्चित स्वरूप नही उभर पाया था। लेकिन क्रमशः इस प्रवृत्ति ने ही अधिक विकसित होकर सन् १९३६ के बाद 'प्रगतिशील कविता' का एक व्यवस्थित रूप ग्रहण किया है।

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य : पृष्ठ २६६

३

साहित्य : प्रगतिशील मान्यताएँ

आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता विभिन्न देशी तथा विदेशी साहित्य-समीक्षकों एवं लेखकों द्वारा मार्क्सवादी मानदंडों के आधार पर प्रस्तुत साहित्य की विभिन्न प्रगतिशील मान्यताओं से भी एक बड़ी सीमा तक अनुप्रेरित एवं अनुप्राणित हुई है। इन मान्यताओं ने जहाँ एक ओर हिन्दी कविता को एक विशिष्ट दिशा की ओर उन्मुख किया, वहीं, दूसरी ओर उसके लिये एक सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार की भी प्रतिष्ठा की।

विदेशी साहित्य में इस प्रकार की प्रगतिशील मान्यताओं की स्थापना करने वाले लेखकों में प्लेखनोव, कॉडवेल, राल्फ फाक्स, मेक्सिम गोर्की, जार्ज थाम्सन, हावर्ड फास्ट, जेम्स टी फेरेल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-साहित्य में, मार्क्सवाद को आधार बनाकर, साहित्य की प्रगतिशील मान्यताओं की प्रस्थापना का कार्य १९३६ के आस पास से होने लगा। सन् १९३६ में हुए प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ-अधिवेशन के सभापति-पद से दिए गए प्रेमचन्दजी के भाषण में ही इस प्रकार की प्रगतिशील मान्यताओं की एक झलक देखी जा सकती है। अपने इस भाषण में प्रेमचन्दजी ने साहित्य के वर्ग-आधार को स्पष्ट रूप से निर्देशित करते हुए कहा था-"जो दलित हैं, पीड़ित है, वंचित है-चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।"[1] इसी प्रकार उन्होंने सौन्दर्य को भी वर्ग-सापेक्ष रूप में ही देखा था[2] और वे स्वयं कला को

---

१. कुछ विचार-पृष्ठ ९

२. "परन्तु सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दु:ख का कारण हो सकती है।"-कुछ विचार-पृष्ठ १४

"उपयोगिता की तुला" पर तौलना ही अधिक उचित समझते थे।[1] निश्चय ही प्रेमचन्दजी के ये सब निष्कर्ष मार्क्सवादी मानदंडों के अधिक निकट थे यद्यपि उनके अन्य कई निष्कर्ष पूर्णतः मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से मेल नहीं खाते लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उस समय तक उनका दृष्टिकोण मार्क्सवाद से प्रभावित अवश्य हो चुका था। इसके पश्चात तो मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि के आधार पर लिखी जाने वाली समीक्षाओं की बाढ़ सी आ गई। समीक्षक ग मार्क्सवाद के आधार पर साहित्य की नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत कर प्रगतिशील मान्यताओं को स्पष्ट रूपरेखा प्रदान करने लगे और इस प्रकार हिन्दी साहित्य की प्रग को एक विशिष्ट दिशा की ओर उन्मुख करने के प्रयत्न में जुट गए। इस प्रकार कुछ प्रमुख समीक्षकों एवं लेखकों के नाम निम्नानुसार हैं : श्री शिवदानसिंह चौहान डा० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रांगेय राघव, श्री अमृतराय डा० नामवरसिंह आदि।

उक्त देशी तथा विदेशी साहित्य समीक्षकों द्वारा विवेचित साहित्य की मुख प्रगतिशील मान्यताओं को संक्षेप में निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत स्पष्ट किया ज सकता है:—

साहित्य का सामाजिक प्रयोजन

साहित्य की प्रगतिशील धारा में साहित्य के सामाजिक प्रयोजन पर सर्वाधि बल दिया गया है। साहित्य और कला की मनोविश्लेषण सम्बन्धी तथा कलावा धारायें, इसके विपरीत, साहित्य और कला के समाज-निरपेक्ष तथा अन्तरंग मूल्य को ही प्रतिपादित करती रही हैं। उदाहरण के लिए ब्रैडले काव्यानुभव को स्व अपना साध्य और अपने ही कारण ग्राह्य मानता है और काव्य मूल्य को ए अन्तरंग गुण के रूप में ही स्वीकृति प्रदान करता है।[2] हिन्दी साहित्य के प्रमु समीक्षक डा० नगेन्द्र भी साहित्यकार का एक लेखक के रूप में दायित्व केवल निष्ठ

---

1. "मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भ उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। ..... फूलों को देखकर हमें इसलिए आन होता है कि उनसे फलों की आशा होती है ......।"-कुछ विचार-पृष्ठ १४
2. .. ...यह अनुभव स्वयं अपना साध्य है, वह अपने ही कारण ग्राह्य है, वह अप उसका अंतरंग मूल्य है। दूसरे यह कि इसका काव्य-मूल्य यह अन्तरंग गुण है। ब्रैडले : पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा – पृष्ठ २१३ से उद्धृत

या साहित्य को सामाजिक उद्देश्य या उपयोग से अलग नहीं किया जा सकता, ये दोनों *आवश्यक अंग हैं।*"

इस प्रकार प्रगतिशील मान्यता 'कला कला के लिए'–सिद्धान्त के प्रति तिरस्कार की व्यन्जना करती है और किसी भी झिझक के यह घोषित करती है कि 'कला कला के लिए नहीं, मनुष्य के लिए है।"[1] अतएव उसके मतानुसार "जनता ही साहित्य की कसौटी है।"[2] और कला की जो कृति दर्शक को गतिमान और सक्रिय नहीं कर पाती उसका कृतित्व असफल और असिद्ध है।"[3] साहित्य के मूल प्रेरणा-तत्व के रूप मे भी वे 'जन-शक्ति' को ही महत्व देते हैं। उनकी दृढ़ धारणा है कि 'लेखक में शक्ति जनता से आती है, जनता के साथ उसका सम्बन्ध जितना ही घनिष्ठ होता है, उसमे उतनी ही अधिक रचना-शक्ति आती है और उसकी रचना में उतना ही अधिक सौन्दर्य बढ़ता है।"[4]

"कला मनुष्य के लिए है"–केवल इस कथन से प्रगतिशील मान्यता की एक स्थूल झलक मात्र ही मिलती है, उसका वास्तविक सामाजिक प्रयोजन स्पष्ट नहीं होता। मार्क्सवादी दृष्टि के अनुसार यह समाज-वर्ग विभक्त है। एक वर्ग वह होता है जो कि समाज में अपनी ऐतिहासिक भूमिका को अदा कर चुका होता है और अन्ततः प्रतिक्रिया की शक्तियों को ही अपना सम्बल प्रदान करता है। दूसरा वर्ग भविष्य की क्रान्तिकारी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है और परिणामतः इतिहास की विकासोन्मुख गति को अधिक तीव्र और क्षमता सम्पन्न बनाता है। प्रगतिशील साहित्य और कला–इसी दूसरी वर्ग की–जो कि प्रायः शोषित पक्ष का होता है–आकांक्षाओं और अभिलाषाओं को मूर्त रूप प्रदान करता है। अतएव प्रगतिशील मान्यता के अनुसार 'मानवता' भी वर्ग–विभक्त है। अभी तक वर्ग-विहीन मानवता का जन्म नहीं हुआ है। इसलिए वह शोषित वर्ग की मानवता का पक्ष लेना ही उचित समझती है। १९४९ ई० के हिन्दुस्तान के प्रगतिशील लेखकों का नया घोषणा पत्र' में इस प्रगतिशील मान्यता को बड़ी स्पष्टता के साथ वाणी दी गई है। साहित्य के सामाजिक प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुये इसमें कहा गया है

१. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड–डा० रांगेय राघव–पृष्ठ ३०६
२. समीक्षा और आदर्श–डा० रांगेय राघव–पृष्ठ ५०
३. साहित्य और कला–(१९६०)–डा० भगवतशरण उपाध्याय–पृष्ठ १०
४. श्री नामवरसिंह–आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ (नया संस्करण :१९६२) –पृ० १२२

"साम्राज्य-विरोधी संघर्ष में साहित्य निष्क्रिय नहीं रह सकता, उसे पूर्ण स्वाधीनता और जनतन्त्र की लड़ाई में जनता को जगाना चाहिये, राह दिखाना चाहिये, उसे साधारण जनता की आकांक्षाओं का चित्रण करना चाहिये, उस जनता का जिसका शोषण केवल विदेशी साम्राज्यवाद ही नहीं बल्कि देशी पूँजीपति, राजे रजवाड़े, जमींदार-जागीरदार सब करते हैं।"[1]

इस उक्त विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिशील मान्यता साहित्य के सोद्देश्य रूप को ही अंगीकृत करती है और प्रगतिशील लेखक सचेत रूप से संगठित होकर साहित्य की इस सोद्देश्य परम्परा की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते हैं।[2]

साहित्य और यथार्थ

प्रगतिशील मान्यता यथार्थ के सामाजिक रूप को ही मान्य करती है और साहित्य और कला को इस सामाजिक यथार्थ की ही उद्भूति मानती है। उसकी दृष्टि में कला और साहित्य सामाजिक यथार्थ से कोई पृथक अस्तित्व नहीं रखते। वह तो उन्हें सामाजिक यथार्थ के ही एक विशिष्ट प्रतिबिम्ब के रूप में ग्रहण करती है।[3] इसलिए प्रगतिशील समीक्षक किसी भी युग के कलाकार और साहित्यकारों की प्रतिभा, ईमानदारी और उनकी कृतियों की कलात्मक श्रेष्ठता परखने की वैज्ञानिक कसौटी भी यही मानते हैं कि उन्होंने अपने युग-जीवन की वास्तविकता या सत्य का कितना यथार्थ और मूर्त चित्रण किया।[4]

प्रगतिशील मान्यता यथार्थ के फोटोग्रैफिक अथवा नग्न या प्राकृतवादी रूप से अपना घोर विरोध प्रदर्शित करती है। यथार्थ का प्राकृतवादी दृष्टिकोण यथा-तथ्य चित्रण को अधिक महत्व प्रदान करता है और यथार्थ के एकांगी एवं मुख्य पक्ष को विशेष आकर्षण के साथ अपनाता है। लेकिन सामाजिक यथार्थवाद का दृष्टिकोण जीवन-वास्तव को गतिहीन और एकांगी नहीं, बल्कि बहुमुखी, वैविध्यपूर्ण,

---

१. हंस : जुलाई १९४९ : पृष्ठ ६०४

२. विराम चिन्ह—डा० रामविलास शर्मा—पृष्ठ २११

3 "......It would also seem quite obvious that art is not an entity in itself apart from social reality, but rather a particular reflection of social reality"

—Literature and Reality : Howard Fast : Page 72.

४. साहित्य की समस्यायें—श्री शिवदानसिंह चौहान : पृष्ठ २२

नानारूपात्मक और विकासमान मानता है।[१] इस दृष्टिकोण के अनुसार इस वैविध्यपूर्ण तथा नानारूपात्मक यथार्थ का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना—हर घटना या तथ्य का चाहे उसका कुछ महत्व हो या नहीं, वर्णन करना न तो सम्भव ही है और न आवश्यक ही। यह तो यथार्थ के चित्रण में विषय वस्तु का निर्वाचन, कुछ तत्वों का चित्रण, कुछ की उपेक्षा, यह साहित्य का मूल नियम मानता है।[२] यथार्थ के प्राकृतवादी रूप का प्रगतिशील मान्यता इसलिए भी विरोध करती है क्योंकि वह अपनी एकांगी दृष्टि के कारण सिर्फ सतह पर की चीजों को देखता है, सतह के नीचे काम करने वाली क्रांतिकारी शक्तियों को नहीं देखता।[३] इससे विपरीत सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि का वह समर्थन करती है, क्योंकि यह दृष्टि जीवन को उसके सर्वांगीण रूप में देखती है। वह जीवन-वास्तव की ह्रासोन्मुखी शक्तियों के साथ ही साथ प्रगतिशील तथा क्रान्तिकारी शक्तियों का भी उद्‌घाटन करती है। वस्तुतः वह तो जीवन-वास्तव की ह्रासोन्मुखी शक्तियों की अपेक्षा प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी शक्तियों को ही अधिक महत्व प्रदान करती है। उसके मतानुसार तो वे ही शक्तियाँ युग सत्य की प्रतिनिधि हैं, जो कि इतिहास मंच पर नये युग की भूमिका का आरम्भ करती हुई आगे बढ़ती आती हैं।[४] इसीलिए प्रगतिशील समीक्षक *आस्था के साहित्य को ही श्रेष्ठ साहित्य मानते हैं। उनका मत है कि* "श्रेष्ठ साहित्य सदा से मनुष्य में और जीवन में आस्था का साहित्य रहा है।"[५]

प्रगतिशील मान्यता इस सामाजिक यथार्थ को वर्ग सापेक्ष रूप में ही देखती है। मार्क्सवाद की यह मूल धारणा रही है कि आज तक के समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। हाँ, आदिम युग अवश्य ही इसका अपवाद है। अतएव मार्क्सवाद से प्रभावित समीक्षकगण भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि जीवन का हर क्षेत्र और हर स्तर इस वर्ग-समाज की विषमता से अभिभूत है। कला और साहित्य भी इस वर्ग-वैषम्य की भावना से अछूते नहीं बचे हैं। कला

---

१. वही : पृष्ठ १७१

२. यथार्थ जगत और साहित्य—डा० रामविलास शर्मा : समालोचक—फरवरी १९५९ —पृष्ठ ८४

३. नयी समीक्षा—श्री अमृतराय—पृष्ठ ४९

४. साहित्य की समस्यायें—श्री शिवदानसिंह चौहान—पृष्ठ ६६

५. हंस (साहित्य संकलन)—१ (१९५७), साहित्यकार की आस्था (४) प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त पृ० ४१

और साहित्य के प्रति दो विरोधी दृष्टिकोण इसी वर्ग-समाज की देन है। वस्तु इस वर्ग-वैषम्य ने ही मनुष्य के व्यक्तित्व और जीवन को खण्डित कर डाला है।[१] इसीलिए हावर्ड फास्ट का यह मत है कि समाजवादी समाज में रचे जाने वाले साहित्य के अतिरिक्त अन्य संपूर्ण साहित्य वर्ग साहित्य ही है।[२] लेकिन इस दृष्टिकोण का तात्पर्य यह नहीं कि प्रगतिशील मान्यता के अनुसार यथार्थ केवल वर्ग-संघर्ष तक ही सीमित है। कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने 'उत्तरा' की प्रस्तावना में प्रगतिशील विचारकों पर इस प्रकार का आरोप लगाया है। उन्होंने लिखा है- "हमारे कतिपय प्रगतिशील विचारक प्रगतिवाद को वर्ग युद्ध की भावनाओं से सम्बद्ध साहित्य तक ही सीमित रखना चाहते हैं, उन्हें इस युग की अन्य सभी प्रकार की प्रगति की धाराएँ प्रतिक्रियात्मक, पलायनवादी, सुधार-जागरण-वादी तथा युग-चेतना से पीड़ित दिखाई देती हैं।"[३] लेकिन अनेक प्रगतिशील विचारकों ने ही यथार्थ की इस सीमित दृष्टि का विरोध किया है। डा० रामविलास शर्मा ने ही अपने 'यथार्थ जगत और साहित्य' शीर्षक लेख में लिखा है : "यथार्थवाद को सीमित अर्थ में लेना अनुचित है। उसमें सामाजिक समस्याओं के चित्रण के अलावा प्रकृति-चित्रण भी हो सकता है, संघर्ष के चित्रण के अलावा प्रेम के मूलक भी लिखे जा सकते हैं। मनुष्य के सौन्दर्य-बोध में जो परिवर्तन होते हैं, वे प्रत्यक्ष रूप से यथार्थ-चित्रण से असंबद्ध होते हुये भी कम महत्वपूर्ण नहीं होते हैं।"[४]

इस सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण की एक अन्य विशेषता इस बात में निहित है कि वह यथार्थ के वस्तुगत सत्य तथा आत्मगत सत्य-दोनों को उनकी परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाशील अवस्था में ग्रहण करता है। इसीलिए साहित्य या कला में व्यक्त यथार्थ का रूप वस्तुगत यथार्थ के रूप से कुछ भिन्न होता है।[५] राल्फ फाक्स ने अपनी आलंकारिक भाषा में इसी तथ्य की विवेचना करते हुए लिखा है : "साहित्यकार यथार्थ के लौह-घन को अपनी आन्तरिक चेतना की भट्ठी में डालकर

---

१. साहित्य की समस्याएँ-श्री शिवदानसिंह चौहान-पृष्ठ ६८
2. Literature and Reality : Howard Fast : 24 Page 24
३. शिल्प और दर्शन-श्री सुमित्रानन्दन पंत-पृष्ठ ६९
४. समालोचक (यथार्थवाद विशेषांक)-फरवरी १९५९-पृष्ठ ८७
5. "It would be an error to assume that the literary nature of reality automatically coincides with the objective nature of reality."—Literature and Reality : Howard Fast , Page 14.

बनाया है, उसे अपने उद्देश्य के अनुकूल नवीन रूप में ढालता है और अपने विचारों के बल से उसे खूब पीटता है।"[1] अतएव स्पष्ट है कि वास्तविक जीवन का संपूर्ण, यथार्थ और मूर्त चित्र अंकित करने के लिए साहित्यकार के लिए यह आवश्यक है कि वह *जीवन के साथ गहरा तथा सक्रिय संपर्क स्थापित करे, केवल उसका तटस्थ* एवं निरपेक्ष दृष्टा ही न बना रहे।[2]

साहित्य में आर्थिक तत्व की भूमिका

मार्क्सवादी तत्व-चिन्तन के अनुसार साहित्य और समाज का मूलाधार आर्थिक व्यवस्था है। मार्क्स ने सामाजिक जीवन को 'वास्तविक नींव' आर्थिक ढांचे को ही बताया है। उसके मतानुसार इसी नींव पर विधि, राजनीति आदि का भवन *निर्मित होता है और सामाजिक चेतना के विविध रूप भी उसी के अनुकूल* होते हैं। उसने लिखा है-"लोग जो सामाजिक उत्पादन का कार्य करते हैं, उसमें उनके बीच कुछ निश्चित सम्बन्धों की स्थापना हो जाती है। ये सम्बन्ध अनिवार्य तथा उनकी इच्छा से निरपेक्ष रहते हैं। वे उत्पादन-सम्बन्ध उनकी उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित अवस्था के अनुकूल होते हैं। इन *उत्पादन-सम्बन्धों की समष्टि से ही समाज का आर्थिक ढांचा निर्मित होता है और* सामाजिक चेतना के विशिष्ट रूप भी इसी के अनुरूप होते हैं। साधारणतः भौतिक जीवन में उत्पादन की पद्धति के द्वारा सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन-प्रक्रियायें निर्धारित होती हैं। मनुष्य की चेतना के द्वारा उसकी सत्ता निरूपित नहीं होती, वरन उसकी सामाजिक सत्ता ही उसकी चेतना का निर्धारण करती है।"[3] मार्क्सवाद को इस तत्व-चिन्तन के आधार पर ही प्रगतिशील समीक्षकों ने भी साहित्य और कला को अनुप्रेरित एवं विकसित करने वाली मूल शक्ति के रूप में आर्थिक तत्व को ही मान्यता प्रदान की। प्रमुख मार्क्सवादी समीक्षक काडवेल ने काव्य का मूलाधार जातीय, राष्ट्रीय अथवा साम्प्रदायिक न मानकर आर्थिक ही माना है।[4]

---

1. The Novel and the People : Ralf Fox : Page 37
२. साहित्य की समस्यायें—श्री शिवदानसिंह चौहान—पृष्ठ ६६-६७
3. Literature and Art : Karl Mark & Engels : Page 1.
4. Poetry is to be regarded then, not as something social, national, genetic or specific in its essence but as something economical".

—Caudwell : Illusion and Reality : Page 14.

अन्य निबन्ध Rhythm and Labour में यूरोप के भू-भाग में प्रचलित श्रम-गीतों का उदाहरण देते हुए लेखक ने लिखा है कि "इनका कार्य श्रम-उत्पादन को अधिक लयात्मक एवं "हिप्नोटिक" रूप देकर उसकी गति को अधिक तेज बनाना है। सूत कातने वाला इस विश्वास के साथ गीत गाता है कि इसका गायन चरखे के घूमने में सहायता प्रदान करेगा।"[1] इस प्रकार मार्क्सवादी प्रगतिशील मान्यता साहित्य और कला का आर्थिक-व्यवस्था से बड़ा गहरा सम्बन्ध मानती है।

मार्क्सीय दृष्टि के अनुसार आर्थिक तत्व की इस मूलाधारगत नियामक भूमिका को स्वीकार करने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सामाजिक जीवन के अन्य भावधारागत तत्व-जैसे, न्यायिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, कलात्मक आदि पूर्णतः निष्क्रिय रहते हैं अथवा उनका कोई महत्व नहीं है। यद्यपि मार्क्सवादी दर्शन यह अवश्य प्रतिपादित करता है कि जब समाज के भौतिक जीवन का विकास समाज के सम्मुख नवीन कर्तव्यों को उपस्थित करता है, तभी नवीन सामाजिक भाव एवं विचार-धाराओं का उद्भव होता है। लेकिन साथ ही मार्क्सवाद इस तथ्य को भी पूर्णता स्वीकार करता है कि ये भावधारागत तत्व एक बार उद्भूत हो जाने के बाद एक अत्यन्त प्रबल शक्ति के रूप में परिणत हो जाते हैं और समाज के भौतिक जीवन के विकास द्वारा प्रस्तुत किए गए नवीन कर्तव्यों के सम्पादन में सहायक होते हैं तथा समाज की प्रगति को सुगम बनाते हैं।[2] एंगेल्स ने भी आर्थिक आधार तथा अन्य भावधारागत तत्वों के पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियात्मक स्वरूप को स्वीकार करते हुए भावधारागत तत्वों के महत्व को स्पष्ट स्वीकृति प्रदान की है। उसने एक स्थान पर लिखा है :—"राजनीतिक, न्यायिक, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक आदि का विकास आर्थिक विकास पर आधारित होता है लेकिन इन सब की एक दूसरे पर और आर्थिक आधार पर भी प्रतिक्रिया होती है। यह गलत है कि आर्थिक स्थिति ही कारण और अकेली गतिशील होती है तथा अन्य सब का प्रभाव निष्क्रिय ही होता है।"[3] कार्ल मार्क्स ने भी विचार-धारा को एक भौतिक शक्ति के रूप में ग्रहण करते हुए लिखा है:"सिद्धान्त जैसे ही जनता के हृदय पर अधिकार कर लेता है, एक भौतिक शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है।"[4]

1. Literature and Art : — : Page 15
2. H. C. P. S. U. (Eng. Ed. : 1950) : Page 142-43
3. Literature and Art : Page 8
4. H. C. P, S. U. : Page 143

भिन्न-भिन्न भाव-धाराएँ अपने आर्थिक आधार से भिन्न-भिन्न मात्राओं में सम्बद्ध तथा स्वतन्त्र रहती हैं। उदाहरण के लिए न्याय के सिद्धान्त आर्थिक आधार के अधिक निकट रहते हैं। उत्पादन पद्धति के बदलते ही, वे भी बड़ी सरलता से बदल जाते हैं।[1]

इसी प्रकार विज्ञान और उत्पादन-पद्धति का भी सीधा सम्बन्ध होता है। वैज्ञानिक विकास तो आर्थिक आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप ही हुआ था।[2] लेकिन साहित्य और कला पर आर्थिक सम्बन्धों का इतना स्पष्ट और सीधा प्रभाव नहीं दिखाई देता।[3] कला और साहित्य में मनुष्य 'इन्द्रिय-बोध' और 'भावों का संसार' विशेष रूप से अभिव्यक्ति पाता है और डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में "मनुष्य के इन्द्रिय-बोध और भावों का संसार उसके आर्थिक जीवन से बहुत कुछ स्वतन्त्र है, सापेक्ष रूप से स्वतन्त्र है, आर्थिक जीवन से नियमित होता है लेकिन उसकी सीधी प्रतिच्छवि नहीं है।"[4] कई बार तो धर्म, दर्शन या परम्पराएँ कला-कृति को प्रभावित करने में अधिक नियामक भूमिका अदा करती हैं।[5]

---

1. "And Law is perhaps the most responsive part of the ideal superstructure, it changes most easily in accordance with changes in the mode of production.

   —The Novel and the people : Ralf Fox : Page 30

2. "......A direct relationship does exist between science and production......scientific development was called forth by economic needs."

   —*Social Roots of the Art : Louis Harap (1949) : Page 14*

3. "But Art is much farther from the basis, responds far less easily to the changes in it."

   —The Novel and the people : Ralf Fox : Page 3o

४. हंस (साहित्य-संकलन) – (१९५७) : पृष्ठ २६

5. "He (Marx) understood perfectly well that religion, or philosophy, or tradition can play a great part in the creation of a work of art, even that any one of these or other "ideal" factors may preponderate in determining the form of the work in question.

   —The Novel and the People : Ralf Fox : Page 31.

इस प्रकार, उक्त विवेचन से यह तथ्य अधिक उभर कर सामने आ जाता है कि प्रगतिशील मान्यता के अनुसार कला और साहित्य आर्थिक परिवेश से प्रभावित होते हुए भी आर्थिक सम्बन्धों की प्रतिच्छाया भर नहीं हैं। आर्थिक सम्बन्ध तथा भावधारागत तत्व पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाशील रूप में ही गतिशील होते हैं। इसलिए प्रगतिशील विचारकों की दृष्टि में इन भावधारागत तत्वों को वहन करने वाला तथा अभिव्यक्ति देने वाला मनुष्य भी आर्थिक परिस्थितियों का केवल मात्र दास नहीं है। यह ठीक है कि भौतिक शक्तियाँ मानव-जीवन को परिवर्तित कर सकती हैं, लेकिन यह तथ्य भी उतना ही ठीक है कि मनुष्य ही इन भौतिक शक्तियों में परिवर्तन उपस्थित करता है और परिवर्तन की इस सतत गतिशील प्रक्रिया में वह अपने आप को भी बदलता रहता है। मार्क्स ने बड़ा ज़ोर देकर इस बात को कहा है कि "यह भौतिक सिद्धान्त कि मनुष्य परिवेश और शिक्षा की उपज है और इसलिए परिवर्तित मनुष्य अन्य परिवेशों तथा बदली हुई शिक्षाओं से उद्भूत होते हैं, इस बात को भूल जाता है कि वह मनुष्य ही है जो कि अपने परिवेश को बदलता है और स्वयं शिक्षक को शिक्षित होने की आवश्यकता होती है।"[१] अतएव राल्फ फाक्स का यह कथन उचित ही है कि मनुष्य और उसका विकास मार्क्सीय केन्द्र-बिन्दु है।[२]

मार्क्सवाद की यान्त्रिक व्याख्या करने वाले प्रगतिशील विचारकों ने अवश्य ही मनुष्य को एक मशीन मात्र माना था। ऐसे ही यान्त्रिक दृष्टिकोण से प्रेरित होकर मायकोवस्की ने लिखा था "मैं आनन्द का उत्पादन करने वाला रूस का कारखाना हूँ।[३] "लेकिन अन्य प्रगतिशील समीक्षकों ने इस यान्त्रिक दृष्टि का विरोध किया है और मनुष्य तथा कलाकार की सापेक्ष स्वतन्त्रता को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार 'परिस्थितियाँ यदि उसका (कलाकार का) निर्माण करती हैं तो वह भी परिस्थितियों का निर्माण करता है। ......हर महान कलाकार इसी अर्थ में महान होता है कि उसने अपने युग को प्रभावित किया है, उसकी परिस्थितियों को बदला है, समाज को बदला है।'[४] यह विवेचन इस तथ्य को भी स्पष्ट करता है कि

---

1. Theses on Feuerbach : Karal Marx.
2. The Novel and the People : Ralf Fox : Page 32.
3. "I am a Soviet Factory
   Manufacturing happiness".
   "हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद : विजयशंकर मल्ल—पृ० ३९ से उद्धृत
४. नयी समीक्षा—अमृतराय—पृष्ठ १४

प्रगतिशील समीक्षकों ने साहित्य के संदर्भ में आर्थिक तत्व की भूमिका के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण की पहले यान्त्रिक व्याख्या की और आर्थिक तत्व को ही एकमात्र नियामक भूमिका के रूप में स्वीकार किया, लेकिन बाद में उन्होंने अधिक उदार दृष्टिकोण भी अपनाया और विशेषकर साहित्य के सम्बन्ध में 'इन्द्रिय बोध' तथा 'भावों के संसार' को अधिक महत्व दिया। इन परस्पर विरोधी धारणाओं की अभिव्यक्ति के कारण ही, प्रगतिशील समीक्षा एक बड़ी सीमा तक भ्रान्त भी हुई है।

साहित्य और परंपरा

प्रगतिशील समीक्षकों ने परम्परा के महत्व को भी मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। उनके मतानुसार मनुष्य अपने सांस्कृतिक अतीत की उपेक्षा कर इतिहास में अपनी भूमिका अदा नहीं कर सकता।[1] लेकिन वे अतीत को वर्तमान से सर्वथा विच्छिन्न इकाई के रूप में ग्रहण नहीं करते। वे उसे वर्तमान को ही बदलने के एक प्रेरक साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिए संस्कृति भी उनकी दृष्टि में केवल एक कलात्मक धारणा की वस्तु नहीं है। उनका तो मत है कि संस्कृति का उपयोग जीवन के लिए होना चाहिए।[2] यही कारण है कि प्रगतिशील समीक्षक अतीत की परम्परा के प्रति पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण अपनाने के पक्ष में नहीं हैं। वे परम्परा में निहित सुन्दर तथा महान तत्वों का तो अपने सृजनात्मक प्रयास से विकास करना चाहते हैं, लेकिन साथ ही, मिथ्या और ह्रासोन्मुख तत्वों को अलग भी करना चाहते हैं।[3]

व्यक्ति और समाज

प्रगतिशील मान्यता के अनुसार व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति और समाज दोनों की ही निरपेक्ष स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि समाज व्यक्तियों से ही मिलकर बना है और समाज के व्यक्ति की निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार करना भी असंभव ही है।[4] इसलिए प्रगतिशील

---

1. The Novel and the People : Ralf Fox : Page 141.
2. -do- : -do- : -do-
३. अखिल भा० प्र० ले० संघ का घोषणा पत्र, मार्च १९५१
4. Literature and art : Page 39

निश्चय ही करते हैं कि जीवन के प्रति लेखक का कोई न कोई मानववादी, मानव-मात्र के लिए कल्याणकारी दृष्टिकोण अवश्य ही हो।[1]

प्रगतिशील समीक्षकों की उक्त सैद्धान्तिक मान्यताओं के बावजूद भी, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कुछ प्रगतिशील समीक्षकों ने व्यावहारिक रूप में समय-समय पर पार्टीगत राजनीति के आधार पर ही साहित्य और कला के विभिन्न मूल्यादर्शों का प्रतिपादन किया है। १९४९ ई० में घोषित 'हिन्दुस्तान के प्रगतिशील लेखकों का नया घोषण-पत्र' इस तथ्य का प्रमाण है। उदाहरण के लिए इस घोषणा-पत्र में भारतीय सरकार का ब्रिटिश कामनवेल्थ में बने रहने के समझौते का जो घोर विरोध किया गया है और उसे साम्राज्यवाद से समझौते की नीति माना गया है, वह हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी की तत्कालीन नीति से ही अनुप्रेरित है। ऐसी घोषणाओं तथा प्रगतिशील साहित्य में व्यक्त उक्त नीतियों के लिखित स्वरूप के कारण ही कुछ समीक्षकों ने प्रगतिवाद को "साम्यवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति"[2] मानकर उसके राजनीतिक प्रचारात्मक रूप की भर्त्सना की है। स्वयं प्रगतिशील समीक्षकों में से भी अनेक ने इस प्रवृत्ति की निंदा की है। एक उदाहरण के रूप में श्री शिवदानसिंह चौहान का 'प्रगतिशील साहित्य'[3] शीर्षक निबन्ध देखा जा सकता है।

शाश्वत और सामाजिक सत्य

मार्क्सीय दृष्टि सत्य को उसके गतिशील रूप में ही ग्रहण करती है। इसके अनुसार "प्रकृति की प्रत्येक वस्तु 'गतिशील' है, जो परिवर्तित होती रहती है, जीवन धारण करती है और विलीन हो जाती है'।[4] इसलिए सत्य का कोई शाश्वत स्वरूप नहीं है। यह युगानुरूप परिवर्तित होता रहता है और ज्ञान के निम्न स्तरों से बराबर उच्च स्तरों की ओर विकसित होता रहता है। सत्य के इसी परिवर्तित स्वरूप के कारण जीवन-मूल्यों में भी परिवर्तन होता रहता है। इसलिए न तो कोई चिरन्तन मानदण्ड है, न हो ही सकते हैं। यदि कोई विचारशील प्राणी किसी शाश्वत मानदण्ड

---

१. नयी समीक्षा, अमृतराय—पृष्ठ ३७
२. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डा० नगेन्द्र—पृष्ठ १००
३. 'साहित्य की समस्याएँ' में संकलित—पृष्ठ ४१ से ५१
4. Engles : Anti Duhring : Page 33.

के लिए आग्रह करे तो भी वह स्वयं 'परिवर्तन' ही है।[1] साहित्य भी परिवर्तन की उक्त प्रक्रिया से बचा हुआ नहीं है। "साहित्य और कला में इन परिवर्तनों की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण एक युग और काल का साहित्य दूसरे से भिन्न होता है।[2]

परिवर्तन की इस प्रक्रिया से यद्यपि कोई भी वस्तु बची हुई नहीं है, लेकिन कुछ वस्तुयें समाज के आर्थिक जीवन से सीधे सीधे सम्बन्धित होती हैं और इसलिए अपने आधार बदलते ही वे भी बदल जाते हैं, लेकिन कुछ अन्य तत्व अपेक्षाकृत अधिक स्थाई होते हैं। मनुष्य के भाव, इन्हीं 'अपेक्षाकृत अधिक स्थाई' तत्वों के अन्तर्गत आते हैं। साहित्य और कला का सीधा सम्बन्ध चूँकि इन्हीं भावों से होता है, अतएव उनकी भी आवेदन-क्षमता अपेक्षाकृत अधिक स्थाई होती है। इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए डा० रांगेय राघव ने लिखा है :—

"मानव-समाज के बाह्य परिवर्तनों की भाँति मनुष्य के भाव-जगत में उनका परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वह मूलतः अपनी प्रवृत्तियों की नींव पर ही खड़ा होता है। अतः 'भाव' का स्थायित्व अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक है। जो साहित्य 'भाव' से सम्बन्ध रखता है, वह किसी भी वस्तु, विषय या रूप को लेकर भी, स्थायी तत्व अपने भीतर अधिक रखता है।"[3]

लेकिन, इस प्रकार अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होने पर भी साहित्यकार मूलतः अपने युग-सत्य की ही व्यञ्जना करता है। वह अपनी युग-सीमा से बाहर नहीं जा सकता। साहित्यकार तो विशेषतः एक भावुक प्राणी होने के नाते यों भी देश-काल के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। प्रेमचन्द्र जी के शब्दों में:—"साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है।"[4]

प्रगतिशील समीक्षक तो, चूँकि, साहित्यकार के सामाजिक दायित्व पर बहुत जोर देते हैं, इसलिए साहित्यकार का यह कर्तव्य ही मानते हैं कि

1. ".....There are no eternal standards, there can be no eternal standards .....The only eternal quality which a thoughtful man may even dare to consider is change itself."
—Literature and reality : Howard Fast : Page 20.
२. साहित्य-धारा —प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त—पृष्ठ १
३. आ० हि० क० में विषय और शैली – डा० रांगेय राघव – पृष्ठ ७
४. कुछ विचार – प्रेमचन्द्र जी – पृष्ठ ७७

वह अपने सामयिक युग-जीवन का पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ अंकन करे। उनकी तो स्पष्ट रूप से यह मान्यता है "कि हम टिकाऊ और प्रभावशाली साहित्य की रचना तभी कर सकेंगे जब समाज की गतिविधि को पहिचानेंगे, समाज के प्रगतिशील वर्ग से नाता जोड़ेंगे, प्रतिक्रियावादी शक्तियों का विरोध करेंगे और अपनी रचना द्वारा समाज की प्रगति में सहायक होंगे।"[1] संक्षेप में, वे यह मानते हैं कि "सामयिकता की अवहेलना करके कोई भी कवि समाज के लिए कल्याणकारी साहित्य का सृजन नहीं कर सकता।"[2] वे तो शाश्वत साहित्य की रचना भी सामयिकता के माध्यम से ही सम्भव मानते है उनकी यह धारणा है कि "अपने समय की समस्याओं से अलग रहकर अथवा भागकर कोई शाश्वत साहित्य की रचना नहीं कर सकता।'[3]

वस्तु और शिल्प

वस्तु और शिल्प के सम्बन्ध में प्रगतिशील मान्यता दोनों के अन्योन्याश्रित महत्व को ही स्वीकार करती हुई भी वस्तु को अपेक्षाकृत अधिक उच्च स्थान प्रदान करती है। डा० रामविलास शर्मा ने इसी मान्यता का प्रतिपादन करते हुये लिखा है :–' ये दोनों(वस्तु और शिल्प) ही सम्बद्ध होकर साहित्य बनती हैं ये दोनों की एकता साहित्य के लिए जरूरी है। लेकिन कला और विषय–वस्तु दोनों ही समान रूप से साहित्य–रचना के लिये निर्णायक महत्व की नहीं हैं। निर्णायक भूमिका हमेशा विषय–वस्तु की होती है।"[4] कुछ प्रगतिशील समीक्षक तो शिल्प को वस्तु से सर्वथा संपृक्त रूप मे ही देखते हैं। उनके मतानुसार जिस प्रकार अन्तरस्थ मनुष्य (प्राण) के अभाव में मानव का चर्म जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार शिल्प भी वस्तु से पृथक रूप में अपना कोई अस्तित्व नहीं रख सकता।[5] अतएव प्रगतिशील मान्यता रूपवादी प्रवृत्तियों को घृणा की दृष्टि से देखती है उसकी दृष्टि में रूपवाद अफीम की तरह काम करता है और कला को जीवन से विमुख बनाकर कलाकार को सामान्य जन-जीवन की धारा से अलग कर देता है।[6] परिणाम स्वरूप साहित्य की पतनशील रूपवादी धारा

---

१. भाषा–साहित्य और संस्कृति — डा० रामविलास शर्मा — पृष्ठ १४१
२. आधुनिक साहित्य और कला – डा० महेन्द्र भटनागर — पृष्ठ ४७
३. नामवरसिंह ... आ० सा० की प्रवृत्तियाँ ... पृष्ठ १२४
४. प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें ... डा० रामविलास शर्मा ... पृष्ठ ८
5, Literature and Reality : Howard Fast : Page 40.
6, ...do... ...do... : Page 41.

शोषक वर्ग को फायदा पहुँचाती हैं। इस रूपवादी प्रवृत्ति पर करारा आघात करते हुए १९४९ ई० के हिन्दुस्तान के *प्रगतिशील लेखकों का नया घोषण पत्र में बड़ी* स्पष्टता के साथ यह धारणा व्यक्त की गई है कि " साहित्य की पतनशील रूपवादी, व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ सीधे-सीधे शोषक वर्ग को फायदा पहुँचाती हैं। इस पतनशील साहित्य का अराजनैतिक रूप वास्तव में उसकी प्रगति-विरोधी प्रकृति को छिपाने का एक नकाब है और उसका असल उद्देश्य लोगों के दिमाग को खराब करना और उसे अफीम पिलाकर सुलाना है।"[१] यही कारण है कि प्रगतिशील समीक्षक स्वस्थ मानवीय अनुभूतियों से सपृक्त चित्रों तथा प्रतीकों का ही महत्व स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यतानुसार "अलंकृत अनुभूति का श्रृंगार शव को अलंकृत करने के समान है।"[२]

वस्तु को इस प्रकार अपेक्षाकृत अधिक महत्व देने के कारण ही कुछ समीक्षकों ने प्रगतिशील कला पर स्थूल प्रचारवादी होने का आरोप लगाया है। यद्यपि व्यावहारिक रूप में कुछ अंशों तक प्रगतिशील कला स्थूल प्रचार की विकृति से अपने को मुक्त नहीं रख सकी है, *लेकिन यह उन कलाकारों की कला-शिल्पगत वैयक्तिक* कमजोरी का ही प्रमाण है। सैद्धांतिक रूप से प्रगतिशील मान्यता मात्र स्थूल प्रचार के पक्ष में नहीं है। वह तो उन्हीं रचनाओं को उत्तम मानती है जिनमें अधिक संवेदनीयता होती है– हृदय को अधिक स्पर्श करने की शक्ति होती है।[३] एंगेल्स भी स्थूल प्रचारवादी दृष्टि को कला के लिए उचित नहीं समझता था। उसकी यह स्पष्ट धारणा थी कि लेखक का दृष्टिकोण जितना छिपा रहे, कला कृति के लिए उतना ही अच्छा है।[४] राल्फ फाक्स ने भी इस धारणा का प्रतिपादन किया है। उसका मत है कि "उपदेश देना नहीं, वरन् जीवन का यथार्थ और ऐतिहासिक चित्र *अंकित करना ही लेखक का कार्य है*[५] *फैरेल ने भी इस प्रचारवादी दृष्टि का विरोध* किया है। उसका तो यह कहना था कि यदि साहित्यकार किसी विशिष्ट मतवाद का प्रचार करना चाहता है तो वह विचारक न रहकर मात्र सिद्धान्तवादी हो *जायगा।*[६]

---

१. हंस — जुलाई १९४९ — पृष्ठ ६०३
२. साहित्यधारा – प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त – पृष्ठ ९
३. नयी समीक्षा – अमृतराय–पृष्ठ ३४.
4 Literature and Art : Page 37.
5. The Novel and the people : Ralf Fox : Page 109.
6. "Literature is chiefly concerned with life in raw,.... ....if the novelist aims to present a system of ideas, the result will be that he will end not as a novelist but as a theoretician."
– A note on Literary criticism : Page 140-141.

संक्षेप में, प्रगतिशील समीक्षकों एवं लेखकों ने साहित्य की विविध समस्याओं के सम्बन्ध में अपनी इन्हीं मान्यताओं का प्रतिपादन किया है । यद्यपि अपनी मान्यताओं के प्रतिपादन में उन्होंने सदैव अपनी संतुलित दृष्टि का परिचय नहीं दिया और कई बार उनके दृष्टिकोण में एकांगिता अथवा अतिवादिता का भी समावेश हुआ, जिससे कि प्रगतिशील कविता पर भी स्वस्थ तथा अस्वस्थ प्रभाव पड़े हैं, लेकिन मोटे रूप से अधिकांश प्रगतिशील समीक्षकों की मान्यताओं का साधारण रूप उक्त विवेचन के अनुसार ही रहा है ।

४

मूलभूत भाव-प्रवृत्तियाँ

आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रगतिशील कविता एक निश्चित एवं विशिष्ट काव्य प्रवृत्ति के रूप में रूढ़ हो चुकी है। यद्यपि इसके नाम के सम्बन्ध में कभी भ्रांतियां खड़ी की जाती हैं और 'प्रगतिवाद' तथा 'प्रगतिशील कविता' को अलग अलग अर्थों में ग्रहण *किया जाता है*,[१] *लेकिन जैसा कि हम एक पृथक अध्याय में विवेचन कर चुके* हैं, यह झगड़ा व्यर्थ का है। वस्तुतः वर्तमान युग के संदर्भ में दोनों के द्वारा एक ही काव्य-प्रवृत्ति का बोध होता है।

कुछ विवेचकों ने इस "प्रगतिवाद" या "प्रगतिशील कविता को दो अर्थों में ग्रहण किया है : एक तो, सामान्य राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं के रूप में, दूसरे, मार्क्स-वादी विचार-धारा से अनुशासित रचनाओं के रूप में।[२] कुछ अन्य व्याख्याकारों ने इसके तीन स्तर-भेदों की कल्पना की है और उन्हें क्रमशः साम्प्रदायिक प्रगतिवाद, स्वच्छन्दतावादी प्रगतिवाद और जीवन की व्यापक क्रान्ति का प्रतीक स्वस्थ प्रगतिवाद — की संज्ञाएँ प्रदान की हैं।[३] श्री नामवरसिंह ने भी सामाजिक यथार्थ के तीन स्तर माने हैं, जिनके अन्तर्गत उन्होंने भिन्न-भिन्न कवियों

---

१. देखिए : श्री शिवदानसिंह चौहान की "साहित्य की समस्याएँ" में प्रगतिशील साहित्य" निबंध पृष्ठ : ५१

२. विजय शंकर मल्ल : हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद (प्र० सं०) : पृष्ठ ८९

३. डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल : आ० हि० क० में प्रेम और सौन्दर्य : पृष्ठ ४४४

के नामों की परिगणना की है।[1]

यह अवश्य है कि आज हम जिस 'प्रवृत्ति' को 'प्रगतिशील कविता' या 'प्रगतिवाद' के नाम से पुकारते हैं, उसकी भाव-प्रवृत्तियों में विभिन्न स्तर मिलते हैं। यदि किसी ने केवल विध्वंस की उच्छ्वासमूलक अभिव्यक्ति की है तो किसी ने क्रान्ति के वैज्ञानिक दर्शन को अपनी रचनाओं में वाणी दी है, यदि किसी ने केवल वस्तु-पक्ष को महत्व दिया और प्रचार को ही अपना लक्ष्य माना तो कुछ अन्य कवियों ने रूप-तत्व के प्रति भी वैसी ही लगन प्रदर्शित की, और इसी प्रकार यदि किसी ने दलगत राजनीति को प्रधानता दी तो कुछ ऐसे कवियों ने भी इस प्रवृत्ति का पोषण किया, जिन्होंने व्यापक मानवतावादी भावभूमि पर ही सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति की। हम इन स्तर-भेदों को भी तत्सबंधी प्रवृत्ति का विवेचन करते हुए देखेंगे, लेकिन यहाँ हमारा कथ्य केवल इतना है कि केवल इन स्तर-भेदों के कारण ही उसको अलग-अलग कटघरों में बन्द कर देना उचित न होगा, क्योंकि इस प्रकार का स्तर-भेद केवल "प्रगतिशील कविता" की ही विशेषता नहीं है। प्राय: हर प्रचलित काव्य-प्रवृत्ति में ऐसे स्तर-भेद विद्यमान मिलेंगे। छायावादी काव्य-प्रवृत्ति को ही उदाहरण स्वरूप लीजिए। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो हमें उसमें भी आशा और निराशा, प्रवृत्ति और निवृत्ति, यथार्थ और कल्पना, वैयक्तिकता और सामाजिकता – आदि का अन्तर्द्वन्द्व देखने को मिल सकता है। हम "साहित्यिक एवं पृष्ठाधार" वाले अध्याय में यह बता चुके हैं कि किस प्रकार छायावाद में एक ओर तो यथार्थ की चेतना प्रवाहित हो रही थी और दूसरी ओर, उसमें पलायन, वायवीयता, अत्यधिक अन्तर्मुखी दृष्टि और केवल अलङ्कृति गत मोह के ह्रासशील तत्व भी विद्यमान थे। पर, उसमें कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ भी थीं, जिनके आधार पर विशेषज्ञों ने छायावाद की मूलभूत भाव-प्रवृत्तियों के निर्धारण में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं किया और न ही उसे विभिन्न स्तरों या खण्डों में विभाजित किया। ठीक, उसी प्रकार, "प्रगतिशील कविता" में भी स्तर-भेद हैं; किन्तु कुछ ऐसी सामान्य विशेषताओं से भी वह संयुक्त है—जो कि उसकी मूल चेतना की धन हैं और जिनके आधार पर सरलता से उसे एक अलग और विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में निरूपित किया जा सकता है। सामाजिक यथार्थ-दृष्टि, समसामयिकता की चेतना, सामाजिक दायित्व की भावना, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय

---

१. पाँचवें दशक की कविता : इतिहास और आलोचना (प्र० सं०) : पृष्ठ २२८—२४१

भाव-धारा, शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति और शोषक वर्ग के प्रति घृणा, क्रांति और परिवर्तन की प्रबल आकांक्षा, मानव की महत्ता का गान तथा धर्म और ईश्वर के प्रति क्षोभ-भावना, नारी की मुक्ति-चेतना का समर्थन, प्रेम के प्रेरक स्वरूप की प्रतिष्ठा, आशा और आस्था का स्वर, जीवन संघर्ष को आलिंगन-बद्ध करने की दृढ़ता और शिल्प की अपेक्षा वस्तु का महत्व-स्थापन -आदि अनेक ऐसे सामान्य तत्व हैं-जिनको कि प्रायः प्रत्येक प्रगतिशील कवि ने ध्वनित किया है और जो कि "प्रगतिशील कविता" को असंदिग्ध रूप से एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर सकने में सफल सिद्ध हुई हैं।

इस अध्याय में "प्रगतिशील कविता" की "मूलभूत भाव-प्रवृत्तियों" का विवेचन हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :-

१. सामाजिक यथार्थ : दृष्टि और अभिव्यञ्जना
२. समसामयिकता की चेतना
३. राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय भाव-धारा
४. मानवतावादी भाव-प्रवृत्ति
५. वर्ग-चेतना
६. क्रांति-चेतना
७. ईश्वर और धर्म के प्रति क्षोभ भावना
८. आशा और आस्था

'नारी', 'प्रेम' तथा 'प्रकृति' का विवेचन हम पृथक अध्यायों में करेंगे।

१. सामाजिक यथार्थ : दृष्टि और अभिव्यञ्जना

आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता सामाजिक वास्तविकता की ओर विशेष रूप से उन्मुख रही है। उसकी यथार्थ दृष्टि न तो वायवी काल्पनिक सृष्टि को ही अपना आधार-स्थल मान सकी और न व्यक्ति-जीवन की नितान्त एकान्तिक अन्तर्मुखी चेतना में ही रम सकी। उसने यथार्थ को उसके वस्तुगत एवं सामाजिक रूप में ही ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। इसलिए प्रगतिशील कविता के पक्ष-धर एवं विरोधी-दोनों प्रकार के समीक्षकों ने 'सामाजिक यथार्थ दृष्टि' को उसकी मूल एवं प्रधान विशेषता के रूप में ग्रहण किया है।[1] विभिन्न प्रगतिशील कवियों ने भी

१. (क) "जिस तरह कल्पना-प्रवण अन्तर्दृष्टि छायावाद की विशेषता है और अन्तर्मुखी बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद की, उसी तरह सामाजिक यथार्थ-दृष्टि प्रगतिवाद

अपने विविध वक्तव्यों के द्वारा सामाजिक यथार्थ के प्रति ही अपनी आग्रह-भावना को प्रकट किया है। उदाहरण के लिए कुछ प्रगतिशील कवियों के तत्संबंधी मत उद्धरण देखिए :

१. नरेन्द्र शर्मा : 'वह कवि प्रगतिशीलता के उतना ही निकट समझा जायगा जो वस्तुस्थिति और उनकी छाया में अकुलानेवाली अपनी इकाई की सक्रिय सामर्थ्य और सीमाओं तथा वस्तुस्थिति और इकाई के घात-प्रतिघातपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध और तज्जनित गतिशीलता के नियम को जितना ही अधिक समझता और व्यावहारिक जीवन में ग्रहण करता है।"[1]

२. डा० सुमन : "हमारे बदले हुए समाज सम्बन्धों तथा पुराने या अब तक के समाज-सम्बन्धों की चेतना से कलाकार के मस्तिष्क में जो तनातनी होती है, कला उसी की अभिव्यक्ति कहलाती है।"[2]

की विशेषता है।"

—नामवरसिंह : आ० सा० की प्रवृत्तियाँ : नया सं० १९६२ : पृ० ८६

(ख) "प्रगतिशील लेखक की भावना सामाजिक भावना है, व्यक्तिगत नहीं। ......प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अहं का सामाजीकरण है।"

—डा० नगेन्द्र : आ० हि० क० की मुख्य प्रवृत्तियाँ : पृ० १०१

(ग) "प्रगतिवाद का उद्देश्य था साहित्य में उस सामाजिक यथार्थवाद को प्रतिष्ठित करना जो छायावाद के पतनोन्मुखकाल की विकृतियों को नष्ट करके एक नये साहित्य और नये मानव की स्थापना करे और उस सामाजिक सत्य को, उसके विभिन्न स्तरों को साहित्य में प्रतिपादित होने का अवसर प्रदान करे।"

—लक्ष्मीकांत वर्मा : हिन्दी साहित्यकोष : पृ० ४६८

(घ) "छायावाद-युग के बाद से हमारा साहित्य विशेष दिशा की ओर अभिमुख हो गया है। उसमें व्यक्ति का स्थान समष्टि ने ले लिया है। दूसरे शब्दों में, कल साहित्यकार में समाज समाया हुआ था। आज समाज में साहित्यकार समाया हुआ है। वह समाज का पृथक अंग नहीं, समाज का ही अङ्ग बन जाना चाहता है। ...... गरज यह कि हमारा साहित्यकार सोने की स्वर्ग-कल्पना से उतर कर जगत की लोहे-मिट्टी की वास्तविकता को समझना चाहता है।"

—आचार्य श्री विनयमोहन शर्मा : दृष्टिकोण : पृ० २१

१. निवेदन : मिट्टी और फूल : पृ० २.

२. " गान : पृष्ठ १०–११

(३) श्री केदारनाथ अग्रवाल : "सार्वजनीन जीवन की प्राप्ति और उसकी भिव्यक्ति ही सच्चे और उत्तम काव्य-साहित्य का गुण है।"[१]

(४) श्री अंचल : "प्रगति का जीवन-स्रोत सदैव सामाजिक संघर्ष में हा है।[२]

-उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिशील कवि ने सामाजिक यथार्थ की जीवन्त अभिव्यक्ति प्रस्तुत करना ही अपना प्रमुख उत्तरदायित्व माना है। यद्यपि ारतेन्दु तथा द्विवेदीयुगीन काव्य में भी एक सीमा तक सामाजिक यथार्थ को वाणी मिली ,लेकिन उन युगों का सामाजिक यथार्थ मूलत: सुधार तथा नैतिकता की आदर्शमूलक ारणाओं के नीचे दबा हुआ है। उन युगों के कवि अपने समसामयिक जीवन में व्याप्त यार्थ की विरूपता से विक्षुब्ध तो थे, और उसको दूर भी करना चाहते थे, लेकिन उस रूपता की जनक सामाजिक-आर्थिक शक्तियों से वे पूर्णत: परिचित नहीं थे। उनमें यार्थ की समस्याओं के समाधान की वैज्ञानिक सामाजिक दृष्टि का भी अभाव था। ायावादी कवि ने भी विधवा, भिक्षुक, पत्थर तोड़नेवाली मजदूरनी आदि को पनी सहानुभूति के स्वर तो अर्पित किए, पर वह भी उनकी समस्याओं का ामाजिक निदान खोजने में असमर्थ ही रहा। इसके विपरीत, प्रगतिशील कविता में सामाजिक यथार्थ को एक विशिष्ट वैज्ञानिक और क्रान्तिकारी समाजवादी दृष्टि से ग्रहण किया गया और इसलिए प्रगतिशील कवि ने समस्या के अन्तर्तम तक वेश किया और वह वर्ग-विहीन समाज-व्यवस्था की स्थापना के रूप में उसका माधान भी खोज सका। डा० इन्द्रनाथ मदान ने, इसलिए केवल उसे ही प्रगति- ादी कवि के रूप में स्वीकार किया है-'जो मार्क्सवादी विचार-धारा से प्रभावित हो, ो सामाजिक चेतना को समाजवादी चेतना में परिणित करने के लिए प्रयत्नशील ो, जिसमें सामाजिक यथार्थ को समाजवादी धरातल पर ग्रहण करने का आग्रह ो।'[३] वस्तुत: अधिकांश प्रगतिशील कवि मार्क्सवाद की इस मूल दार्शनिक ऐतिहासिक भौतिकवादी मान्यता से प्रभावित रहे हैं कि —"भौतिक जीवन में उत्पादन की पद्धति से सामान्य सामाजिक राजनैतिक एवं बौद्धिक जीवन-प्रक्रियाएँ निरूपित होती हैं। मनुष्यों का अस्तित्व उनकी चेतना से निर्धारित नहीं होता, प्रत्युत, इसके विपरीत, उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निरूपित करता

---

१. हंस, दिसम्बर १९४७ : पृष्ठ २०३
२. ये कवितायें......(भूमिका) : लाल चूनर : पृष्ठ २
३. आधुनिक कविता का मूल्यांकन (प्रथम प्रकाशन) : पृष्ठ ६४

है।"[१] अपनी इस विशिष्ट जीवन-दृष्टि के परिणामस्वरूप वे सामाजिक यथार्थ की केवल उच्छ्वासमूलक भावात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करके ही नहीं रह जाते, वरन् नयी उभरती हुई प्रगतिशील शक्तियों के विकास में अगाध आस्था रखकर प्राचीन जर्जर व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्ति की वाणी का भी उद्घोष करते हैं। उनकी दृष्टि में सामाजिक व्यवस्था के नव-निर्माण में ही प्रगति का स्रोत निहित है और इसलिए वे प्राचीन के विध्वंस से उल्लसित भी होते हैं :

झरते हों झरने दो पत्ते, डरो न किंचित
नवल मुकुल मंजरियों से अब होगा शोभित।[२]

वस्तु-तत्व की प्रमुखता

प्रगतिशील कवि ने अपनी इसी सामाजिक यथार्थ-दृष्टि से प्रेरित होकर शिल्प-तत्व को भाव-तत्व की अपेक्षा गौण स्थान प्रदान किया है। यह उसकी दृढ़ मान्यता है "साहित्य यदि वह सच्चे अर्थों में प्रगतिशील है, सदैव जीवन को अधिकाधिक निकट से देखेगा और मानवीय उपकरणों के विकास और कल्याण पर जोर देगा।"[३] इसीलिए वह "वाह्य रूपों और सौन्दर्य संकेतों पर न रीझकर भीतरी व्यक्तिगत जीवन को देखना" चाहता है।[४] उसकी दृष्टि में वह कला हेय और व्यर्थ है, जो केवल सुदूर स्वप्न-राज्य की विहारिका मात्र रहती है और धूल से विलग वे विचार भी वास्तविक नहीं, जोकि केवल शब्द-जाल या चित्र मात्र बनकर रह जाते हैं।[५] वह तो अपने को जग-जीवन का शिल्पी घोषित करता है और जन-जन के मन पर मानव-आत्मा का स्वाय प्रेम लिखने की आकांक्षा प्रकट करता है :

---

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा : सं० डा० नगेन्द्र : पृष्ठ ३१०
२. पन्त : पतझर : युगवाणी (प्र० सं०) : पृष्ठ २४
३-४. अंचल : मैं अब तक – (भूमिका) : किरण-वेला : पृष्ठ ख, ग
५. जो सुदूर स्वप्न राज्य की विहारिका
व्योम पार देश की रही निहारिका
कर्म-मार्गहीन, स्वर्ण-विश्व-साधिका
द्वन्द्व से विमुख, सदा नवीन बाधिका
हेय व्यर्थ युग-उपेक्षिता अमर कला,
धूल से विलग विचार वास्तविक नहीं
झूठ शब्द-जाल चित्रमात्र है वहीं।
—डा० भटनागर : कला : टूटती शृंखलाएँ : पृष्ठ ४०

स्वर कोमल शब्दों को चुन-चुन मैं लिखता जन जन के मन पर
मानव-आत्मा का सत्य-प्रेम जिस पर है जग-जीवन निर्भर।
मैं जग-जीवन का शिल्पी हूँ जीवित मेरी वाणी के स्वर
जन-मन के मांस-खण्ड पर मैं मुद्रित करता हूँ सत्य अमर।"[1]

डा॰ सुमन भी 'कला कला के लिये' सिद्धान्त को 'जीवन का व्यंग्य' मानते हुये लिखते हैं :—

सोने की सुन्दर देह, आत्मा जर्जर
सागर में प्यासी मीन, मेघ आडम्बर
है 'कला कला के लिए' व्यंग्य जीवन का
ऊपर चमकीला कलश, नींव में खण्डहर।[2]

छाया-काव्य की तिरस्कार व्यञ्जना.

प्रगतिशील कविता के उत्थान की प्रारम्भिक अवस्था में, प्रगतिशील कवि ने इस सामाजिक यथार्थ-दृष्टि की स्थापना के लिये तथा जन-जीवन का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य से छाया-काव्य की वायवी, व्यक्तिनिष्ठ एवं पलायनवादी प्रवृत्तियों की तीव्र तिरस्कार-व्यञ्जना की। छायावादी काव्य ने यद्यपि हिन्दी कविता को एक मानवतावादी सार्वभौमिक सुदृढ़ धरातल प्रदान किया-नारी की गौरव-गरिमा को स्वर दिया, देश-प्रेम की उदात्त भावना प्रस्तुत की और स्वातन्त्र्य चेतना का मुक्त उद्घोष किया, लेकिन साथ ही उसमें यथार्थ से पलायन की प्रवृत्ति भी विद्यमान थी। वह रोमांटिक तथा कोमल कल्पनाओं के समृण परों को लगाकर निस्सीम व्योम के अनजान क्षितिज में स्वप्निल सौन्दर्य को अपनी बाहुओं में बाँधने के लिए अधिक व्याकुल रहा। धरती की मांसल वास्तविकता की वह उपेक्षा करता रहा। उसकी तो प्रतिनिधि आकांक्षा यही रही :

सिखा दो ना, हे मधुप-कुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना, कुछ न कुछ मधुपान।[3]

प्रगतिशील कवि ने ऐसे छाया काव्य को युग-सत्य के अनुरूप नहीं समझा। भारत भूषण अग्रवाल ने अपने 'तार-सप्तक' के वक्तव्य में छायावाद की इस पलायनशीलता और कल्पना विलासी' प्रवृत्ति के सन्दर्भ में ही हिन्दी कवियों को

---

१. पंत : शिल्पी : युगवाणी : पृष्ठ ११
२. विश्वास : विश्वास बढ़ता ही गया : पृष्ठ ३३
३. पंत : मधुकरी : पल्लव (प॰ पूर्व) : पृष्ठ ३९

चुनौती देते हुए कहा : "यदि कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के सम्बन्ध को स्वर देना है, और उसको शुभ बनाने में सहायता देना है तो हिन्दी के कवि को समाज से नाराज होकर भागने की बजाय समाज की उस शोषण-सत्ता से लड़ना होगा जिसने उसको चारों ओर स्वप्नाभिलाषी और कल्पना-विलासी बना छोड़ा है।"[१] अतएव छायावाद और रहस्यवाद की पलायनशील प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रगतिशील कवियों ने उन्हें अपदस्थ करने के लिए एक आन्दोलन-सा ही छेड़ दिया। उनके विरोध में अनेक प्रकार की व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखी जाने लगीं। कोई छायावादी कवि का ही व्यंग्य रेखा-चित्र अंकित करने लगा[२] तो कोई युग जीवन की विभीषिका के संदर्भ में अनंत के नीरव और मधुमय संगीत की व्यर्थता का प्रतिपादन करने लगा।[३] इसी प्रकार यदि किसी ने युग-यथार्थ को उपेक्षित करनेवाली छायावादी कवि की 'दिव्य-दृष्टि' का उपहास किया[४] तो किसी ने यथार्थ से भागने की उसकी प्रवृत्ति की तीव्र भर्त्सना की।[५] छायावाद के अग्रणी कवि पन्तजी की दृष्टि में भी परिवर्तन हुआ और

---

१. तार-सप्तक : पृष्ठ ३३

२. देखिए : भगवतीचरण वर्मा की 'कविजी' : रूपाभ फरवरी १९३९

३. क्या होगा गाकर अनंत का नीरव औ मधुमय संगीत,
मलयानिल की उच्छ्वासों का अस्फुट अनुपम राग पुनीत।
कनक-रश्मियों के गौरव से होगा क्या दुखियों का त्राण,
रूखी ही रोटी में जिनको है यथार्थ जीवन का प्राण।
होगा क्या बनवाकर कविते, तुहिन-बिन्दु की निर्मल माल
विस्मृति के असीम सागर में फैलाकर स्वप्नों का जाल।
—रहस्यवाद का निर्वासन : सरस्वती : खंड ३७, संख्या १,
सन् १९३५

४. वह कलाकार,
क्या परवा उसको एक ओर भूखे मरते लाखों प्राणी,
वह दिव्य-दृष्टि से देख रहा उसकी तो युग युग की वाणी
उसके स्वर में है बोल रही देवी सरस्वती कल्याणी।
—नेमिचन्द्र—तार-सप्तक . पृष्ठ २८

५. तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि यदपि बजती थी रणभेरी।
तू खोया किया : लाल-लाचल है टाल-शून्य, जिसको छूने

उन्होंने भी छायावादी कवि के यथार्थ को उपेक्षित कर केवल 'गगन ताकने' की मनोवृत्ति को ललकारा और कहा :

> ताक रहे हो गगन ?
> मृत्यु-नीलिमा गहन गगन ?
> अनिमेष, अचितवन, काल-नयन ?
> निस्पन्द, शून्य, निर्जन, निस्वन ?
> देखो भू को
> जीव-प्रसू को।[१]

युग-यथार्थ के वैषम्य से आहत होकर, मानों छाया-काव्य को ही तिरस्कृत करती हुई, कविवर दिनकर की कविता भी पुकार उठी :

> आज न उडु के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाऊँगी
> आज चमेली में न चंद्र-किरणों से चित्र बनाऊंगी
> अधरों में मुस्कान न लाली बन कपोल में छाऊंगी
> कवि, किस्मत पर भी न तुम्हारी आँसू आज बहाऊँगी।[२]

छाया काव्य की उक्त भर्त्सना के साथ ही, प्रगतिशील कवि ने जीवन और धरती के प्रति उत्कट ललक तथा लालसा की भावना भी व्यक्त की। युग-यथार्थ के वैषम्य ने मानों उसके कल्पना के पंखों को थका दिया। 'भूमि की अनुभूति' ने उसे झकझोर कर विह्वल बना दिया—उसके प्राणों को निमिष भर में ही मर्माहत कर दिया।[३] इसलिए शून्य में उड़नेवाली उसकी कल्पना अब भूमि पर

की भी चेष्टा है व्यर्थ, दूर यों भाग गया तू जीवन से।
—भारतभूषण अग्रवाल : वही : पृष्ठ ३४

१. पुष्प-प्रसू : युगवाणी : पृष्ठ १९

२. कविता की पुकार : चक्रवाल (प्र० सं०) : पृष्ठ १०

३. आज सहसा खोल स्मृति-पट
भूमि की अनुभूति ने है
कर दिया विह्वल झकझोर,
मर्म आहत कर
हिला डाले निमिष में प्राण।
—मिलिन्दजी : भूमि की अनुभूति : पृ० ५

ही लहराने लगी।[1] इस 'भूमि की अनुभूति' ने ही उसे इस अकाट्य सत्य से भी परिचित करा दिया कि भूमि ही मनुष्य की कला का साध्य है।[2] इस नई दृष्टि की उपलब्धि के कारण अब उसे 'इस धरती के रोम रोम में' 'सहज सुन्दरता' के दर्शन होने लगा और वह धरती की तुच्छतम वस्तु को भी महत्व प्रदान करने लगा।[3] अभी तक एक छायावादी कवि के रूप में वह अपनी भावनाओं को एक निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र मूल्य प्रदान करता था, लेकिन अब उनका भी 'सार' वह इस 'मांसलता' (जीवन वास्तव) में ही मूर्तित पाने लगा :

कहाँ खोजने जाते हो सुन्दरता और आनन्द अपार
इस मांसलता में है मूर्तित अखिल भावनाओं का सार।[4]

इसलिए अब प्रगतिशील कवि अपने आत्म-सकीर्ण घेरे से बाहर निकल कर सम्पूर्ण जीवन को अपनी कविता का विषय बनाने लगा। अपने इस सिद्धान्त की उसने स्पष्ट घोषणा भी की :

जितना जो कहा कभी
सुधियों ने छवियों ने
स्वप्न भरी अँखियों ने
मैंने वह दिया सभी
कविता को अपनी।

---

१. शून्य में उड़कर गए थक पंख जिसके
कल्पना अब भूमि पर लहरा रही है।
—शम्भूनाथसिंह : विश्व मेरे : दिवालोक : पृष्ठ ६८

२. आज मैं समझा कि—ऊपर का नहीं नभ
भूमि नीचे की
मनुज की कला का है साध्य।
—मिलिन्द : भूमि की अनुभूति : पृष्ठ १

३. इस धरती के रोम रोम में भरी सहज सुन्दरता
इसकी रज को छू प्रकाश बन मधुर विनम्र निखरता
पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके कंकर-पत्थर
कूड़ा, करकट सब कुछ भू पर लगता सार्थक-सुन्दर।
—पन्त : मानवपन : युगवाणी : पृष्ठ २९

४. वही : जीवन-मांस : वही : पृष्ठ ५५

जितना जो मिला कभी
गन्ध-लुब्ध बादल से
मौन मुग्ध पायल से
मैंने वह दिया सभी
कविता को अपनी।[1]

जब उसकी दृष्टि इतनी व्यापक हो गई तो उसे क्या अंबुधि, क्या अंबर, क्या धरती, क्या रजकण—सर्वत्र गान बिखरे हुए दिखाई देने लगे।[2] गाने के लिए उसके पास उपकरणों की कमी नहीं रही। उसने तो उस शिल्पी को अविश्वास की दृष्टि से ही देखा जिसने कि उपकरणों के अभाव की चर्चा की।[3] वास्तव में उपकरणों के अभाव का अनुभव तो तभी होता है, जब कि कवि अपने 'अहं' के ही घेरे में बँधा रहे। लेकिन प्रगतिशील कवि की तो कविता ही मानों स्वयं इस विस्तीर्ण भू भाग में फैल जाने के लिए आतुर रहती है। उसके तो शब्द ही मानों कवि के अहं के विरुद्ध विद्रोह कर उससे मैदानों में फैला देने का आग्रह करते हैं :

······ ···अब हमें तुम
अपने ही हक में बरतना बन्द करो
हमें तुम दीवारों का नहीं
अब मैदानों का छन्द करो।
फैलाओ हमें
जैसे किसान फैलाता है बीजों को।[4]

इसीलिए 'मुक्ति बोध' की यह मान्यता है कि आज के लेखक के सामने विषयों का आधिक्य है और वह उनका चुनाव ठीक ठीक नहीं कर पाता है :—

---

१. केदारनाथ अग्रवाल : कविता को भेंट : प्रगति १ : पृष्ठ २

२. अंबुधि में भरे हैं गान
अंबर में भरे हैं गान
धरती में भरे हैं गान
कन कन में भरे हैं गान।
—सुमन : प्रलय-सृजन : पृष्ठ ८६

३. कलाकार के प्रति : पर आँखें नहीं भरीं : पृष्ठ १८

४. भवानीप्रसाद मिश्र : भूमिका : गीत फरोश (प्र० सं०) : पृष्ठ ४

जीवन में आज के
लेखक की कठिनाई यह नहीं कि
कमी है विषयों की
वरना यह कि आधिक्य उनका ही
उसको सताता है,
और, वह ठीक चुनाव कर नहीं पाता है !![1]

अपनी उक्त सामाजिक यथार्थ दृष्टि को प्रगतिशील कवि ने जब व्यावहारिक रूप दिया और वह जीवन के यथार्थ चित्रों को शब्द-रेखाओं में बाँधने लगा तो यह स्वाभाविक ही था कि वह जीवन के हास-विलासमय पक्ष की अपेक्षा जीवन के कुत्सित और कुरूप पक्ष की ओर अधिक आकर्षित हुआ। यह बात नहीं है कि उसने प्रेम और प्रकृति के मधुर तथा आनंदोज्ज्वल[2] या मानव-मन के उल्लास-पक्ष[3] को सर्वथा उपेक्षित ही रखा हो। सामाजिक यथार्थ का एक पक्ष होने के नाते उसने उसको भी वाणी प्रदान की है, लेकिन उसकी यथार्थ दृष्टि ने वर्ग-समाज में विरूपताओं तथा विद्रूपताओं को ही अधिक फैला हुआ पाया। जीवन के मधुर और सुन्दर पक्ष को तो छायावाद में पर्याप्त अभिव्यक्ति मिल चुकी थी, पर, यह विद्रूपता वाला पक्ष उस युग में उपेक्षित ही रहा। अतएव प्रगतिशील कवि ने इस पक्ष को ही अपनी काव्य-चेतना का अधिक संस्पर्श दिया। उसने शब्दों के माध्यम से जीवन की 'निरर्थकता' और 'रिक्तता' को छिपाने का प्रयास नहीं किया, प्रत्युत उसके उद्घाटन अथवा उसको ठोस रूप देने के लिए ही विशेष प्रयत्नशील रहा। उसकी तो आकांक्षा ही यही रही :

……एक ही है चाह मेरी
निरर्थकता रिक्तता यदि वस्तु में हो

---

१. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ० ७४

२. इसके लिए प्रेम और प्रकृति से सम्बन्धित अध्याय देखिए।

३. निम्न पंक्तियों में मानव-मन का उल्लास-चित्र देखिए :

माँझी, न बजाओ वंशी मेरा मन झूमता
मेरा मन झूमता है, मेरा तन झूमता
मेरा तन तेरा तन, एक बन झूमता
—केदार : गीत : लोक और आलोक : पृष्ठ ४८

ढँक न दूँ मैं शब्द-छाया ओढ़
तीव्र,
कुंठित,
अरे कुछ भी हो अभागिन
किन्तु हो वह ठोस,
तौलते ही हाथ में आ जाये जैसे लौह—
खलों का विध्वंस करने।[१]

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि प्रगतिशील कवि ने जीवन के केवल 'विद्रूप' पक्ष को ही नहीं देखा, वरन् इन विद्रूपताओं के विरुद्ध संघर्षशील उभरती हुई नवीन शक्तियों को भी पहचाना है और इसलिए उसने उनको भी अंकित किया है। वह भलीभाँति जानता है कि ये सब विकृतियाँ मनुष्यकृत हैं और मनुष्य ही इन सब के विरुद्ध संघर्षशील भी है।[२] यही उसकी आस्था का दृढ़ आधार भी है। इसलिए एक ओर उसने जहाँ विकृत यथार्थ के ऐसे रूप-चित्र प्रस्तुत किए हैं :

रक्षित है लाज लंगोटी पर, हैं कण्ठ बोलते घरर घरर
आ रही असह दुर्गन्ध पसीने और चीथड़ों से झरझर
कुछ दमा तपेदिक से बेदम कुछ खाँस रहे हैं पड़े पड़े
सम्पत्ति फटी मिरजई और अधजली बीड़ियों के टुकड़े।[३]

वहीं, वह ऐसी क्रान्तिकारी शक्तियों को भी गतिशील देखता है, जो कि बर्बर प्रकृति का स्वामित्व करती बढ़ रही हैं :

और अब इन्सान
बर्बर प्रकृति का स्वामित्व करता
बढ़ रहा है—
ज्ञान के ले दीप अब प्रति देश से
चलती जवानी,
गीत उठता है नया
नव शक्ति की जलती कहानी,

---

१. रांगेय राघव : हंस—जनवरी-फरवरी १९४७ : पृष्ठ २७२
२. डा० सुमन : वे-पर-बार : प्रलय-सृजन : पृष्ठ ८-९
३. श्री शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्यायें : पृष्ठ ९३

और अब प्रति देश की संस्कृति
बनाती एक तोरण
सज रहे हैं नए बन्दन वार।[1]

प्रगतिशील कवि 'शोषण की सभ्यता' के 'राक्षसी दुर्ग-रूप' को देखकर पहले जैसी निस्सहायता तथा निरवलम्बता का अनुभव नहीं करता है। 'शोषण की सभ्यता' के विरुद्ध संघर्षरत शक्तियाँ उसे अपने पास बुलाती प्रतीत होती हैं :—

नगर का अमूर्त—सा तिलस्मी आभालोक
शोषण की सभ्यता का राक्षसी दुर्ग-रूप
यथार्थ की भित्ति पर
समुद्र घटित करता है।
किन्तु उसके सम्मुख न निस्सहाय—
निरवलम्ब पहले—जैसा अनुभव मैं करता हूँ,
नहीं कर पाता हूँ।
मौलिक जल-धारा मेरे वक्ष का शैल-गर्भ
धोती ही रहती है
रास्ता खत्म होता है कि संघर्षों के अंगारे
लाल लाल सितारों से
बुलाते मुझे पास निज
कभी मांस-पेशियों के लौह-कर्म-रत
मजूर लोहार के अथाह-बल
प्रकाण्ड हथौड़े की
दीख पड़ती है चोट।[2]

प्रगतिशील कवि की उक्त संतुलित एवं व्यापक सामाजिक यथार्थ दृष्टि का वास्तविक व्यावहारिक स्वरूप सर्वप्रथम उसके द्वारा प्रस्तुत ग्राम-जीवन के 'चित्रों में देखने को मिलता है। उसने जहाँ एक ओर ग्राम्य-जीवन के कुत्सित, कुरूप एवं दैन्य-जर्जर रूप की व्यञ्जना की, वहाँ उसकी प्रकृति के भी अनेक सौन्दर्योज्ज्वल रूप-चित्र प्रस्तुत किए और उसके उल्लास और आनंद को भी भावात्मक सरस

---

१. रांगेय राघव : त्योहार : हंस (शा० सं० अंक) वर्ष २२, अंक ६-७ : पृष्ठ १२१

२. गजानन माधव मुक्ति बोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ० ८२

वाणी प्रदान की। 'ग्राम्या' प्रगतिशील कवि की उक्त दृष्टि का पहला प्रामाणिक एवं महत् काव्य है। इसमें पंतजी का 'प्रगतिशील रूप' अपने चरमोत्कृष्ट रूप में प्रकट हुआ है। इसमें उनकी 'ग्रामीणों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति' तो मिलती ही है[1] पर ग्राम-जीवन का यथार्थ रूप भी अपनी सम्पूर्ण भाव-प्रभावमयी विशेषताओं के साथ उभर आया है। उनकी 'ग्रामश्री' में जहाँ ग्रामीण प्रकृति का सरल, अल्हड़ लेकिन मर्म-मधुर रूप अंकित हुआ है[2] वहीं ग्राम-जीवन का 'सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित' रूप भी मुखर हो उठा है, जहाँ कि जीवन-शिल्पी कृषक के घर 'झाड़-फूस के विवर-मात्र हैं, जहाँ नर-नारी कीड़ों के समान रेंगते हैं, जहाँ के जग में अकथनीय क्षुद्रता और विवशता भरी हुई है और जहाँ पग पग पर कलह फैला हुआ है।[3] इसके अतिरिक्त 'वे आँखें' 'गाँव के लड़के', 'वह बुड्ढा' आदि कविताओं में ग्रामीण जन-जीवन की विषमताओं को भी रूपायित किया गया है। 'धोबियों का नृत्य' 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्र नृत्य'–आदि में ग्राम्य-जीवन का उल्लास भी मुखर हुआ है। धोबियों के नृत्य का निम्न उल्लास-चित्र देखिए–कैसी अल्हड़ मस्ती के रंग इसमें भरे हुए हैं :

> उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन
> औ, हुड़क घुड़कता ढिम ढिम ढिन,
> मंजीर खनकते खिन खिन खिन

---

१. देखिये 'ग्राम्या' में कवि का 'निवेदन'।

२.
> मटके कटहल, मुकुलित जामुन, जंगल में झरबेरी झूली।
> फूले आड़ू, नींबू, दाड़िम, आलू, गोभी, बैंगन-मूली।
> पीले मीठे अमरूदों में अब लाल लाल चित्तियाँ पड़ीं,
> पक गए सुनहले मधुर बेर, अँवली से तरु की डाल जड़ीं।
>
> –ग्राम्या (पाँचवाँ संस्करण) : पृष्ठ ३६

३.
> यह तो मानव-लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
> यह भारत का ग्राम,–सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।
> झाड़-फूंस के विवर,–यही क्या जीवन-शिल्पी के घर ?
> कीड़ों से रेंगते कौन ये ? बुद्धि–प्राण नारी नर ?
> अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
> गृह गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में ?
>
> –ग्राम-चित्र : वही पृ० १९

मदमस्त रंजक, होली का दिन
लो, छन छन, छन-छन
छन छन, छन-छन
थिरक गुजरिया हरती मन।[१]

'ग्राम देवता' 'नहान' 'ग्राम-वधू'—आदि कविताओं में ग्राम्य के रूढ़िग्रस्त रूप की भी व्यञ्जना हुई है। निराला,[२] केदार,[३] त्रिलोचन,[४] रामविलास शर्मा[५] आदि ने भी ग्राम-जीवन के उक्त पक्षों को ही रूपायित किया है। श्री भवानीप्रसाद मिश्र की 'गांव' शीर्षक कविता में भी ग्रामीण-जीवन के दीन जर्जर रूप की मार्मिक-संश्लिष्ट झाँकी मिलती है। निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :

गाँव, इसमें झोपड़ी है, घर नहीं है,
झोपड़ी के फटकियाँ हैं, दर नहीं है,
धूल उड़ती है, धुएं से दम घुटा है,
मानवों के हाथ से मानव लुटा है।
रो रहे हैं शिशु कि माँ चक्की लिए है,
पेट पापी के लिए पक्की किए है
फट रही छाती।[६]

नगर-जीवन के चित्रों को प्रस्तुत करते समय प्रगतिशील कवि की दृष्टि मूलतः नागरिक जीवन की विकृतियों की ओर विशेषरूप से गई है। वस्तुतः पूंजीवादी व्यवस्था में शोषण का प्रत्यक्ष रूप नगर-जीवन में ही देखने को मिलता है। वहाँ हम एक साथ ही शोषक वर्ग की क्रूर, अमानवीय, विलासी एवं कृत्रिम प्रवृत्तियों

---

१. धोबियों का नृत्य : पृष्ठ ३१
२. 'नये पत्ते' में संग्रहीत–रानी और कानी, खजोहरा, देवी सरस्वती, कुत्ता भौंकने लगा,—आदि कविताएँ।
३. युग की गंगा में संग्रहीत—चन्द्रगहन से लौटती बेर, बसन्ती हवा, चित्रकूट के यात्री, बुंदेलखंड के आदमी, गाँव में-आदि।
४. 'धरती' में संग्रहीत–'तारकों से ज्योति चल कर', 'चम्पा काले अक्षर नहीं चीन्हती' 'भोरई केवट के घर'—आदि
५. 'रूप-तरंग' में संग्रहीत–'प्रत्यूष के पूर्व', 'सिलहार', 'किसान कवि और उसका पुत्र', 'बैलबाड़ा' आदि
६. गीत-फरोश : पृष्ठ १६

तथा शोषित वर्ग की दयनीय, प्रताड़ित एवं सड़ाँध से परिपूर्ण स्थिति का दर्शन र सकते हैं। प्रगतिशील कवि ने नगर के इसी रूप को उभार कर प्रस्तुत किया । श्री भगवतीचरण वर्मा ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'भैंसागाड़ी' में ग्राम्य-जीवन की व्यवस्था को क्षत-विक्षत करने तथा कृषक वर्ग का शोषण करने में नगर के नपतियों का ही मुख्य हाथ माना है। उनका मत है कि नगर का 'राग-रंग' ही ग्रामों के 'अविकल क्रन्दन' का मूल कारण है।[१] श्री केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी 'ग़ाज़ीाबाद' शीर्षक कविता में धनिक और निम्न वर्ग के जीवन-वैषम्य को—जो नगरों में प्रतिदिन दिखाई देता है—मूर्त किया है।[२] उनकी 'मूलगंज' शीर्षक कविता में नगर के गंदे वासना-विलसित रूप की झाँकी मिलती है :

अंध वासना में नर
खूब पिये
रंडियों के साथ खोया
नर्क में डूबा
रात है
सत्य ज्ञान
उच्चादर्श
गंदी मल मूत्र की नालियों में बहते हैं
विश्व का निकृष्ट अंग मूलगंज
रात है ।।[३]

डा० रामविलास शर्मा की 'कलकत्ते' शीर्षक कविता में भी नगर-जीवन की ऐसी गन्दगी का एक सजीव चित्र अंकित हुआ है।[४] श्री गिरिजाकुमार माथुर ने

---

१. उस बड़े नगर का राग-रंग हँस रहा निरन्तर पागल-सा
उस पागलपन से ही पीड़ित कर रहे ग्राम अविरल क्रन्दन।
—भगवतीचरण वर्मा : अमृतलाल नागर द्वारा सम्पादित : पृष्ठ ९७

२. युग की गंगा : पृष्ठ ३२-३३

३. भगवतीचरण वर्मा : पृष्ठ ३४

४. मूर्छित है निद्रा में
विशाल नगर, नीचे, छिपाए भू गर्भ में
नाले मल मूत्र के।
सैकड़ों ही साँसों की उड़ती विशाक्त वायु

कतिपय प्रकृति-चित्रों के माध्यम से भी नगर के नीरस तथा एकरस जीवन की बड़ी सुन्दर व्यञ्जना की है।[1]

नगर-जीवन के शोषित तथा तिरस्कृत व्यक्तियों से प्रगतिशील कवि की दृष्टि मुड़ कर ये 'वंचित' तथा 'दीन मजदूरों' की ओर गई है।[2] श्री केदारनाथ अग्रवाल ने बड़े बड़े नगरों का विन्यास-वैभव श्रमजीवी की हड्डी' पर ही आधारित माना है। 'अपनी कानपुर' शीर्षक कविता में अपनी इसी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है .

> घाट, धर्मशालें, अस्पतालें
> *विद्यालय, वेश्यालय सारे,*
> होटल, दफ्तर, बूचड़खाने,
> मन्दिर, मस्जिद, हाट, सिनेमा,
> श्रमजीवी की उस हड्डी से
> टिके हुए हैं—जिस हड्डी को
> *सभ्य आदमी के समाज ने*
> टेढ़ी करके मोड़ दिया है।......[3]

श्री 'मुक्ति बोध' ने भी नगर के बाह्य चमचमाते रूप के यथार्थ आव को भेदकर उसके वास्तविक 'नग्न', 'बर्बर' तथा सूखे हुए 'रोगीले पंजर' उघाड़ कर उपस्थित कर दिया है और उसके शोषण से जर्जर रूप की मार्मि व्यञ्जना प्रस्तुत की है।

> ऊँची ऊँची वाड़ियों से,
> वेश्यालय शान्त है,
> रक्त–मांस हीन पीले-पीले आकार डूबे
> मदिरा की गंध में।
> निश्चेतन निद्रा में।
>
> —रूप–तरंग : पृ० २४

१. देखिए : 'धूप के धान' में संकलित 'शाम की धूप' (पृ० २७) तथा 'धूप का ऊन' (पृ० ५६)

२. इस संबंध में 'वर्ग–चेतना' उप-शीर्षक के अन्तर्गत विस्तृत विवेचन किया गया है।

३. युग की गंगा : पृष्ठ ३५।

पाउडर में सफेद अथवा गुलाबी
छिपे बड़े-बड़े चेचक के दाग मुझे दीखते हैं
सभ्यता के चेहरे पर।
संस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रों के
अन्दर का वासी वह
नग्न अति बर्बर-देह
सूखा हुआ रोगीला खंजर हमें दीखता है
एक्सरे की फोटो में रोग-जीर्ण
रहस्यमयी अस्थियों के चित्र-सा विचित्र और
भयानक ?[१]

समसामयिकता की चेतना

प्रगतिशील कविता में समसामयिक जीवन के प्रति विशेष आसक्ति प्रगतिशील कवि की सामाजिक यथार्थ दृष्टि से ही नि:सृत है। चूँकि प्रगतिशील कवि काव्य और कला का मूल्यांकन उसकी सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से ही करता है, इसलिए उसे शाश्वत सत्यों के चित्रण का नारा, अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका। उसकी तो यही मान्यता है कि—"सामयिक संघर्ष में आधुनिक साहित्य जितना ही तपेगा, उसका रंग-रूप उतना ही निखरेगा। इस संघर्ष से दूर रहकर यदि लेखक सोने की कलम से भी काल्पनिक साधनों के गीत लिखेगा तो उसकी कलम और साहित्य का मूल्य दो कौड़ी से ज्यादा नहीं होगा।"[२] अतएव वह युग-सत्य को वाणी प्रदान करने में ही कला की सार्थकता मानता है और बड़ी स्पष्टता के साथ घोषित करता है।

व्यक्त सिर्फ आज के सवाल चाहिए
तम नहीं प्रभात लाल लाल चाहिए
व्यक्ति की करुण कराह उतारनी
आग जो दबी उसे पुन: उभारनी।[३]

वस्तुत: यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ह्रासशील वर्ग ने सदैव ही धर्म और नीति के शाश्वत सत्यों की पुकार लगाकर ही क्रान्तिकारी शक्तियों के मार्ग में बाधाएँ

१. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ० ७८।
२. डा० रामविलास शर्मा : भाषा संस्कृति और साहित्य : पृष्ठ १५१
३. डा० महेन्द्र भटनागर ; कला : टूटती शृङ्खलाएँ (द्वि० सं०) : पृ० ४०

उपस्थित की हैं और अपनी मृतप्राय' संस्कृति को सुरक्षित रखना चाहा है–ताकि उसके निहित स्वार्थों की रक्षा होती रहे। आज के साम्राज्यवादी और पूंजीपति वर्ग भी इसी शाश्वत सत्यों के अस्त्र को अपनाया है। प्रगतिशील कवि इस ऐतिहासिक तथ्य से पूर्णतः परिचित है और इसीलिए व्याख्यात्मक रूप से उसने शोषक वर्ग के शाश्वत सत्यों की पुकार के वास्तविक अर्थ को–जो कि शुद्ध अमानवीय है–उद्घाटित कर दिया है।[१] कविवर दिनकर ने भी इसीलिए ऐसे व्यक्तियों को निर्दय ही माना है, जो कि भूख से तड़पते प्राणों के आगे 'दर्शन' परोसने का कार्य करते हैं :

> दहक रहे भीषण क्षुधाग्नि से जिसके प्राण अभागे
> निर्दय है, दर्शन परोसता है जो उसके आगे।[२]

यही कारण है कि प्रगतिशील कवि ने अपने युग की प्रायः प्रत्येक मह[illegible] सामयिक घटना को अभिव्यक्त किया। सन् १९४२ की क्रांति, बंगाल का [illegible] द्वितीय महायुद्ध, तथा उससे उत्पन्न परिस्थिति की विभी[illegible] नौ-सैनिक विद्रोह, आजाद हिन्द फौज, स्वाधीनता सं[illegible] साम्प्रदायिक दंगे, भारत का विभाजन, आजादी की [illegible] गांधीजी की बर्बर हत्या, काश्मीर समस्या और ची[illegible] आक्रमण–आदि अनेकानेक घटनायें प्रगतिशील कविता की विषय-वस्तु के रूप में [illegible] प्राप्त कर सकी हैं। इनमें बंगाल का अकाल, द्वितीय महायुद्ध तथा उससे उ[illegible] परिस्थिति की विभीषिका, साम्प्रदायिक दंगे तथा गांधीजी की हत्या ने प्रगति[illegible] कवि की चेतना को विशेष रूप से झकझोरा है।[३]

समसामयिक घटनाओं की अभिव्यक्ति

---

१. जब मैं आगे बढ़ा विश्व की ज्वाला का आलिंगन करने
जब मैं चला सिन्धु की सत्ता में अस्तित्व-बिन्दु लय करने
मृतप्राय संस्कृत के हामी बोले – 'मुख मोड़े जाते हो' ?
अग्नि-गान गाकर तुम शाश्वत सत्यों को छोड़े जाते हो ?
गोया शाश्वत सत्य क्लीव बनकर जीवन-यापन करना है
मानवता मिट जाय हमें तो बस ठंडी आहें भरना है।
— सुमन : वि० बढ़ता ही गया : पृ० ८३

२. दिनकर : हिमालय का सन्देश : चक्रवाल : पृ० ३७९

३. यहाँ हमने इन्हीं घटनाओं का विवेचन किया है। अन्य घटनाओं को उ[illegible] सम्बंधित उप-शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

1072/1150
1674

ल का अकाल

४३ में 'बंगाल के अकाल' ने वास्तव में सम्पूर्ण देश के सम्मुख धार्मिक विभी क अत्यंत विकराल एवं घृणित स्वरूप उपस्थित कर दिया था। उसने म सामने एक बड़ा प्रश्न-चिन्ह ही लगा दिया था। कलकत्ता-विश्वविद्यालय पोलोजी डिपार्टमेन्ट' की जांच-रिपोर्ट में अकाल द्वारा होने वाली मृत्यु-संख्या को को अनुमानतः ३५,००,००० के लगभग बताया गया था।[1] उस वीभत्स और कारुणिक दृश्य को देखकर सदैव छाया और रहस्य के अन्तर्लोक में मग्न रहने वाली सुश्री महादेवी वर्मा की लेखनी भी चीत्कार करती हुई बोल उठी थी : "आज के विराट मानव की व्यथा का समुद्र आज लेखक को, जीवन का कोई महान तथ्य, कोई अमूल्य सत्य न दे सकेगा, ऐसा विश्वास कठिन है। इस दुर्भिक्ष की ज्वाला का स्पर्श करके हमारे कलाकारों, लेखकों की तूली यदि स्वर्ण न बन सकी, तो उसे राख हो जाना पड़ेगा।"[2] प्रगतिशील कवियों ने महादेवी वर्मा की इस पुकार को व्यर्थ न

---

1. The probale total number of death the normal comes to well-over three and a half million.

— सुखसम्पत्तिराय भण्डारी कृत 'भारत वर्ष के स्वातंत्र्य संग्राम का इतिहास' पृष्ठ ७५६ से उद्धृत

२. जल दे, फल दे, और अन्न दे
जो करती थी जीवन-दान,
मर घट-सा अब रूप बनाकर
अजगर-सा अब मुँह फैलाकर
खा लेती अपनी संतान।
बच्चे और बच्चियां खाती
लड़के और लड़कियां खाती
खाती युवक-युवतियां खाती
खाती बूढ़े और जवान,
निर्ममता से एक समान,
बंग भूमि बन गई राक्षसी —
कहते ही लो कटी जबान।

— बंगाल का अकाल (पहला संस्करण), पृष्ठ ८–९

आने दिया। सुमन, केदार, नरेन्द्र शर्मा, उदयशंकर भट्ट, बच्चन, महे आदि ने इस विषय पर बड़ी सशक्त रचनाएँ लिखीं। बच्चनजी ने ठो होकर शस्य-श्यामला बंग भूमि को अपनी ही सन्तान को ग्रस लेने वाली माता के रूप में चित्रित किया। उदयशंकर भट्ट ने अकालग्रस्त बंग-वासियों को 'रक्त-हीन, मांस—हीन, प्राण—हीन, धन—हीन', फुटपाथ पर पड़े हुए 'नरक के कीड़े' के रूप में देखा।[1] नरेन्द्र शर्मा ने उन्हें 'जीवित शव' की संज्ञा दी,[2] डा० रामविलास शर्मा ने उनकी 'हड्डी-हड्डी; में भूख की आग को' सुलगते हुए पाया[3] और डा० शिवमंगलसिंह सुमन ने उनका नग्न वीभत्स चित्र इन शब्दों में अंकित किया:

> निपट दुधमुँहे बच्चे सूखी छाती से असक्त
> चूस रहे माँ के जीवन का बचा बचाया रक्त
> जिस गोदी में जीवन पाया पाया लाड़-दुलार
> आज उसी में बिना कफ़न के सोये शिशु सुकुमार।[4]

प्रगतिशील कवि ने केवल इन नग्न और वीभत्स यथार्थ चित्रों को ही प्रस्तुत कर अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानली। उसने अकाल के मूल कारण पूँजीवादी समाज—व्यवस्था को उलट कर नयी नींव डालने की प्रतिज्ञा भी की[5] और स्वयं बंगवासियों को भी विद्रोह के लिए ललकारा:

---

१. बंगाल : अमृत और विष : पृष्ठ ३९

२. मृत मानव, कुछ जीवित शव, सब हाथ पसारे आते हैं
   दो दानों को मुट्ठी बाँधे, मिट्टी में सो जाते हैं।
   —सुधा-सिन्धु : हंसमाला : पृष्ठ ३३

३. हड्डी हड्डी में सुलग रही है आग भूख की,
   सुलग रहा है भीतर-भीतर रक्तहीन मानव-तन,
   —गुरुदेव की पुण्यभूमि : रूप-तरंग : पृष्ठ ३०

४. कलकत्ते का अकाल—१९४३ : प्रलय—सृजन : पृष्ठ ७६—७७

५. मानवता की शपथ ले रहे हैं यह कह कर आज
   एक एक दाने का बदला ले लेंगे मय ब्याज
   उलट तुम्हारी सड़ी व्यवस्था डालेंगे वह नींव
   फिर न बिसूर कर मरे नरतनधारी जीव
   वर्ग भेद शोषक शोषित के फिर न पड़ेंगे देख
   आगे के कवि को न पड़ेगा लिखना ऐसा—लेख
   —सुमन : वही : वही : पृष्ठ ८३

ओ मरण के अस्थि-पंजर
आज बल अपना दिखादो,
घोर विप्लव ही मचादो
आज सागर को हिलादो
मौन हैं उच्छ्वास कहदो
आज उनसे 'पुन: जागो।'
छीन लो अधिकार अपने,
दीन बनकर कुछ न माँगो।[1]

(ख) द्वितीय महासमर की विभीषिका

द्वितीय महासमर के आतंकित वातावरण ने भी प्रगतिशील कवि की मानवतावादी भाव-चेतना को आहत किया है। कविवर पंत की '१९४०' शीर्षक कविता में द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका का ही चित्र अंकित हुआ है :

इधर अड़ा साम्राज्यवाद, शत शत विनाश के ले आयोजन
उधर प्रतिक्रिया रुद्ध शक्तियाँ क्रुद्ध दे रहीं युद्ध—निमंत्रण।
सत्य न्याय के बाने पहने, सत्यलुब्ध लड़ रहे राष्ट्र गण,
सिन्धु-तरंगों पर क्रय-विक्रय स्पर्धा उठ गिर करती नर्तन।
धू-धू करती बाप-शक्ति, विद्युत-ध्वनि करती दीर्ण दिगंतर,
ध्वंस—भ्रंश करते विस्फोटक धनिक सभ्यता से गढ़ जर्जर।[2]

इस युद्ध ने 'मृत्यु की विभीषिका' को प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख उसके जीवंत लेकिन विकराल रूप में प्रस्तुत कर दिया था। जीवन पूर्णत: अनिश्चित हो गया था श्री उदयशंकर भट्ट ने युद्धकालीन इस स्थिति का बड़ा ही सजीव रेखा-चित्र प्रस्तुत किया है :

गिरते अचूक हैं बम्ब कहीं,
नर छिन्न भिन्न-अवलम्ब कहीं,
आँखों में कटती दुखद रात
भय-विगलित जीवन-पारिजात
इस ओर मृत्यु —

१. डा० महेन्द्र भटनागर : बंगाल का अकाल : बदलता युग : पृष्ठ ११—१२
२. ग्राम्या : पृष्ठ ८७

उस ओर मृत्यु
झकझोर रही
सब ओर मृत्यु,
कुछ चौंक रहे कह वज्र गिरा,
मर रहे अँधेरे से टकरा,
निज साँस तोड़, सब आस छोड़,
नैराश्य-निशा के नाश जोड़
सो रहे समुज्ज्वल जीवन पर,
यम-छाया का कंकाल ढाँप।[१]

इस युद्ध का सबसे बड़ा प्रदेय तो यह है कि इसने साम्राज्यवाद के चरम कुत्सित रूप को सबके सामने स्पष्ट कर दिया और 'एटम बम्ब' के रूप में मानव के विनाश--प्रतीक ने सबके हृदय को थरथरा दिया। निश्चय ही प्रगतिशील कवि की साम्राज्यवाद विरोधी भावना तथा शान्ति-चेतना को इस युद्ध ने और भी अधिक उद्दीप्त बनाया है। वैसे, इस युद्ध काल में अनेक प्रगतिशील कवियों ने रूस की बहादुरी का ही गुणगान अधिक किया है -- जिनका कि स्वरूप हम अन्तर्राष्ट्रीय चेतना के प्रसंग में देखेंगे।

[ग] साम्प्रदायिक दंगे

हिन्दुस्तान सांप्रदायिक समस्या से बहुत अधिक पीड़ित रहा है। यह समस्या वस्तुतः ब्रिटिश शासकों की ही देन है। सन् १९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना उन्हीं की प्रेरणा और प्रोत्साहन से हुई थी। बाद में प्रतिक्रिया स्वरूप सन् १९०७ में पंजाब में हिन्दू सभा की स्थापना हुई जो कि आगे चलकर 'हिन्दू महासभा' के रूप में परिणत हो गई। वैसे तो हिन्दू और मुसलमानों के बीच अनेक साम्प्रदायिक दंगे हुए, लेकिन १६ अगस्त १९४६ से मुस्लिम लीग ने सीधी कार्यवाही के नाम पर जिन दंगों की आग भड़काई थी, वे भारतीय इतिहास की सर्वाधिक अमानुषिक घटनाएँ हैं। इन दिनों कलकत्ता, नोआखाली और बिहार तथा पंजाब में भीषण नरमेघ हुआ।

हिन्दी के प्रगतिशील कवियों ने इस भीषण नर-मेध और साम्प्रदायिक पागलपन के विरुद्ध अपनी सशक्त आवाज़ बुलन्द की। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने इन

१. पूर्वापर : पृष्ठ ४९

दंगों को भारतीय स्वातंत्र्य की सबसे बड़ी बाधा के रूप में देखा और उनकी आत्मा चीत्कार करती हुई अत्यंत क्षुब्ध स्वरों में कह उठी :

जलते हैं हिन्दू-मुसलमान, भारत की आँखें जलती हैं
आनेवाली आजादी की लौ। दोनों पाँखें जलती हैं।[1]

प्रगतिशील कवि ने इन दंगों को भी 'शोषकों का छल-छद' ही माना। उसकी दृष्टि में शोषक-वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्ग का खून चूसने के लिए ही इन दंगों का आयोजन कराया जाता है।[2] लेकिन यह द्रष्टव्य है कि प्रगतिशील कवि इन दंगों की विभीषिका के बीच भी मानवता पर अपनी आस्था अडिग रख सका है। जब यह दंगों की भीषण ज्वाला जल रही थी उसका तब भी यह अडिग विश्वास बना रहा कि इन लपटों के बदले एक दिन अवश्य ही सूरज की लाली का उदय होगा और लपटों से झुलसायी धरती नयी फसल से लहरा उठेगी :

नयी फसल देगी फिर धरती लपटों से झुलसायी।
खाद बनेंगे लूट और हत्या के ये व्यवसायी।
पाँचों नदियाँ एक साथ सींचेंगी यह हरियाली।
लपटों के बदले होगी उगते सूरज की लाली।[3]

[घ] महात्मा गांधी की हत्या

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से अनेक प्रगतिशील कवि महात्मा गांधी के सिद्धान्तों से सहमत नहीं रहे हैं, लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्व की दृष्टि से तथा उनके साम्राज्यवाद विरोधी, शान्तिकामी एवं शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूतिमय व्यक्तित्व ने उन्हें सदैव ही प्रभावित किया है। फिर, साम्प्रदायिकता की बलिवेदी पर हुई उनकी हत्या ने तो उन्हें अत्यंत ही विक्षुब्ध बनाया है। श्री गिरिजाकुमार माथुर ने महात्मा गांधी के इस वध को 'धरती का सूरज' डूबने से उपमित किया और यह माना कि इस काल-पुरुष के मिट जाने से सारी धरती का ही भाल सूना होगया।[4]

---

१. हे मेरे स्वदेश : सामधेनी : (प्र० सं०) : पृष्ठ ३९

२. ये छल छन्द शोषकों के हैं कुत्सित, ओछे-गन्दे
तेरा खून चूसने को ही ये दंगों के फंदे।
—सुमन : 'मेरा देश जल रहा .....' : विश्वास बढ़ता ही गया : पृ० २२

३. डा० रामविलास शर्मा : पंजाब का हत्याकाण्ड : रूप-तरंग : पृष्ठ ७८

४. सूरज डूब गया धरती का, सायंकाल हुआ।
काल-पुरुष मिट गया — धरा का सूना भाल हुआ।
—सायंकाल : धूप के धान : पृष्ठ ४४

डा० सुमन ने तो इस वध को मानवता के आदर्शों का ही वध मानते हुए अपने भावानुकूल स्वरों में लिखा :

> यह वध है शान्ति, अहिंसा, श्रद्धा, क्षमा, दया, तप, समता का
> यह वध है करुणामयी-सिसकती दुनिया माँ की ममता का।
> यह वध है उन आदर्शों का जिन पर मानवता बिकी हुई,
> यह वध है उन उत्कर्षों का जिन पर यह दुनिया टिकी हुई।[1]

लेकिन प्रगतिशील कवि इस प्रकार केवल अपनी अन्तर्व्यथा प्रकट करते ही नहीं रह गया। उसने साम्प्रदायिकता को जड़ मूल से उखाड़ने की प्रतिज्ञा भी की[2] और बापू के अगणित स्वप्नों को 'रूप और आकृति' देने की शपथ भी ली।[3]

इन कतिपय समसामयिक घटनाओं के प्रति प्रगतिशील कवि की प्रतिक्रिया का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि वह अपने समसामयिक युग-जीवन के प्रति बड़ा सजग एवं सचेष्ट रहा है।

---

१. महात्माजी के महा निर्वाण पर : पर आँखें नहीं भरीं : पृष्ठ १०३

> हां बापू ! मैं निष्ठा-पूर्वक आज शपथ लेता हूँ
> सम्प्रदायवादी दैत्यों के विकट खोह जब तक खण्डहर न बनेंगे
> तब तक मैं इनके खिलाफ लिखता जाऊँगा।
>
> —नागार्जुन : युग धारा : पृष्ठ १८

> कालीदह के कालिया नाग को हम नाथेंगे, कुचलेंगे
> जहरीले दांत उखाड़ सिन्धु की लहरों में लय कर देंगे।
> हम अनाचार-हिंसा-बर्बरता से कर देंगे मुक्त मही
> कहने सुनने को भी न मिलेंगे आस्तीन के सांप कहीं।
>
> —सुमन : महा-प्रयाण : पर आँखें नहीं भरीं : पृष्ठ १०९

> मैदानों के कांटे चुन चुन
> पथ के रोड़ों को हटा हटा
> तेरे उन अगणित स्वप्नों को
> हम रूप और आकृति देंगे
> हम कोटि कोटि
> तेरी औरस संतान, पिता।

: महा-शत्रुओं की दाल न गलने देंगे : हंस : मार्च १९४८ : पृ० ४१

अतीत और परंपरा के प्रति भी उसकी दृष्टि इसी समसामयिकता की चेतना से अनुप्राणित रही है। उसने अतीत और परम्परा को वर्तमान के सदर्भ में ही देखा है। वह अतीतकाल की परम्परा का वैज्ञानिक मूल्यांकन करता है और उसके प्रति मोहान्ध न होकर-उसके उचित तथा अनुचित दोनों पक्षों का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत करता है। श्री गिरिजाकुमार मथुर ने अपनी 'पहिये' शीर्षक कविता में अतीत का ऐसा ही वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत सामंतीय युग का वैज्ञानिक विश्लेषण देखिए। पहले, उन्होंने सामंत-युग के गौरव रूप की व्यञ्जना इस प्रकार की है :

अतीत और परंपरा के प्रति दृष्टि

> इन पहियों की छायाओं में
> दिखती हैं कितने युग की तसवीरें विराट
> वे आरम्भिक कृषि-युग की गाड़ी के चक्के
> स्वर्णिम गेहूँ-जौ के बोझों से दबे हुए
> वे यात्रा के अलक्षित साधन
> धीरज साहस के सबसे बूढ़े विजय-चिन्ह
> वह पथ में पंक्ति बाँध बढ़ते रथ चक्रवान
> सामंती युग के प्रारम्भिक गौरव-निशान
> वे अर्ध-चन्द्र धनु प्रत्यचा, तूणीर, तीर
> धन वज्र, कुठार, खंग, मारक आयुध अधीर [१]

इसके बाद कवि ने उस युग के ह्रासशील, बर्बर एवं क्रूर रूप को भी व्यञ्जित किया :

> बढ़ती जाती है दृष्टि और सदियों आगे
> वह अर्ध ज्ञान मय अँधयारे जग का आँगन
> अधिकारहीन धरती का पुत्र निरीह नयन
> कर बाँधे, अपलक दृष्टि, खड़ा जो पैरों में
> उन दैवी सम्राटों के सिंहासन नीचे
> फिर दिखते हैं वे दुर्ग, बुर्ज गोलार्ध भीम

---

१. धूप के धान : पृष्ठ १८-१९

अत्याचारों के लौह-कवच
सीजर की असि-गूंजों से ले फ़्यूहरों तक
नीरो, चंगे, तैमूरों के अट्टहास
उठकर सहसा हैं आ जाते
फिर बुझ जाते हैं काल-चन्द्र की घूमों में। [१]

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रगतिशील कवि ने अतीत के मूल्यांकन में अपनी ऐतिहासिक सामाजिक दृष्टि का ही परिचय दिया है। उसने जहाँ अतीत की गौरवमय उपलब्धि को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है, वहीं वह उसके प्रति अन्ध-श्रद्धालु भी नहीं रहा है। श्री माथुर की 'बुद्ध' शीर्षक कविता भी उनकी ऐतिहासिक दृष्टि का परिचय देती है : इसमें कवि ने अतीत की गौरवमय उपलब्धि के पक्ष को प्रस्तुत किया है। [२] यद्यपि प्रगतिशील कवि ने अपने अतीत के गौरव-पक्ष के प्रति श्रद्धा और भक्ति के स्वर गुंजित किए हैं, [३] लेकिन उसमें पुनरुत्थान की भावना का सर्वथा अभाव है। वह अतीत की देन को तो स्वीकार करता है, लेकिन उसकी पुनरावृत्ति मात्र नहीं चाहता। इसलिए वह बीते हुए इतिहास पर रोना उचित नहीं समझता। [४] वह तो अतीत को वर्तमान को प्रेरित करने वाले एक तत्व के रूप में ही ग्रहण करता है और अतीत की कथाओं को भी वर्तमान की पृष्ठभूमि पर ही संजोता है। दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' तथा 'रश्मिरथी' में

---

१. धूप के धान : पृष्ठ १८-१९

२. आज लौटती आती है पद-चाप युगों की,
सदियों पहले का शिव-सुन्दर मूर्तिमान हो
चलता जाता है बीती इतिहासों पर
श्वेत हिमालय की लकीर-सा।

—प्रगति १ : पृष्ठ ७९

३. सिन्धुपर तेरी लिखी है प्रेम की जय
जग रही है बधु करुणा भी अभी तक……।

—रांगेय राघव : मंजिल : हंस नवम्बर १९४७ : पृष्ठ १२१

४. बीते हुए इतिहास पर
रोना यहाँ अच्छा नहीं

—'संसार है संसार है'—प्रलय सृजन : पृष्ठ १ : सुमन

रांगेय राघव का 'मेधावी' ऐसी ही प्रबन्ध-रचनायें हैं। डा० सुमन की 'जल रहे हैं दीप, जलती है जवानी'[१] गिरिजाकुमार माथुर की 'धरादीप'[२] तथा रांगेय-राघव की 'सेतुबन्ध'[३] शीर्षक कविताओं में भी वर्तमान युग की पृष्ठभूमि ही अपने प्रतीकात्मक रूप में चित्रित हुई है।

स्पष्ट है कि प्रगतिशील कवि उसी अतीत और परम्परा को श्रद्धांजलि अर्पित करता है, जो कि नव निर्माण में सहायक होता है। इसके विपरीत परम्परा को-जो कि नव निर्माण मे बाधक सिद्ध होती है, ठुकराने के लिए भी प्रस्तुत रहता है। उसकी तो यह दृढ़ धारणा है कि पुराने संकुचित दर्शन को लेकर आज के बदले हुए विश्व में अपने लक्ष्य को साकार नहीं किया जा सकता।[४] श्री केदारनाथ अग्रवाल ने इसीलिए यह विश्वास व्यक्त किया है कि नवयुग की गंगा प्राचीन को डुबा कर अवश्य ही नए संसार को जन्म देगी।

> युग की गंगा
> *सब प्राचीन डुबायेगी ही*
> नयी बस्तियाँ
> शान्ति निकेतन
> नव संसार बसायेगी ही।[५]

---

१. विश्वास बढ़ता ही गया : पृष्ठ ८६

२. धूप के धान : पृष्ठ १३३

३. पिघलते पत्थर : पृष्ठ १८

४. बोलो, ये पुरातन नीतियाँ, विश्वास
मृत औ संकुचित दर्शन पुराना ले,
पुरानी धारणाओं से, पुरानी कल्पनाओं से
कभी क्या जीत पाओगे ?
कभी अपने बनाए लक्ष्य को
साकार कर क्या देख पाओगे ?
बदलते विश्व के सम्मुख।
डा० महेन्द्र भटनागर ; नई दिशा : नई चेतना : पृष्ठ ३३

५. युग की गंगा : पृष्ठ ८.

उसके आदर्श रूप को उपस्थित किया है[1] लेकिन मुख्य रूप से उसकी दृष्टि अपने देश के 'अर्धक्षुधित' और 'शोषित' रूप की ओर ही विशेष गई है।

पन्तजी की 'भारत माता' में देश के यथार्थ रूप की व्यञ्जना हुई है :

तीस कोटि सन्तान नग्न तन
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन
मूढ़-असभ्य, अशिक्षित, निर्धन
नत मस्तक
तरु तल – निवासिनी।
स्वर्ण शस्य पर-पदतल लुंठित,
धरती सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रन्दन कम्पित अधर मौन स्मित
राहु-ग्रसित
शरदेन्दु-हासिनी।[2]

श्री भवानीप्रसाद मिश्र ने कवियों द्वारा प्रस्तुत भारत-माँ के आदर्श-चित्र को उसका उपहास करनेवाला ही बताया है। वह तो एक किसान के प्रतिनिधि के रूप में ऐसे नेताओं से यही आग्रह करता है कि वे उसमें बरबस हास-विलास न भरें।[3] वे तो भारत-माँ का यथार्थ रूप लाखों कंकालों में ही जागता हुआ देखते हैं।[4]

---

१. देखिए : रांगेय राघव : भारत-गीत : प्रगति १ : पृष्ठ १२६

२. ग्राम्या : पृ० ४८

३. मेरी माँ के मुकुट, अरे परिहास करो मत,
उस दुखनी के हाथों वीणा,
उस तपसिन की जीर्ण कुटी में,
कोटि कोटि कंठों से गाकर,
बरबस लास-विलास,
दुहाई, बरबस हास-विलास भरो मत।
— मेरे नेता : गीत फरोश : पृष्ठ ५९

४. माँ का रूप हमारे लाखों कंकालों में जाग रहा है।
— वही : वही : पृष्ठ ६०

गांधीवादी कवियों ने भारत की मुक्ति के लिए केवल अहिंसात्मक साधनों को ही महत्व दिया था और इसलिए उनमें अहिंसात्मक सत्याग्रह तथा आत्म-बलिदान की भावना ही विशेष मुखर हुई है,[१] लेकिन प्रगतिशील कवि ने पराधीनता के उन्मूलन के लिए गांधीजी द्वारा प्रतिपादित साधनों को अधिक महत्व नहीं दिया। वह स्वाधीनता के लिए याचना करना उचित नहीं मानता। वह तो स्वाधीनता का अपहरण करने वालों के विरुद्ध वार करने के लिए ही सदैव तत्पर रहता है।

सर्वोपरि मातृ भूमि का विराट प्यार
याचना प्रहरी, संभाल आज वार।[२]

यद्यपि प्रगतिशील कवि ने भी अपने बलिदान की भावना व्यक्त की है[३] लेकिन उसकी इस बलि-भावना के मूल में अहिंसात्मक दृष्टि नहीं है, वह तो विप्लव राग गाकर विद्रोह की आग से दासता की शृंखलाओं को चूर-चूर कर देना चाहता है[४] उसे अहिंसा के प्रतीक युधिष्ठिर की आवश्यकता नहीं है, वह तो क्रान्ति और विद्रोह के प्रतीक भीम और अर्जुन को ही वापिस चाहता है[५] कुरुक्षेत्र में भी दिनकर जी ने मूलतः इसी दृष्टि को व्यक्त किया है। युद्ध की समस्या पर विचार करते हुये उनके शंकाकुल हृदय ने प्रश्न पूछा है —

---

१. मातृ मन्दिर मे हुई पुकार,
चढ़ा दो मुझको हे भगवान।
—सुभद्रा कुमारी चौहान : मुकुल : पृ० सं० २०३

२. रांगेय राघव ; हंस : मार्च १९४७ : पृष्ठ ४११

३. है समय यही आंखे खोलो, वेदी पर धधकी प्रलय-आग,
अभिमान करो, बलि चढ़ चढ़ कर, गाओ हँस हँस कर विजय-राग।
शील : अंगड़ाई : पृष्ठ ५०

—देखिए— सुमनजी की 'लो आज बज उठी रण-भेरी' तथा 'पथ भूल न जाना पथिक कहीं, (जीवन के गान ३४, ४०) — कविताएँ भी।

४. शम्भूनाथ सिंह : विप्लव राग : मन्वन्तर : पृष्ठ ६—९

५. रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गाण्डीव-गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर। —दिनकर : हिमालय : चक्रवाल
पृष्ठ ९

पापी कौन ? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला ?
या कि न्याय खोजते विघ्न का शीश उड़ाने वाला ?[१]

और निश्चय ही उनकी सहानुभूति उसी के साथ है, जो कि न्याय के लए विघ्न का शीश उड़ाने लिए तत्पर रहता है।

डा० नगेन्द्र की दूसरी स्थापना कि प्रगतिवाद में राष्ट्र केवल सर्वहारा वर्ग ा प्रतीक है – अन्य वर्गों के प्रति उसे सहानुभूति नहीं है – को सर्वांश में स्वीकार हीं किया जा सकता। उसने तो, पराधीनता के विरुद्ध संघर्षित संपूर्ण जनता का भिनन्दन किया[२] और दूसरी ओर, सर्वहारा श्रमिक वर्ग के साथ ही कृषक तथा नम्न मध्य वर्ग के प्राणियों को भी अपनी अखण्ड सहानुभूति अर्पित की।[३] हां, वह न मुट्ठी भर धनिक शोषकों का अवश्य ही अभिनन्दन नहीं कर सका है, जो कि र्ग-भेद की विषम व्यवस्था को बनाए रखने में ही अपना हित समझते हैं। ऐसे ोषक वर्ग से तो वह अपना स्वत्व छीन लेने के लिए आतुर है।[४]

पराधीनता के विरुद्ध भारतीय जनता के आक्रोश की अभिव्यक्ति के रूप में जो मुक्ति संघर्ष हुए, प्रगतिशील कवि ने उन्हें अपना हार्दिक समर्थन प्रदान किया है। न् १९४२ की क्रान्ति, आजाद हिन्द फौज नौसैनिक विद्रोह-सभी उसकी वाणी का ल पा सके हैं। निराला जी ने अपनी निम्न कजली में पं० जवाहरलाल नेहरू को

---

१. कुरुक्षेत्र : तेरहवां संस्करण (१९६२) पृष्ठ ४६

२.
……यह शक्ति किसमें
बन्द रक्खे सैनिकों को
सन् बयालिस के तरुण बलिदानियों को,
फौजियों, जन-सैन्य के विद्रोहियों को
या नयी जन-क्रान्ति के सेनानियों को
शूरता जिनकी अनी-सी बेधती है,
आज भी आतंक खाये, फिरंगी के मर्म को ?

—डा० रामविलास शर्मा : और भी ऊँचा उठे… : रूपतरंग पृष्ठ ८०-८१

३. उप शीर्षक "वर्ग चेतना" देखिए.

४.
हम अब जागृत संगठित और उद्यत होकर
शोषक वर्गों से लेंगे अपना सर्वस्व छीन।

—मिलिन्द : भूमि की अनुभूति : पृष्ठ २१

केन्द्र बनाकर सन् १९४२ की जनता की विवश एवं कुंठित भावनाओं को स्वर दिया है :

> काले-काले बादल छाये, न आये वीर जवाहरलाल।
> कैसे कैसे नाग मंडलाये, न आये वीर जवाहर लाल।
> बिजली फन के मन की कौंधी, करदी सीधी खोपड़ी औंधी
> सर पर सर सर करते धाये, आये वीर जवाहर लाल।......
> कैसे हम बच पायें निहत्ये, बहते गये हमारे जत्थे,
> राह देखते हैं भरमाये, न आये वीर जवाहर लाल।[1]

श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द ने भी अपनी 'अगस्त क्रान्ति का गीत' शीर्षक कविता में सन् १९४२ ई० की जनता की स्वतन्त्रता-प्राप्ति की दृढ़ इच्छा और बलिदान-भावना को व्यक्त किया है।[2]

कुछ प्रगतिशील कवियों ने जो सीधे सीधे साम्यवादी पार्टी से भी सम्बन्धित थे, अवश्य ही सन १९४२ की क्रान्ति की उपेक्षा कर, उसे अभिव्यक्ति नहीं दी है। निश्चित ही इसमें प्रगतिशील कवियों के तत्कालीन मति-भ्रम का ही परिचय मिलता है।

आजाद-हिन्द फौज को भी कतिपय प्रगतिशील कवियों ने अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित किए हैं। इस सम्बन्ध में डा० महेन्द्र भटनागर की 'जय-हिन्द'[3] तथा श्री नरेन्द्र शर्मा की 'आदेश' और 'एक गीत-जय हिन्द'[4] कवितायें उल्लेखनीय हैं।

नौसैनिक विद्रोह को प्रगतिशील कवि ने ओज और आवेश के साथ मुखरित किया है। डा० महेन्द्र भटनागर द्वारा अंकित नौसैनिक विद्रोह का क्रान्तिकारी एवं ओजपूर्ण रूप देखिए।

---

१. बेला : पृष्ठ २४

२.
> जब तक अन्तिम भारतवासी जीवित बचे आत्म-बलि रण में
> और एक रक्त अन्तिम कण हो बाकी उसके आहत तन में
> तब तक उसके सुदृढ़ करों में लगा रहे राष्ट्र का प्यारा
> है स्वतन्त्र सब भारतवासी, भारतवर्ष स्वतन्त्र हमारा।
>
> —बलिपथ के गीत : पृष्ठ १०

३. बदलता युग : पृष्ठ १७

४. हंस माला — क्रमशः : पृष्ठ ४७ व ४८ पर

नौ सैनिक चले मिलकर जहाजों को उड़ाने को
भीषण गोलियाँ बरसी गुलामी को मिटाने को
"गोरे" आततायी सब–छिप डरकर सभी भागे
दुश्मन कौन था जो आ सका बढ़कर वहाँ आगे
जब जन मुक्ति आन्दोलन मशालें जग उठीं अगणित,
पशुबल जा छिपा उल्लू सरीखा बन भयातंकित।[१]

डा० शिवमंगल सिंह सुमन की 'आज देश की मिट्टी बोल उठी है'—इस विषय की सर्वाधिक सशक्त कविता है। इसमें साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध कवि का आक्रोश दृष्टव्य है :

देखें कल दुनियाँ में तेरी होगी कहाँ निशानी
जा तुझको न डूब मरने को भी चुल्लू भर पानी
शाप न देंगे हम बदला लेने की आन हमारी
बहुत सुनाई तूने अपनी आज हमारी बारी
आज खून के लिये खून, गोली का उत्तर गोली
हस्ती चाहे मिटे न बदलेगी बेबस की बोली
तोप-टैंक एटम बम सब कुछ हमने सुना-गुना था
यह न भूल मानव की हड्डी से ही वज्र बना था।[२]

श्री शमशेर बहादुर सिंह की 'शहीद कहीं हुये हैं......'[३] शीर्षक कविता भी 'नौसैनिक विद्रोह' के क्रान्तिकारी रूप का ही सजीव चित्र अंकित करती है।

प्रगतिशील कवि की राष्ट्रीय भावना अमूर्त और भावात्मक मात्र नहीं है। वह 'विशेष' के माध्यम से ही 'सामान्य' की ओर उन्मुख हुई है। श्री नामवरसिंह के शब्दों में "पहले की देश—भक्ति सामान्योन्मुखी थी तो प्रगतिशील-युग की देश-भक्ति विशेषोन्मुख है और इसीलिए अधिक ठोस और वास्तविक है, यह विशेष के भीतर से ही सामान्य को प्रकट करती है।"[४] प्रगतिशील कवि की देश-भक्ति का यह 'विशेष' रूप दो प्रकार से प्रकट हुआ। एक तो उसने देश को मात्र भावात्मक सत्ता के रूप में नहीं देखा। उसने देशवासियों

---

१. बदलता युग : पृष्ठ १४-१५
२. विश्वास बढ़ता ही गया : पृष्ठ ४३
३. हंस, सितम्बर १९४८ : पृष्ठ ८८३
४. आ० सा० की प्रवृत्तियाँ (द्वि० सं०) पृष्ठ १०६

के माध्यम से ही देश के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त किया। दूसरे, उसने देश के साथ ही साथ अपने गांव व जनपद के प्रति भी अपने अगाध प्रेम का परिचय दिया है। अपने विदेश-पर्यटन के अवसर पर भी अपने देश या गाँव के मिट्टी के बने हुये कच्चे घर-द्वारों की याद नहीं भुला पाता है :

सभी पराया, सभी अचीन्हा
रंग हजारों पर मन सूना
नभ-भवनों में याद आ रहे
ये कच्चे घर-द्वार सलोने।[1]

और जब देश में ही अपने गाँव व जनपद से दूर कहीं प्रवास की बेला में होता है, तो उसे अपने गाँव व 'जनपद' का मोह आकर्षित करता रहता है :

याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आती लीचियाँ वे आम
याद आते मुझे मिथिला रुचिर भू-भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान।[2]

'दिनकर' की 'मिथिला में शरत' शीर्षक कविता में भी अपनी जन्मभूमि प्रति कवि की अगाध मोह भावना प्रकट हुई :

हे जन्म भूमि शत बार धन्य
तुम सा न 'सिमरिया घाट' अन्य।
तेरे खेतों की छवि महान
अनियन्त्रित आ उर में अजान
भावुकता बन लहरानी है
फिर उमड़ गीत बन जाती है![3]

इस प्रगतिशील कवि ने अपने गांव जनपद के प्रति अपने विशिष्ट प्रेम एवं मोह को व्यक्त किया है। लेकिन यह मोह उसकी देश-भक्ति की चेतना के मार्ग में

---

१. श्री माथुर : ग्यूयार्क की एक शाम : धूप के धान : पृ० ६१
२. नागार्जुन : सिन्दूर तिलकित भाल : सतरंगे पंखोंवाली : पृष्ठ ४७
३. रेणुका (तृतीय संस्करण) : पृ० ५३

…क तत्व कभी नहीं बना है। अवसर आने पर उसने तो उतना ही प्रेम अन्य …तों के प्रति भी दिखाया है।[1]

स्वाधीनता और उसके बाद के भारत का चित्रण भी प्रगतिशील कवि ने …ष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर ही किया है। स्वाधीनता की प्राप्ति पर उसने भी …पने हृदय की उमंग और उल्लास की भावना को उन्मुक्त वाणी प्रदान की। यह …र्वाधिक भाव-विभोर होकर गा उठा :

> मंगल-मुहूर्त, तरुगण, फूलों, नदियों, अपना पय-दान करो,
> जंजीर तोड़ता है भारत, किन्नरियों, जय जय गान करो।[2]

उसने भी जन-जीवन की आनन्द-चेतना में रस-मग्न हो यह अनुभव किया …क आज देश में एक नयी भोर का उदय हुआ है और उसे चारों ओर उमड़ता हुआ …त्साह दिखाई दिया :

> आज देश में नयी भोर है,
> नयी भोर का समारोह है।
> आज सिन्धु गर्वित प्राणों में
> उमड़ रहा उत्साह।[3]

प्रगतिशील कवि ने इस आनन्द-चेतना को तो व्यक्त किया है, पर साथ ही उसने अपने देश के नव-निर्माण के लिये अधिक सशंक एवं सावधान रहने का संदेश दिया।[4]

---

१. देखिए-डा० रामविलास शर्मा की रूप-तरङ्ग में संकलित-'गुरुदेव की पुण्यभूमि', 'बैसवाड़ा', 'कृष्णातट पर विजयवाड़ा', 'मातृतीर्थः तिरूचिरापल्ली', 'केरल : एक दृश्य'-आदि कवितायें।

२. दिनकर : नीम के पत्ते (द्वि० सं०) : पृष्ठ १४

३. शील : आज देश में नयी भोर है : हंस सितम्बर १९४७ : पृ० ८७५

४. ऊँची हुई मशाल हमारी, आगे कठिन डगर है
शत्रु हट गया, लेकिन उसकी छायाओं का डर है
शोषण से मृत है समाज, कमजोर हमारा घर है
किन्तु आ रही नई जिन्दगी यह विश्वास अमर है
जन-गंगा मे ज्वार, लहर तुम प्रवहमान रहना
पहरुए, सावधान रहना।
—माथुर : पन्द्रह अगस्त : धूप के धान : पृष्ठ ४०

प्रगतिशील कवि ने आजादी के बाद के कुछ वीभत्स रूप-चित्र भी प्रस्तुत किये हैं। यह एक तथ्य है–जिसे कि भुलाया नहीं जा सकता कि जन-जीवन ने आजादी के बाद के भारत की जो तस्वीर अपने सपनों और कल्पना की रेखाओं के द्वारा अंकित की थी–वह चूर चूर हो गई। आजादी के बाद भी भारत की आर्थिक स्थिति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो सका। परिणामतः प्रगतिशील कवि का स्वर पुनः आक्रोश की गर्जना करने लगा। दिनकर जी ने 'भारत का यह रेशमी नगर' शीर्षक कविता में दिल्ली और शेष भारत का तुलनात्मक चित्र खींचा और बताया कि यद्यपि दिल्ली में ज्योति है, लेकिन भारत आज भी अंधेरे में भटक रहा है।[१] श्री महेन्द्र भटनागर की 'आजादी का त्योहार' शीर्षक कविता भी आजादी के बाद के भारत के जन-जीवन को आर्थिक विभीषिका से ग्रस्त परिस्थिति की ही व्यंजना करती है। कवि को यद्यपि आजादी बेहद प्यारी है, लेकिन उसकी आर्थिक स्थिति कैसी है–निम्न पंक्तियों में देखिए :

> लज्जा ढंकने को
> मेरी खरगोश सरीखी भोली पत्नी के पास
> नहीं है वस्त्र,
> कि जिसका रोना सुनता हूँ सर्वत्र।
>
> × × ×
>
> मेरे दोनों छोटे मूक खिलौने से दुर्बल बच्चे
> जिनके तन पर गोश्त नहीं है
> जिनके मुख पर रक्त नहीं है
> अभी अभी लड़कर सोये हैं
> रोटी के टुकड़े पर,
> यदि विश्वास नहीं हो तो
> अब भी तुम उनकी लम्बी सिसकी सुन सकते हो

---

१. भारत धूलों से भरा, आँसुओं से गीला,
भारत अब भी व्याकुल विपत्ति के घेरे में।
दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल,
पर, भटक रहा है सारा देश अँधेरे में।

—चक्रवाल : पृष्ठ ३१७

नव संकल्पों से शेषनाग के फन में गाड़ो कील।[1]

उनका यह निर्माण-परक स्वर तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है, जब कि देश की सार्वभौमिकता अथवा स्वतन्त्रता के प्रति किसी भी प्रकार का संकट उपस्थित होने पर उनकी भाव चेतना दुश्मन के विरुद्ध पूर्ण आक्रोश के साथ अपना सर्वस्व निछावर कर देने की कामना के लिए व्यंजित हो उठती है। काश्मीर की समस्या तथा चीन का आक्रमण ऐसी ही घटनायें हैं जिन्होंने कि प्रगतिशील कवियों के हृदय को झकझोरा है। देखिए, श्री गिरिजाकुमार माथुर ने काश्मीर के विद्रोही एवं क्रान्तिकारी रूप की कैसी ओजस्वी और साथ ही कलात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है।

बनकर शमशीर उठी जनता
जता परबत का नक्कारा
नदियाँ बिजली बन उतर पड़ीं
हो गया लाल ध्रुव का तारा
धरती के यह जन फूल उठे बनकर मशाल
हिम के सफेद दीपक की लौ अब हुई लाल।[2]

चीन के आक्रमण के विरुद्ध तो प्रायः प्रत्येक प्रगतिशील कवि ने अ रोषमयी फुत्कार को प्रकट किया है। नागार्जुन की निम्न पंक्तियों में उनकी क्रुद्ध दृष्टि का प्रतिनिधि स्वरूप देखा जा सकता है :

वो निकले जहरीले कीड़े लाल कमल से
सप्त सिन्धु की धार बह चली तुहिना चल से

× + +

जो करता है, सीखूँ मैं बन्दूक चलाना
जो करता है, सीखूँ मैं फौलाद गलाना
जी करता है, जन-मन में भड़काऊँ शोले
जी करता है, नेफा पहुँचूँ दागूँ गोले
विश्व-शांति की घायल देवी चीख रही है

---

१. सुमन : स्वर्ग और धरती को ...... : विश्वास बढ़ता ही गया : पृष्ठ ९९
२. 'बरफ का विद्रोह' : धूप के धान : पृ० ४९

सर्वनाश की डायन हँसती दीख रही है।[1]

[स] अन्तर्राष्ट्रीय भाव-धारा

प्रगतिशील कवि की उक्त राष्ट्रीय भाव-धारा अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोध नहीं है। 'अन्ध राष्ट्रवाद' को तो वह 'अफ़यून के घूँट' पिलाने वाला 'पूँजीपतियों का रिसाला' मानता है।[2] यही कारण है कि उसने सम्पूर्ण विश्व के मानव के सम्मुख भाईचारे का हाथ बढ़ाया है और महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को अपनी हार्दिक सहानुभूति अर्पित की है। जिस प्रकार उसने एक साथ ही अपने गाँव, जनपद और सम्पूर्ण देश को प्यार किया है, उसी प्रकार अपने देश के साथ ही उस विश्व के अन्य राष्ट्रों की भी वैसी ही मंगल-कामना की है। उसे 'अमरीका का लिबर्टी स्टैचू' 'मास्को का लाल तारा' 'पेकिंग का स्वर्गीय महल' और काशी तथा देहली सभी समान रूप से प्यारे हैं।[3] उसने यदि 'कोरिया' की जय-गाथा गाई है[4] तो 'अल्जीरियाई वीरों' को भी अपनी श्रद्धा-भावना समर्पित की है।[5] फिर भी, अपने

---

१. चीन को चुनौती : सं० क्षेमचन्द्र 'सुमन' पृ० ४३–४४

२. साथियों, अन्ध राष्ट्र पूँजीपतियों का रिसाला है।
जो खोलती राष्ट्रीयता के लिए
कुर्बानियों की चादर ओढ़े
पिला रहा है तुम्हें अफ़यून के घूँट।
— शील : लेखकों से : हंस, दिसम्बर १९५० : पृष्ठ ५६

३. मुझे अमरीका का लिबर्टी स्टैचू उतना ही प्यारा है।
जितना मास्को का लाल तारा
और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल
मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं
मैं काशी में उन आर्यों का शंखनाद सुनता हूँ
जो वोल्गा से आए
मेरी देहली में प्रह्लाद की तपस्यायें दोनों दुनियाओं की चौसट पर
युद्ध के हिरण्य कश्यप को चीर रही हैं।
— शमशेर : अमन का राग : कुछ और कविताएँ : पृष्ठ २

४. नागार्जुन : जयति कोरिया देश : युगधारा : पृष्ठ ११३

५. शमशेर : हमारे दिल सुलगते हैं : कुछ और कविताएँ : पृष्ठ १०

समाजवादी दृष्टिकोण के कारण उसे 'रूस' के प्रति विशेष सहानुभूति रही है। उसने द्वितीय महासमर के समय रशिया की प्रशस्ति में जो अनेक कविताएँ लिखी हैं, वे उसकी उक्त दृष्टि को ही प्रकट करती हैं। डा० सुमन की 'सोवियत रूस के प्रति' 'मास्को अब भी दूर है', 'स्टालिन ग्रेड', 'लाल सेना', नरेन्द्र शर्मा की 'रूस के मैदान' प्रभाकर माचवे का 'सोवियत सैनिकों का यशोगान', डा० रामविलास शर्मा की 'जल्लाद की मौत' और रांगेय राघव की आख्यानक कृति 'अजेय खण्डहर' में सोवियत रूस की प्रशस्ति के स्वर ही मुखरित हुए हैं। अपनी 'चेतावनी' शीर्षक कविता में भी 'नरेन्द्र शर्मा' ने 'अमरीका', 'फ्रांस' और 'इंग्लैण्ड' के पतन के वर्णन के साथ 'सोवियत रूस' की अजेय मानवतावादी वीरता का उल्लेख किया है। उसके प्रति अपनी श्रद्धा भावना का परिचय देते हुए कवि ने लिखा है :

> चौथा खण्ड सोवियत, जिसका ज्ञानमल लाल सितारा,
> जहाँ डूबती मानवता को मिलने लगा किनारा,
> वहाँ सूख जाता दुखियों की आँखों का जल खारा :
> इसी खण्ड से खड़े हुए जग के योद्धा रखवाले।[1]

'रशिया' के बाद 'एशिया' की क्रान्ति-चेतना को भी प्रगतिशील कवि ने सशक्त अभिव्यक्ति दी है। 'सुमन' की 'नई आग है, नई आग है' में एशिया की क्रांति ज्वाला का अक्षय और अमिट रूप व्यक्त हुआ है :

> इसे बुझाने आसमान में काले मेघ बहुत मँडराए
> रावण, अहिरावण, दुःशासन, नीरो, जार बहुत से आए
> हिटलर, तो जो मुसोलिनी ने अन्जुलि भर रक्त उलीचा
> पर न बुझी यह
> पर न बुझी यह
> स्वयं बुझे वे, जिन हाथों ने
> मानवता का हृदय चीर कर इसको सींचा।[2]

श्री गिरिजाकुमार माथुर ने भी अपनी 'एशिया का जागरण' शीर्षक कविता में एशिया के नवीन क्रांतिकारी रूप का चित्र अंकित करते हुए, इसे अपनी दासता के बंधनों में जकड़नेवाली साम्राज्यवादी शक्तियों के निश्चित पतन की भविष्यवाणी की।

---

1. : पृष्ठ ४०
2. ... हो गया : पृष्ठ २७–२८

ओ मनुज दासता के प्रहरी यह देख दुर्ग जलता तेरा
धू धू जलते हैं अस्त्र-शस्त्र जलकर गिरता जंगी घेरा
मुड़ गए समय के चपल चरण आया कृतान्त बन मुक्ति काल
मिट्टी का हर कन सुलग उठा, जल उठी एशिया की मशाल ।[1]

प्रगतिशील कवि की युद्ध-विरोधी एवं शान्ति-चेतना से सम्बन्धित कविताएँ भी उनकी अन्तर्राष्ट्रीय भाव-धारा को ही प्रस्तुत करती हैं। उसका यह निश्चित मत है कि युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजीवाद के नग्न स्वार्थों का ही परिणाम है। पूँजीपति की यह स्वाभाविक मनोवृत्ति होती है कि वह अपने वैयक्तिक स्वार्थ की पूर्ति के हेतु लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के नृशंस विनाश के लिए भी सदैव प्रस्तुत रहता है। तो भी इसी चिन्ता में रहता है कि किस प्रकार लाखों के शव पर वह अपने विलास-वैभव का प्रासाद खड़ा कर सके। युद्ध उसकी इन आकांक्षाओं की पूर्ति मे सहायक सिद्ध होता है। अतएव युद्ध का समाचार पूँजीपति के हृदय में उल्लास की ही भावना जगाता है। श्री नरेन्द्र शर्मा की निम्न पंक्तियों में पूँजीवाद के इसी युद्ध प्रिय मानवता-विरोधी नग्न स्वरूप का उद्घाटन हुआ है :

कब लाखों की जानें लेकर अपने लाख बनाऊँ ?
कब लाखों के घर उजाड़कर अपना घर भर पाऊँ ?
मानवता की नींव हिलाकर अपने पाँव जमाऊँ,
कब अनगिनती दीप बुझाकर दीपावली मनाऊँ ?
लोलुप मन-मकड़ी दिन गिनता बिनता ताने-बाने,
जब से भावी महायुद्ध की खबर लगी है आने ।[2]

अतएव, प्रगतिशील कवि युद्ध से घोर घृणा करता है। वह जानता है कि युद्ध में प्रायः निरपराध, निर्दोष, निष्कलुष बाल-वृद्ध-वनिताओं की ही जानें जाती हैं। वह युद्ध ही है, जो कि मानव-जाति की आज तक की ही संचित साहित्य, कला, संस्कृति और सभ्यता का सर्वनाश कर देता है[3]। इसलिए वह दृढ़ निष्ठा के साथ यह प्रतिज्ञा करता है :

---

१. धूप के धान : पृष्ठ १६
२. 'युद्ध लगे मंडराने' : शान्तिलोक : पृष्ठ २६
३.   नहीं लाभ पर
       नहीं मुहिम पर

कुछ लोग चाहे जोर से कितना
बजाएँ युद्ध का डंका
पर, हम कभी भी शांति का झंडा
जरा झुकने नहीं देंगे
हम कभी भी शांति की आवाज को
दबने नहीं देंगे।[१]

अपनी इस शान्ति-चेतना से प्रेरित हो कर ही प्रगतिशील कवि ने अपनी 'भारत-माता' की कल्पना भी एक ऐसी देवी या मातृ-शक्ति के रूप में की है, जो कि हाथ में सभ्यता का रंग-केतन लिए हुए, जिसके मुख पर शान्ति की सन्देश-श्री सुशोभित है और जो कि धरा के भाल का लाल चन्दन (सुहाग का प्रतीक) बनकर जन-मुक्ति की मंगल-कामना-सी बन्द बढ़ रही है।[२]

बम बरसेंगे अनाकीर्ण आबादी पर ही
निरपराध, निर्दोष, निष्कलुष –
बाल-वृद्ध-वनिताओं की ही जान जायगी।

× × ×

कहाँ गिरेंगे एटम या हाइड्रोजन बम ?
शांत निरीह नगर-ग्रामों पर
खेतों-खानों-खलिहानों पर
सुन्दर सुमन मुदित रचने में व्यस्त वेभान हजारों दस्तकार पर
दस-सहस्र वर्षों की संचित बूझ-समझ के फलस्वरूप उपलब्ध
शिल्प के ललित अमोलक चमत्कार पर।

— नागार्जुन : शान्ति का मोर्चा : हंस, अक्टूबर १९५० : पृ० १

१. महेन्द्र भटनागर : 'बिजलियाँ गिरने नहीं देंगे' : नई चेतना : पृष्ठ १

२. हाथ लेकर सभ्यता का रंग-केतन
शान्ति की संदेश-श्री मुख पर सुशोभन
तुम बढ़ो जन-मुक्ति मंगल-कामना-सी
इस धरा के भाल पर बन लाल चन्दन।

— श्री माथुर : नई भारती : धूप के धान : पृष्ठ १.

मानवतावादी भाव-प्रवृत्ति

मानवतावाद प्रगतिशील कवि की भाव-चेतना का एक अभिन्न तत्व है। वैसे, आधुनिक युग का पुनर्जागरण मानव-महत्ता के गान के साथ ही होता है और भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग तथा छायावाद-युग में भी—क्रमशः मानवतावाद की भाव-चेतना विकसित और व्यापक होती चली गई है, लेकिन प्रगतिशील कविता में इस चेतना को अधिक ठोस, स्पष्ट तथा व्यावहारिक धरातल प्राप्त हो सका है। सामाजिक यथार्थ की प्रतिष्ठा, समसामयिक जीवन की अभिव्यक्ति, साम्राज्यवाद एवं युद्ध का विरोध, शांति के प्रति अखण्ड प्रेम, नारी की मुक्ति कामना, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय चेतना, शोषित वर्ग के प्रति उत्कट सहानुभूति—आदि तत्व प्रगतिशील कविता में व्यक्त मानवतावादी चेतना के व्यावहारिक रूप को ही स्पष्ट करते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रगतिशील कवि ने अपनी मानवतावादी भाव-प्रवृत्ति की प्रथम अभिव्यक्ति मानव की महत्ता का गौरव-गान गाकर की। उसने मानव को प्रकृति की सुन्दरतम सृष्टि घोषित किया। सर्वप्रथम पन्तजी ने 'युगान्त' में घोषणा की :

> सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर
> मानव तुम सबसे सुन्दरतम
> निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
> तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम।[१]

'युगवाणी' में भी उन्होंने लिखा :

> हार गई तुम प्रकृति,
> रच निरुपम मानव-कृति।[२]

अन्य प्रगतिशील कवियों ने भी पन्त जी के इस स्वर की पुष्टि की है। श्री नरेन्द्र शर्मा ने 'मानव' को 'अखिल भुवन के उपवन का सर्वोत्तम कुसुम' बताया,[३] मिलिन्द जी ने इस बात में चिर सन्देह प्रकट किया कि पुष्प, इन्द्र धनुष आदि मानव-उर से अधिक सुन्दर है[४] और डा० शम्भूनाथसिंह ने तो मानव को 'काल का बाऊ' तथा विश्व-ब्रह्माण्ड का सर्वोत्कृष्ट प्राणी घोषित

१. मानव : युगान्त : पृष्ठ ४६
२. प्रकृति के प्रति : युगवाणी : पृष्ठ ७१
३. मनुज-पुष्प : मिट्टी और फूल : पृष्ठ १२२
४. मानव : नवयुग के गान : पृष्ठ ८१

किया।[१] डा० सुमन ने भी मानव को ही 'उन्नत जीवन का श्रेष्ठ मान' माना और स्वर्ग, नर्क, पाप-पुण्य आदि को उसी के हाथों की रचना स्वीकार की।[२] कवि त्रिलोचन को भी इसीलिए 'मानव जीवन की माया' सदा मुग्ध करती रही है।[३]

ईश्वर तथा मानव के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर प्रगतिशील कविता में स्पष्टतः दो स्वर या वर्ग मिलते हैं। प्रगतिशील कवियों के एक वर्ग ने तो मार्क्सवादी दर्शन को पूर्णतः स्वीकार कर ईश्वर की सत्ता का सर्वथा निषेध किया, बल्कि उसके विरुद्ध विद्रोह की भी घोषणा की।[४] प्रगतिशील कवियों का दूसरा वर्ग अधिक आस्तिक है। उसने ईश्वर के विरुद्ध घृणा अथवा विद्रोह की घोषणा नहीं की, लेकिन उसको मानव-जीवन से पृथक एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में देखने से उन्होंने भी इन्कार किया। वे मानव-जीवन में ही ईश्वर का दर्शन करते हैं। यह दृष्टि स्वामी विवेकानन्द और कवीन्द्र रवीन्द्र से अधिक प्रेरित है। स्वामी विवेकानन्द और कवीन्द्र रवीन्द्र दोनों ने ही दीन, दुःखी और दुर्बल लोगों में ही ईश्वर का दर्शन करने की प्रेरणा दी थी।[५] कविवर दिनकर और पन्त में इसी दृष्टि का विकास हुआ है। 'पन्त जी' ने अपनी 'तुम ईश्वर' शीर्षक कविता में लिखा है :

---

१. मनवन्तर : मनवन्तर : पृष्ठ ४
२. अन्तर्द्वन्द्व : प्रलय-सृजन : पृष्ठ १६
३. माया की लहरें : दिगंत : पृष्ठ १४
४. देखिये : उपशीर्षक 'ईश्वर और धर्म के प्रति क्षोभ भावना :
५. (क) स्वामी विवेकानन्द ने एक स्थान पर लिखा है : 'भगवान की खोज करने के लिए आपको कहां जाना चाहिए ? क्या सभी दरिद्र, दुःखी, दुर्बल व्यक्ति भगवान नहीं हैं ? पहले उनकी पूजा क्यों न की जाय ? 'विवेकानन्द के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में विचार' — पृष्ठ १

(ख) तिनि गेछेन येथायमाटि भेङे-करछे चाषा चाष—
पाथर भेङे काटछे येथाय पथ, खाटछे बारो मास।
रौद्रे जले आछेन सबार साथे
धुला ताहार लेगे छे दुइ हाते
तांरि मतन शचि बसन छाड़ि आय रे धुलारे 'परे'
—धुला मन्दिर : एकोत्तर शती : पृष्ठ २६७

आज सृष्टि-संगीत बना यह कण्ठ कण्ठ का नारा
'जयति जयति जाग्रत जन धारा, जय अजस्र जन-धारा।
जय जय जीवन-धारा।
जय जय जय जन-धारा।'[1]

अपनी 'कवि और समाज' शीर्षक कविता में दिनकर जी ने भी समाज को ही प्रधानता प्रदान की है:

मैं हर सिंगार का वृन्त मूल जिसका तुममें,
ये फूल नहीं सपनों के गुच्छे तुम्हारे हैं
मेरी रचना यह नील चंदोवा है केवल,
जगमगा रहे वे सभी तुम्हारे तारे हैं।[2]

प्रगतिशील कवि की यह स्पष्ट मान्यता है कि अहंबद्ध दृष्टिकोण समाज के लिए सदैव घातक होता है। इसीलिये जब जब वह 'जीवन के हृदय को संकुचित देखता है, उसका 'व्यक्ति मन' रोने लगता है।[3] उसकी दृष्टि में मनुष्य तभी 'काव्य का सार तत्व हो सकता है, जब कि वह वर्तमान में एक साथ हँसे, रोए, गाए।[4] इसके विपरीत व्यक्ति का अनुशासन-हीन रूप नाश की ही सृष्टि करता है:

जहां व्यष्टि स्वाधीन अधिक है नाश वहां छाएगा
अनुशासन के बिना व्यक्ति कुछ प्राप्त न कर पाएगा।[5]

अतएव उसकी तो एकमात्र यही आकांक्षा रहती है:

---

१. डा० शम्भूनाथसिंह : जन-धारा . मनवन्तर : पृष्ठ २५
२. कवि और समाज : नील कुसुम : (द्वि० सं०) : पृष्ठ ७६
३. संकुचित है आज जीवन का हृदय
व्यक्ति मन रोता है जनमन के लिए।
—शमशेर : कुछ मुक्तक : और कुछ कविताएं : पृष्ठ ११
४. सार हमें होते काव्य के
अनुभव भूत भविष्य के
यदि हम वर्तमान मे
एक साथ हंसते, रोते, गाते।
—वही : सूरज उगाया जाता : वही : पृष्ठ ५
५. दिनकर : हिमालय का संदेश : चक्रवाल : पृष्ठ ३७६.

इस दुखी संसार में जितना बने हम सुख लुटा दें ।
बन सके तो निष्कपट मृदु हास के दो कन जुटा दें ।[१]

संक्षेप में, प्रगतिशील कवि अपने को या व्यक्ति को समाज का ही एक अंग मानता है[२] और उसी व्यक्ति को अच्छा समझता है, जो कि समाज-जीवन की ही एक शक्ति के रूप में कार्यरत रहता है।[३] उसकी यह दृढ़ कामना है कि व्यक्ति, घर, ग्राम, समाज, राष्ट्र और विश्व-सभी के स्वार्थों में कोई पारस्परिक विरोध न हो।[४]

प्रगतिशील कवि द्वारा मुखरित आत्म-साधना के स्वर उसकी मानवतावादी भाव-प्रवृत्ति के तीसरे पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। उसने बार बार अपने व्यक्ति-मन को समाज-हित की वेदी पर समर्पित हो जाने के लिए प्रेरित किया है। वह अपने 'सुख दुःख की गाथा' को 'अपने तक ही सीमित रखना चाहता है--अतएव उसका सिद्धान्त वाक्य ही यह कह रहा है :

तुम जलो, जलन ही जीवन है
पर आंच न औरों को आए।[५]

---

१. भवानी मिश्र : दूसरा सप्तक : पृष्ठ २१
२. जिस समाज का तू सपना है
जिस समाज का तू अपना है
मैं भी उस समाज का जन हूँ।
—त्रिलोचन : धरती : पृष्ठ १९
३. जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी एकदा शक्ति हो
जैसे सरिता की अगणित लहरों में
कोई एक लहर हो
तो अच्छा है।
—त्रिलोचन : धरती : पृष्ठ ७८
४. "मैं", घर, ग्राम, समाज, राष्ट्र और विश्व
सभी का एक स्वार्थ हो………।
—रांगेय राघव : मंजिल (उत्तरार्द्ध) : हंस, दिसम्बर १९४७ : पृ० २२१
५. सुमन : प्रलय-सृजन : पृष्ठ ५८

अथवा

हिम्मत न हारो ऐ हृदय,
यह साधना का देश है।[1]

कभी-कभी आत्म-विश्लेषण के क्षणों में जब वह अपने जीवन को निष्क्रिय पाता है तो सहसा उसका हृदय ग्लानि से अभिभूत हो जाता है।

पथ पर धूल उड़ा करती है
वह भी आखिर कुछ करती है
पर मैं, मेरे मन, तुम बोलो—क्या करता हूँ
क्या मेरा जीवन जीवन है।[2]

वह तो संघर्ष में ही अपने जीवन की सार्थकता मानता है। संघर्ष से पलायन तो उसकी दृष्टि में मौत का ही दूसरा नाम है। इसीलिए वह अपने 'तन' को हर प्रकार की परिस्थितियों में तने रहने का आदेश देता है :

मेरे तन तने रहो
आँधी में—आह में
दृढ़ से दृढ़ बने रहो।
शाप से प्रताड़ित भी
व्यंग से विदारित भी
मेरे तन खड़े रहो
आफत में—आँच में
अजेय ही अड़े रहो।[3]

डा० शम्भूनाथसिंह का भी यह विश्वास है कि पथ को प्यार करने पर तप्त अंगार भी सुमन बन जायेंगे[4] और डा० रामविलास शर्मा समाज-हित के लिए मरण-व्यथा को भी सहने का—छिपाए रखने का आग्रह करते हैं।

---

१. सुमन : प्रलय-सृजन : पृष्ठ १९
२. *त्रिलोचन : धरती : पृष्ठ ४३*
३. *जिन्दगी जीत है, विश्वास है, तय्यारी है*
मौत विश्राम है, संघर्ष लाचारी है।
—सुमन : माधव महाविद्यालय पत्रिका : १९५३-५४ : पृष्ठ १
४. केदारनाथ अग्रवाल : नभ से : प्रगति १ : पृष्ठ २०
५. पथ को करो प्यार
होंगे सुमन तप्त अंगार : दिवालोक : पृष्ठ ५४

जीवन की इस मरण-व्यथा को सहना होगा
अंतर में यह व्यथा छिपाये रहना होगा।[1]

प्रगतिशील कवि की उक्त भाव-दृष्टि के परिणामस्वरूप कई समीक्षकगण इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रगतिशील कविता में व्यक्ति के महत्व का सर्वथा निषेध हुआ है। उदाहरण के लिए श्री धर्मवीर भारती ने 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' तथा 'सामाजिक यथार्थवाद' की सीमाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है: "एक ने मनुष्य को केवल अर्ध विक्षिप्त, कामुक और विकृत रोगी की स्थिति तक उतार दिया और दूसरी ने मनुष्य की वैयक्तिकता छीन कर उसे बनाए साँचे में ढालकर कठपुतली में परिवर्तित कर दिया।[2] इस प्रकार ऐसे समीक्षकों का मत है कि "प्रगतिशील कविता" ने "मानवीयता का विघटन" ही किया है। वस्तुतः ऐसे समीक्षकों ने प्रगतिशील कविता के विकृत रूप को ही अधिक उभार कर प्रस्तुत किया है। अपने समग्र रूप में ही प्रगतिशील कविता के सामाजिक जीवन के महत्व को प्राथमिकता देते हुए भी व्यक्ति-जीवन के स्वस्थ तत्वों को भी आत्मसात किया है। उसने व्यक्ति की आत्म-साधना के साथ ही उसके रंग-रूप और रोमांस की स्वस्थ वैयक्तिक प्रवृत्ति को भी सरस वाणी प्रदान की है।[3]

सैद्धान्तिक दृष्टि से भी प्रगतिशील कवि ने वैयक्तिक हित को नगण्य नहीं माना है। उसकी समाज-हित की धारणा में व्यक्ति का हित भी निहित है। वह समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का स्वप्न भी इसीलिए देखता है कि अन्ततः इसी व्यवस्था में मनुष्य की व्यक्तिगत योग्यताओं का पूर्ण विकास संभव हो सकेगा। गोर्की ने अपने एक निबन्ध में बताया है कि "समाजवादी वर्गहीन समाज में सभी की योग्यता और विकास के लिए असीम क्षेत्र होगा। डा० रांगेय राघव ने भी इस समस्या का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"साहित्य का सृष्टा व्यक्ति होता है और व्यक्ति के महत्व को राजनीति की भाँति मुँठाया नहीं जा सकता।६ 'मंजिल' शीर्षक कविता में भी उनकी यह व्यक्ति-संबंधी धारणा प्रकट हुई है। उन्होंने व्यक्ति को "मशीन"

---

१. किसान कवि और उसका पुत्र : रूप तरंग पृष्ठ १३
२. मानव मूल्य और साहित्य : पृष्ठ १६७
३. देखिए : 'प्रेम-व्यञ्जना' शीर्षक अध्याय।
४. नौजवानों से एक बातचीत : हंस, जनवरी-फरवरी १९४७ : पृष्ठ २३७
५. आ० हि० क० में विषय और शैली : पृष्ठ २१

के समान न मानकर उसकी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया है, पर साथ ही उसके कुछ कर्तव्यों को संकेत किया है ।[1] उसकी उच्छृंखल सत्ता का भी उन्होंने अवश्य ही निषेध किया है ।[2]

५. वर्ग-चेतना

प्रगतिशील कवि की वर्गचेतना उसकी मानवतावादी भाव प्रवृत्ति का ही प्रसूत तत्व है । वह चूंकि मानव को प्यार करता है–उसके गौरव रूप के प्रति श्रद्धानत होता है इसलिए उसके वास्तविक संघर्षों को वाणी प्रदान करना भी अपना कर्तव्य मानता है । हावर्ड फास्ट के शब्दों में, उसकी तो यह धारणा है कि: 'मनुष्य को प्यार करना आवश्यक है । और, मनुष्य के वास्तविक संघर्षों से नाता जोड़े बिना, मानवता के प्रति सच्चा प्यार या आदर नहीं किया जा सकता ।'[3] गोर्की ने भी इसीलिए उन समस्त परिस्थितियों का अन्त करना आवश्यक माना है, जो कि मनुष्य को प्रताड़ित अपमानित करती रही है–उसे गुलाम बनाती रही है ।[4]

कार्ल मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए बताया है कि आज तक के अस्तित्व में आये हुए समाजों (एंगेल्स ने 'आदिम जनवादी समाज'

---

१. किन्तु नहीं मानव मशीन है,
स्वत्व और अधिकार एक है,
कुछ कर्तव्य सा है उसके
वह बन व्यक्ति स्वतंत्र रहे पर
साथ साथ होवे समाज–भी । —हंस, दिसम्बर १९४० : पृष्ठ ११९

२. "......कवि-व्यक्तित्व जहां इन बातों में बंध नहीं सकता, वहां वहां उच्छृंखल होने का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि व्यक्ति की यह समस्त स्वतंत्रता सामूहिक जीवन के लिए है, और समूह के लिए ही क्या एक माध्यम है जो जीवन को सुन्दर से सुन्दरतर बनाती है ।"
—आ० हि० क० में विषय और शैली : पृष्ठ २१

3. Literature and Reality—Page 91.

4. The supreme being for men is man himself. Conesequently all rentions, all conditions in which men is hunted enslaved despised must be destroyod.
—Creative Labour and Culture—Page35

Primitine Communistic Society को वर्ग हीन समाज माना है।[1] का
तिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास रहा है।[2] प्रत्येक युग में दो वर्ग रहे हैं—शोषक
र शोषित। वर्तमान पूंजीवादी युग भी इसका अपवाद नहीं है। पूंजीवादी युग
अवश्य ही सामन्तीय युग का अन्त कर नवीन औद्योगिक सभ्यता की स्थापना की,
क्ति को दासता की सीमा से बाहर निकाल कर स्वतन्त्रता प्रदान की, वैज्ञानिक
कास को चरम सीमा पर पहुँचाया, लेकिन साथ ही उसने नग्न आर्थिक स्वार्थ की
ी-प्रतिष्ठा की और मानवता के केन्द्र को निष्कासित कर अर्थ तत्व को ही समासीन
र दिया। सामन्तीय व्यवस्था में भी यद्यपि क्रूर शोषण का स्वरूप विद्यमान था,
किन उस समय मनुष्य मनुष्य के भावनुकूल सम्बन्धों का सर्वथा अन्त नहीं हुआ था।
मचन्दजी के शब्दों में "जागीरदार अगर दुश्मन के खून से अपनी प्यास बुझाता था,
। अक्सर अपने किसी मित्र या उपकारक के लिये जान की बाजी भी लगा देता था।"[3]
सके विपरीत, पूंजीवादी सभ्यता ने, मार्क्स के शब्दों में, केवल नग्न, निर्लज्ज प्रत्यक्ष
वं निर्मम शोषण की प्रतिष्ठा की है।[4]

हिन्दी के प्रगतिशील कवि ने नग्न आर्थिक स्वार्थ पर आधारित पूंजीवादी
ि इस रूप को प्रत्यक्ष और मार्मिक अभिव्यक्ति की है। 'त्रिलोचन' को 'इन दिनों
नुष्य का महत्व कोई नहीं है' शीर्षक कविता में पूंजीवाद के इसी निर्मम रूप का
उद्घाटन हुआ है। उनका कथन है :

इन दिनों मनुष्य का महत्व कोई नहीं है
मूल्य गिर गया है जब मनुष्य का
सिन्धु में बिन्दु का जो स्थान है
वह भी स्थान नहीं है मनुष्य का।[5]

श्री गिरिजाकुमार माथुर ने भी इसीलिए इस सभ्यता को 'इन्सान की सभ्यता'
ानने से इन्कार किया। इस सभ्यता में कतिपय पूंजीपति अपने 'लाभ' के लिए
इन्सान' को 'बन्दूक की बारूद' से अधिक महत्व नहीं देते। अतः कवि कहता है :

आदमी का मिट गया सम्मान है
मनुजता का अब न गरिमा गान है

1-2. Manifesto of the Communist Party-Page 45
३. हंस (शांति संस्कृति अंक) वर्ष २२, अंक ५–७-'महाजनी सभ्यता' पृष्ठ ६
४. पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र : पृ० ३२३ से उद्धृत
५. धरती : पृष्ठ ८४

यह नहीं इन्सान की है सभ्यता
स्वार्थ, लालच, युद्ध जिसके देवता
मूल धन–हिंसा, गुलामी, सूद है
आदमी बंदूक की बारूद है।[1]

वस्तुतः पूँजीपति पैसे की शक्ति के द्वारा सब कुछ खरीदने में सक्षम हो जाता है। यहाँ तक कि सभ्यता, संस्कृति, गुण सत्य, शिव, सुन्दर–आदि भी क्रय की वस्तु बन जाते हैं। इस प्रकार इस सभ्यता में पैसा असंभव को भी संभव बनाने की क्षमता से सम्पन्न हो जाता है। कार्ल मार्क्स के शब्दों में "वह निष्ठा की प्रवंचना में, प्रेम को घृणा और घृणा को प्रेम में अच्छाई तथा बुराई की अच्छाई में, दासों को स्वामी और स्वामियों को दासों में, मूढ़ता को बुद्धिमत्ता एवं बुद्धिमत्ता को मूढ़ता में परिणत कर देता है।"[2] मिलिन्द जी ने पूँजीवाद की इसी जघन्य प्रवृत्ति की निम्न शब्दों में व्याख्या-सी की है:

तेरी लिप्सा–मुद्रा में बँध विश्व–हृदय तेरे घर आवे,
जीवन का प्रत्येक सत्य, शिव, सुन्दर अपना मोल बतावे।
संचय का उन्माद अथक, शोषण की लोलुपता भीषण है,
मानो, तेरे क्रय–विक्रय का विषय चराचर का कण कण है।[3]

पूँजीपति अपने इस पैसे के बल पर ही विज्ञान और संस्कृति को भी अपना दास बना लेता है उस विज्ञान और संस्कृत को जो कि मानव–मुक्ति की प्रगति के चरण–चिन्ह हैं–शोषण का साधन बना लेता है और परिणामतः उसके वर ही अभिशाप बन जाते हैं। दिनकर की 'कस्मै देवाय' शीर्षक कविता में इसी सत्य की व्यञ्जना हुई है:

जो मंगल–उपकरण कहाते, वे मनुजों के पाप हुए क्यों?
विस्मय है, विज्ञान विचारे के वर ही अभिशाप हुए क्यों?

+ + +

सिर धुन धुन सभ्यता–सुन्दरी रोती है बेबस निज में
हाय, दनुज किस ओर मुझे ले खींच रहे शोणित के पथ में?[4]

---

१. तेतीसवीं वर्ष गाँठ : धूप के धान : पृष्ठ ९२
२. पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र : पृष्ठ ३२२
३. संपत्तिवाद : नवयुग के गान : पृष्ठ ६
४. चक्रवाल : पृष्ठ १८–१९

पैसे का अत्यधिक मोह अनियंत्रित प्रतियोगिता की भावना को जन्म देता है, जिसमें कि औद्योगिक विकास अपनी चरम अवस्था पर पहुँच जाता है। इस क्रम में, श्रम-विभाजन की प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है और मानव का जीवन भी यन्त्रवत् तथा नीरस हो जाता है। निरन्तर प्रतियोगिता एवं मानसिक तनाव की स्थिति मनुष्य की जिन्दगी को आकर्षण विहीन बना देती है। व्यक्ति एक ओर तो प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण से दूर हो जाता है और दूसरी ओर सामाजिक जीवन की जटिलतायें उसके जीवन को और भी बोझिल बना देती हैं। मजदूर भी मशीन का पुर्जा मात्र बन जाता है और उसकी वैयक्तिक आन्तरिक सरसता समाप्त प्राय हो जाती है। डा० महेन्द्र भटनागर की 'जिजीविषा' में संकलित 'नई जिन्दगी' तथा 'संतरण' में संकलित तुम नहीं पहचान पाओगे, जीवन - एक अनुभूति, 'एक स्तम्भ' आदि रचनाओं में इस यांत्रिक ऊबभरी जीवन की अनुभूति बड़ी सघनता के साथ व्यक्त हुई है। निम्न पंक्तियाँ देखिये :

> जिन्दगी
> एक बेतरतीब सूने बंद कमरे की तरह
> दूर सिकता पर पड़े तल भग्न बजरे की तरह
> हर तरफ से कस रही गाँठें
> सुलझता कुछ नहीं।
> जिन्दगी क्या ?
> धूमकेतन-सी अबाधित
> आँधी-सी मस्त लांछित,
> किस तरह हो संतरण
> —भारी भँवर, भारी भँवर।
> हो प्रफुल्लित किस तरह बेचैन मन
> शापित लहर शापित लहर।[1]

'स्वतन्त्र बाजार' तथा 'उन्मुक्त प्रतियोगिता' की नीति के परिणामस्वरूप सारा समाज दो विरोधी वर्गों में विभाजित हो जाता है। पूंजी क्रमशः कम से कम संचित होती चली जाती है और फलतः एक ओर तो वे मुट्ठी भर पूंजीपति रह जाते हैं, जो कि दूसरों के श्रम के बल पर वैभव और विलास के सागर में डूबते उतराते रहते हैं और दूसरी ओर निम्न तथा मध्य वर्ग की एक बड़ी सेना तैयार हो जाती

---

१. सन्तरण : पृष्ठ २३

हैं जो कि श्रम के बाद भी भूख और गरीबी को ही अपने हिस्से में पाती है। इस प्रकार वर्ग वैषम्य की खाई और भी चौड़ी हो जाती है। प्रायः प्रत्येक प्रगतिशील कवि ने इस वर्ग वैषम्य के चित्रों को प्रस्तुत किया। अंचलजी ने 'पूंजीपति और मजदूर' शीर्षक कविता में पूंजीपति और मजदूर का तुलनात्मक रेखा-चित्र प्रस्तुत कर इस वर्ग-वैषम्य का रूप दिखाया है :

> एक हवेली में इतराता एक पड़ा क्वाटर में सड़ता
> उसे चाहिए रोज नई यह सांझ हुये नित घर आ लड़ता
>
> धन के नाजायज वितरण से एक लिए श्रम-जर्जर काया
> और दूसरा पुश्तैनी उपभोग स्वत्व को सुविधा लाया।

स्पष्ट है कि ऐसे वर्ग-समाज में सभी वर्गों की मान्यतायें भी एक समान नहीं हो सकती। जो मान्यता पूंजीपति वर्ग के लिए मंगलकारी हो सकती है, वही सर्वहारा श्रमिक वर्ग के लिए मंगलकारी हो सकती है। अतएव वर्ग-विभक्त समाज में विशुद्ध मानवतावादी मान्यतायें केवल कल्पना में ही रह सकती हैं। यथार्थ की धरती पर तो वर्ग-मान्यताओं का ही अस्तित्व संभव हो सकता है।

> आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल वर्गों में हैं सीमित।[१]

ऐसी अवस्था में प्रगतिशील कवि शाश्वत मूल्यों के भ्रम को छोड़कर सीधे उन मान्यताओं को महत्व देता है जो कि जनता (शोषित वर्ग) के हित सम्बन्धित है। पंत जी का स्पष्ट कथन है—

> धर्म नीति औ सदाचार का मूल्यांकन है जन-हित
> सत्य नहीं वह, जनता से जो नहीं प्राण—सम्बन्धित।[२]

इस प्रकार, प्रगतिशील कवि शोषित जनता का पक्षधर बनकर उपस्थित होता है। वह शोषक वर्ग की अमानवीय प्रवृत्तियों के कारण उससे तीव्र घृणा करता है। उसे देख कर कवि को 'मितली उमड़ आती है' और उसके 'हास' में भी

---

१. किरण-बेला : पृष्ठ १२६
२. युग की गंगा : पृष्ठ ३५
३. वही : पृष्ठ ३५

'रोग-कृमि' दिखाई देते हैं।[1] दूसरी ओर निम्न शोषित वर्ग के प्रति उसके हृदय में अपार सहानुभूति की भावना है। उनका रोम रोम उसे मानवता के सौन्दर्य से परिपूर्ण दिखाई देता है। पन्तजी को, इसीलिए, पासी के बच्चों की नग्न देह भी आकर्षित करती है[2] और डा० महेन्द्र भटनागर को 'टूटे दांत, सूखे केश' वाले किसान के झुर्रियों भरे चेहरे की मुस्कान भी मुग्ध कर लेती है।[3]

(क) शोषक वर्ग का चित्रण

भारतवर्ष की समाज-व्यवस्था का अध्ययन करने पर यह प्रकट होता है कि यहाँ शोषक वर्ग के रूप में केवल पूँजीपति वर्ग का अस्तित्व ही नहीं रहा है। आजादी के पूर्व साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासकों तथा पूँजीपति वर्ग के साथ ही, भारत में सामन्त वर्ग का अस्तित्व भी बना रहा है। यह हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि "ब्रिटिश सरकार के लिए अपनी सत्ता को दृढ़ बनाने के लिए यह आवश्यक था कि वह यहाँ के अपेक्षातर प्रतिक्रियावादी तत्वों के साथ गठबन्धन करके उन्हें अपने वश में करे।" अतएव ब्रिटिश सरकार ने देशी राजाओं की स्थिति को तो मजबूत बनाया ही, साथ ही, एक नये जमींदार वर्ग का भी निर्माण किया। जहाँ राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग ने कम से कम स्वाधीनता के राष्ट्रीय आन्दोलनों में जनता का साथ दिया, वहाँ सामन्त-वर्ग ने इन राष्ट्रीय आन्दोलनों का भी विरोध किया। इस प्रकार सामन्तवर्ग ने भारतीय समाज में अधिक प्रतिक्रियावादी भूमिका अदा की। इनके

१. तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध
   तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
   तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
   तेरे ह्रास में भी रोग-कृमि हैं उग्र
   तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र
   —मुक्तिबोध : 'पूँजीवादी समाज के प्रति' : तार सप्तक : पृ० १६

२. सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन मन,
   मानव के नाते उर में भरता अपना पन
   मानव के बालक हैं ये पासी के बच्चे
   रोम रोम मानव-साँचे में ढाले सच्चे ! दो लड़के : युग-वाणी पृ० २०

३. टूटे दांत,
   सूखे केश,
   मुख पर झुर्रियों की वह सहज मुसकान
   प्रमुदित मुग्ध
   फैला विश्व में सौरभ
   महकता मन ! — काटो धान : नई चेतना : पृष्ठ ११

अतिरिक्त गांव में उन महाजनों को भी शोषक वर्ग के अंतर्गत लिया जा सकता है, जो कि ग्रामीण किसानों या कारीगरों को समय समय पर ब्याज लेकर कर्ज दिया करते थे। इस प्रकार शोषक वर्ग के अंतर्गत निम्न वर्गों की गणना की जा सकती है—(१) ब्रिटिश शासक या विदेशी पूँजीपति, (२) राष्ट्रीय पूँजीपति, (३) राजा महाराजागण (देशी नरेश), (४) जमींदार-जागीरदार और (५) गांव के महाजन।

प्रगतिशील कवि ने उक्त सभी वर्गों के शोषण की प्रवृत्ति की तीव्र भर्त्सना की है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद तो उसकी आक्रोश-भावना का केन्द्र-बिन्दु रहा ही है। उसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को विश्व भर के अन्याय, दमन और नृशंसता का प्रतिनिधि माना है[१] और उसके शोषक तथा नग्न स्वरूप को इस प्रकार अंकित किया है:

> जर्जर कंकालों पर वैभव का प्रासाद बसाया
> भूखे मुख से कौर छीनते तू न तनिक शरमाया
> तेरे कारण मिटी मनुजता माँग माँग कर रोटी
> नोची-श्वान शृगालों ने जीवित की बोटी
> तेरे कारण मरघट सा जल उठा हमारा नंदन,
> लाखों लाल अनाथ लुटा अबलाओं का सुहाग-धन।[२]

धनपति वर्ग के शोषिक स्वरूप का उद्घाटन करते हुए, प्रगतिशील कवि ने उन्हें नृशंस, 'दुहरे धनी' 'जोंक जग के' तथा 'नैतिकता से अपरिचित' माना है।[३] उसकी दृष्टि में वे 'कामचोर' 'आरामतलब' लोग दस बीस जनों का खाना अकेले

---

१. ...ब्रिटिश साम्राज्यवाद यह
प्रतिनिधि आज विश्व भर के अन्याय, दमन का नृशंसता का।
—सुमन : 'नई आग है, नई आग है' : विश्वास बढ़ता ही गया : पृ० ३१

२. सुमन : आज देश की मिट्टी बोल उठी है : वही : पृ० ४२

३. वे नृशंस हैं : वे जन के श्रम-बल से पोषित
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित।
नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित। —पन्त: धनपति : युगवाणी : पृ० ४३

ही खा जाते हैं और शेष साधारण जनता भूखी ही रह जाती है।[1]

राजा महाराजाओं को भी प्रगतिशील कवि ने 'जनता के दुश्मन' तथा 'प्रतिगामी' शक्तियों के रूप में चित्रित किया है। डा० महेन्द्र भटनागर की 'देशी रजवाड़े' शीर्षक कविता उनके प्रतिक्रियावादी रूप की ही व्यञ्जना करती है :

प्रतिगामी, जनता के दुश्मन,
जो जन, बल के सदा विरोधी
जिनने जनता के शव पर चढ़
किया अभी तक चौपट शासन।[2]

निरालाजी की 'नये पत्ते' में संकलित 'झींगुर' उठकर बोला', 'राजे ने रखवाली की' 'कुत्ता भौंकने लगा' – आदि कविताओं में जागीरदार-वर्ग के पाशविक अत्याचार और शोषण की कहानी छन्द-बद्ध हुई है।

प्रगतिशील कवि की दृष्टि से गांव के महाजन का शोषक रूप भी नहीं छिप सका है। पन्तजी की 'वे आंखें' शीर्षक कविता में गांव के महाजन के निर्मम शोषक रूप की भी सुन्दर व्यंजना हुई है।[3] श्री केदारनाथ अग्रवाल ने गांव के शोषक रूप निम्न शब्द चित्र में प्रस्तुत किया है :

वह समाज के त्रस्त क्षेत्र का मस्त महाजन
गौरव के गोबर-गनेश व्यंजना-सा मारे आसन

---

१. ये काम चोर, आराम तलब
मोटे तोंदियल भारी भरकम
हट्टे कट्टे सब डांगर ऊँघा करते हैं,
हम चौबिस घण्टे हांफते हैं।
है भूख बड़ी-लम्बी चौड़ी –
दस-बीस जनों का सब खाना
ये एक अकेले खाते हैं;
दिन भर ही पागुर करते है,
हम भूखे ही रह जाते हैं। - केदार : डांगर : युग की गंगा : पृ० ४
२. बदलता युग : पृष्ठ १९
३. बिका दिया घर-द्वार, महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी
रह रह आंखों में चुभती वह कुर्क हुई बरधों की जोड़ी।
—ग्राम्या : पृष्ठ २५

[illegible]
[illegible]
[illegible]
जीभ निकाले, बात बनाता करता चोंचें
ब्याज–सूद से [illegible] है [illegible]
सदियों पहले से होता आता है [illegible] ॥ [1]

(घ) शोषित वर्ग का चित्रण

शोषित वर्गों में मजदूर, किसान तथा निम्न मध्यवर्ग को प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। कार्ल मार्क्स ने इन सब वर्गों में केवल सर्वहारा मजदूर वर्ग को ही वास्तविक रूप में क्रांतिकारी माना है। अन्य वर्गों को तो उन्होंने 'प्रतिक्रियावादी' का विशेषण दिया है। उनके मतानुसार यदि वे क्रांतिकारी भूमिका अदा भी करते हैं तो केवल निकट भविष्य में सर्वहारा वर्ग में अपने अस्तित्व के परिवर्तन होने की संभावना के कारण।[2] यद्यपि यह निश्चित है कि मजदूर वर्ग अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण अपेक्षाकृत अधिक क्रांतिकारी होता है और किसान अपनी भूमि से विशेष लगाव के कारण तथा ग्राम जीवन की स्थिर एवं पिछड़ी हुई संस्कृति में पला होने के कारण परिवर्तन एवं क्रांति के लिए अधिक इच्छुक नहीं होता, लेकिन भारतवर्ष के आन्दोलनों की विशिष्ट भूमिका के कारण भारत का किसान वर्ग भी क्रांतिकारी आन्दोलनों में अगुवा बनकर उपस्थित हुआ है। उसकी वर्ग चेतना का स्वरूप हम पिछले अध्याय में देख ही चुके हैं।

मध्यम वर्ग को भी कार्ल मार्क्स ने एक सीमा तक प्रतिक्रियावादी माना है।

---

१. गाँव का महाजन : लोक और आलोक : पृष्ठ ३५

2. "Of all the classes that stand face to face with the bourgeoisis today, the proletariate alone is a really revolutionary class. The other classes decay and finally disappear in the face of modren industry ; the proletariate is its sepecial and essential product.

—K. Marks : Manifesto of the C. P. ; Page 63.

लेनिन ने उसे 'स्वभाव से ही दो मुंहा' वाला बताया है।[1] लेकिन हिन्दुस्तान के क्रान्तिकारी आंदोलन यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि सभी मध्यवर्गीय व्यक्तियों को उक्त श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकता। स्वयं मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के उदाहरण भी तथ्य को स्पष्ट कर सकते हैं। ये भी यद्यपि मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग में ही उत्पन्न हुए थे : लेकिन इनके क्रांतिकारी दृष्टिकोण में किसी प्रकार का अविश्वास नहीं किया जा सकता। हिन्दुस्तान के विशिष्ट वातावरण में तो मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों ने एक बड़ी भूमिका अदा की है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का प्रसार तो इस वर्ग ने किया ही है, समय-समय पर मजदूर तथा किसान आन्दोलनों का भी संचालन किया है। आर्थिक दृष्टि से मध्यम वर्ग को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। १. उच्च मध्यवर्ग और २. निम्न मध्य वर्ग। श्री हुमायूं कबीर का भी मत है कि मध्यमवर्ग कभी एकरूप नहीं होता। एक ओर तो वे निम्न वर्ग की सीमा का स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर उनको पूंजीपतियों से पृथक करना कठिन हो जाता है।[2] भारतवर्ष में निम्न मध्यवर्ग की स्थिति किसान और मजदूर वर्ग से भी निकृष्ट रही है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् की भारत की आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए पं० नेहरू ने इसी निम्न मध्यवर्ग की ओर संकेत करते हुए लिखा है :" मध्यवर्ग के और पढ़े-लिखे लोग जो इस अँधेरे वातावरण में रोशनी दिखा सकते थे, खुद ही इस अंधेरे में डूबे हुए थे। कुछ हद तक तो उनकी हालत

१. पेटी बुर्जुआ की वर्ग-विशेषता और उसकी जहनियत के बारे में लेनिन के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं : (पेटी बुर्जुआ वर्ग स्वभाव से ही दो मुंहा होता है। एक ओर तो वह सर्वहारा और जनतन्त्र की तरफ खिंचता है, दूसरी तरफ वह प्रतिक्रियावादी वर्गों की तरफ खिंचता है, इतिहास की गति रोकने की कोशिश करता है, तानाशाही के प्रयोगों और मीठी नजर में फँस भी सकता है (मसलन तीसरे अलेग्जेंडर की 'जन-राजनीति' से), वह अपने छोटे सम्पत्तिवाले वर्ग की स्थिति मजबूत करने के लिए सर्वहारा वर्ग के खिलाफ शासक वर्ग से सहयोग कायम कर सकता है।'
डा० रामविलास शर्मा : जन आन्दोलन और बुद्धिजीवी वर्ग : हंस, जन. १९५०पृ०१९

2. For one thing, the *middle classes* can *never* be a *homogeneous*, group. No social class is fully homogeneous, but stratification is even more marked in the case of the middle classes. At one extreme are these who just escape being proletariats. At the other are those who are hardly distinguishable from capitalists."

Indian Heritage, Page-141.

किसानों से भी ज्यादा दयनीय थी। असंगठित दिमागदार लोगों की एक बड़ी तादाद किसी किस्म का हाथ का काम या वैज्ञानिक हुनर नहीं जानती थी और वह खेतों से अलहदा थी। उन लोगों ने भी मायूस, बेवस, बेकार लोगों की जमात की गिनती को बढ़ाया और वे लोग दल-दल में दिन-ब-दिन ज्यादा नीचे धुसते गए।"[1] कहना नहीं होगा कि निम्न मध्यवर्ग की यह स्थिति बाद में भी बनी रही है और आज भी बड़े अंशों में इस वर्ग की स्थिति दयनीय ही कही जा सकती है।

प्रगतिशील कवि ने इन वर्गों की स्थिति का रूपायन करते समय उक्त दृष्टि-बिन्दुओं को ध्यान में रखा है। मजदूर वर्ग को तो प्रायः सभी प्रगतिशील कवियों ने एक विशेष आदर का स्थान प्रदान किया है। उनकी तो यह मान्यता है कि यह धरती श्रमिकों के बल पर ही टिकी हुई है।

> इन श्रमिकों के बल पर ही
> टिकी हुई है धरती
> इन श्रमिकों के बल पर ही
> दीखा करती है
> सोने चांदी की 'भरती'।[2]

प्रगतिशील कवियों ने इन श्रमिकों के शोषित, पीड़ित, क्षुधित रूप की बड़ी मार्मिक व्यञ्जनाएँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने उनकी श्रम-बोझिल सुबह से शाम तक की दिनचर्या प्रस्तुत की—कि किस प्रकार वे भिसारे से लेकर 'सूरज के डूबे तक' अपनी हड्डी-पसली को चूर चूर करते रहते हैं और पाते हैं-बदले में केवल 'छः आने-दस आने'। वे किसी प्रकार रोटी के टुकड़ों को दाँत से काटकर, 'पेट की थैली' में गाड़ लेते हैं, बरतन मांजते हैं और 'नंगी धरती' पर ही सो जाते हैं।[3] इस प्रकार उनका जीवन पूर्णतः यांत्रिक हो गया है। वह काले काले इंजन सा ही धड़ धड़ करता दौड़ रहा है। वे ही यद्यपि कपड़ों के वैभव के निर्माता हैं—पर, उनको ही अध-नंगे रहना पड़ता है और ऐसे ही भूखे-नंगे वे एक दिन स्वर्गपुरी को चल देते हैं।[4] संक्षेप में उनका जीवन निर्माण और शोषण के विरोधाभास का प्रतीक है। वे 'पवित्र' भी हैं तथा 'जग के कर्दम से पोषित' भी 'निर्माता भी हैं और 'शोषित' भी, अशिक्षित भी हैं और शिक्षितों से भी शिक्षित और विश्व-उपेक्षित भी हैं पर 'शिष्ट संस्कृति'

---

१. हिन्दुस्तान की कहानी (हिन्दी अनुवाद)। प्र० सं०, पृष्ठ ४४३

२. डा० महेन्द्र भटनागर : श्रमिक : जिजीविषा : पृष्ठ ६८

३. श्री केदारनाथ अग्रवाल : मजदूर : युग की गंगा : पृष्ठ ३५-३६

४. डा० महेन्द्र भटनागर : मिल मजदूर : बदलता युग : पृष्ठ ४५-४८

से अधिक 'मनुजोचित' भी ।[1] एक ओर, इस श्रमिक वर्ग का इतना दयनीय रूप है कि कंकड़–पत्थर भी उनसे अपने आपको अधिक अच्छी स्थिति मे पाते है,[2] लेकिन दूसरी ओर, प्रगतिशील कवि ने उन्हें ही लोक–क्रान्ति का अग्रदूत, वर-वीर, जनादृत, नव्य सभ्यता का उन्नायक और शासक माना है ।[3]

प्रगतिशील कवि ने किसान–वर्ग का भी श्रमिक-वर्ग के ही रूप मे अभिनन्दन किया है । उसकी दृष्टि मे इस धरती का वास्तविक स्वामी किसान ही है और इसी लिये वह मुक्त स्वरों में इस तथ्य की घोषणा भी करता है :

> यह धरती है उस किसान की
> जो बैलों के कंधों पर,
> बरसात धाम मे
> जुआ भाग्य का रख देता है
> खून चाटती हुई वायु मे ।[4]

श्री प्रभाकर माचवे की भी यही मान्यता है :

---

१. वह पवित्र है : वह, जग के कर्दम से पोषित,
वह निर्माता, श्रेणि, वर्ग, धन, बल से शोषित ।
मूढ़, अशिक्षित,–सभ्य शिक्षितों से वह शिक्षित,
विश्व–उपेक्षित,–शिष्ट संस्कृतों से मनुजोचित ।
—पन्त : श्रमजीवी : युगवाणी : पृष्ठ ४६

२. पर मैंने कल पथ पर देखी पद दलित मानवों की टोली
थी जिनकी आह–कराहों में मेरी परवशता की बोली ।
उनकी भी हाहाकारों पर देता था कोई ध्यान नहीं,
अपने सूखे जर्जर तन में लगते थे मेरे हम जोली,
जीवन में पहले पहल मुझे अपने पर कुछ कुछ गर्व हुआ,
मैं जड़ होकर भी इन चेतन नर–कंकालों से बढ़ कर हूँ ।
मैं पथ का कंकड़–पत्थर हूँ ।
—सुमन : कंकड़–पत्थर : प्रलय-सृजन : पृष्ठ २०

३. लोक क्रांति का अग्रदूत, वरवीर, जनादृत
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित ।
—पन्त : श्रमजीवी : युगवाणी : पृष्ठ ४६

४. केदारनाथ अग्रवाल : धरती : युग की गंगा : पृष्ठ ४४

धरती किसकी बोलो ? धरती किसकी ?
—जमींदार की नहीं,
—साहूकार की नहीं,

उसी की जो मेहनत कर खून पसीना डाले,
गोड़े-जोते, बोये-सींचे लहलह फसल निकाले ।[1]

किसान के श्रममय साधक रूप की व्यञ्जना करने वाली रचनाएँ भी प्रगतिशील कविता में कम नहीं हैं। सुमन जी की 'चल रही उसकी कुदाली' शीर्षक कविता में किसान के इसी श्रममय साधक रूप की झांकी मिलती है । निम्न पंक्तियां दृष्टव्य हैं :

हाथ हैं दोनों सधे से,
गीत प्राणों के रुंधे से,

और उसकी मूठ में, विश्वास
जीवन के बँधे-से

धक धकाती धरणि थर-थर
उगलता अंगार अम्बर,
भुन रहे तलुवे, तपस्वी-सा
खड़ा वह आज तन कर,

शून्य सा मन, चूर है तन
पर न जाता वार खाली
चल रही उसकी कुदाली ।[2]

किसान के इस श्रम का फल, लेकिन स्वयं उसे न मिल कर शोषक वर्ग को ही मिलता है । जिस भूमि के कण-कण को वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी से सींचता आया है, वही भूमि उसकी अपनी न कहला कर, दूसरे की ही, जो कि उस भूमि से अपरिचित

१. माँ धरती : निर्माण के स्वर (प्र० सं०) प्रका० सूचना विभाग उ० प्र० : पृ०-२
२. प्रलय-सृजन : पृष्ठ २१

तक है, निश्चिन्त है—कहलाती है।[1] अतएव वह सदैव कर्ज में डूबा रहता है। दिन-रात कठोर परिश्रम करने के पश्चात् भी उसकी दयनीय स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। किसान का बेटा अपने बाप के मरने पर, इसीलिए, केवल उसकी दरिद्रता को ही अपनी पैतृक सम्पत्ति के रूप में पाता है। उसकी यह पैतृक सम्पत्ति क्या रहती है—इसे कवि केदार के शब्दों में सुनिए :

> जब बाप मरा तब यह पाया भूखे किसान के बेटे ने,
> घर का मलबा, टूटी खटिया, कुछ हाथ भूमि, वह भी परती।
>
> \+ \+ \+
>
> बन्धन सुमेरु का प्रतियोगी द्वारे का पर्वत पूरे का,
> बनिया के रुपयों का कर्जा जो नहीं चुकाने पर चुकता।
> दीमक, गोबर, मच्छर, माटा—ऐसे हजार सब सहवासी,
> बस यही नहीं, जो भूख मिली सौगुनी बाप से अधिक मिली।[2]

कुछ अन्य कविताओं में, प्रगतिशील कवि ने, किसान के पिछड़े हुए रूढ़िग्रस्त रूप को भी अभिव्यक्त किया है। पन्त जी ने अपनी 'कृषक' शीर्षक कविता में किसान के रूढ़िग्रस्त एवं पुरातनता-प्रेमी रूप की ही व्यंजना की है

> युग युग का वह भारवाह, आकटि नत मस्तक
> निखिल सभ्य संसार पीठ पर उसके स्थापित,
> जड़ मूढ़, पङ्गुल, रूढ़ी कूप-मण्डूक बर्बर,
> ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक।[3]

---

१. तेरे पुरखों के खेत-खलों से किसान,
कण-कण दुख दुख से लिखित होगा अपना।
वह पूर्ण सर्वांगीण [illegible] लिखित हो सकती है,
तू मर मिट कर भी उसके लिए [illegible]।
—[illegible] : [illegible] : मजदूर के स्वर पृष्ठ ७

२. केदार [illegible] : युग की गंगा : पृष्ठ ५०-५१

३. युग-वाणी : पृष्ठ ४६

इसी प्रकार, डा० रामविलास शर्मा ने भी किसान के "मटीले मुँह प "रूढ़ियों की, नियमों की, अस्पष्ट विचारों की" और "सदियों के पुरातन मृ संस्कारों की प्रेतरूप छायायें चिन्हित' देखी है।[1] श्री त्रिलोचन ने भी 'तारों ज्योति चलकर भूमि तल पर आ रही है।,[2] —कविता में किसान की मन युगीन भाव-धारा का, "चम्पा काले काले अछर नहीं चीन्हती"[3] में उसके अशिक्षित रूप का और "भोरई केवट के घर"[4] में उसके भाग्यवादी रूप क उद्घाटन किया है।

प्रगतिशील कवि ने किसान और मजदूर वर्ग से सम्बन्धित निम्न वर्ग के कुछ अन्य लोगों को भी अपनी सहानुभूति के स्वर समर्पित किये हैं। श्री केदार नाथ अग्रवाल ने "रनिया"[5] के रूप में एक "खेतिहर मजदूरिन" का तथा "चन्दू"[6] के रूप में एक भिखारी का चित्र अंकित किया है। पन्त जी की "वह बुड्ढा कविता"[7] भी भिखारी के ही चित्र को प्रस्तुत करती है। नरेन्द्र शर्मा की "फागुन की आधी रात[8] कविता में गाँव की एक कहारिन का य एवं श्रम-बोझिल रूप प्रकट हुआ है और डा० रामविलास शर्मा की 'सिल्हार' में 'खेतिहर मजदूर' का तथा 'बँसवाड़ा'[10] में कोरी चमार आदि जमींदार बेगार करने वालो की एक झलक मिल जाती हैं। श्री प्रभाकर माचवे

---

१. रूढ़ियों की, नियमों की, अस्पष्ट विचारों की
सदियों के पुरातन मृत संस्कारों की,
चिन्हित है प्रेतरूप छायाएँ मटीले मुँह पर।

—कार्यक्षेत्र : रूप-तरंग : पृष्ठ १६

२, ३, ४. धरती में संकलित ; क्रमशः १४, ७५ और ८२ पृष्ठ पर.

५, ६ युग की गंगा : पृष्ठ ३१ ३८

७. ग्राम्या : पृष्ठ २९

८. पलाशवन : पृष्ठ ६६

९, १०. रूप-तरंग : पृष्ठ ८, ७०

"वह एक" [1] कविता में एक अखबार बेचने वाले व्यक्ति का भी यथार्थ रूप प्रस्तुत किया है।

मध्यम वर्ग को चित्रित करते समय प्रगतिशील कवि मार्क्स और लेनिन की धारणाओं से बड़ी सीमा तक प्रभावित हुआ है। पन्त जी की "मध्य वर्ग" शीर्षक कविता में उक्त प्रभाव की ही अनुगूँज मिलती है। उन्होंने मध्यम वर्ग के व्यक्ति को "परि जन, पत्नी-प्रिय" "यश कामी", "व्यक्तित्व-प्रसारक" और "पर-हित-निष्क्रिय" माना है। यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार किया है कि वह ज्ञान-विज्ञान तथा नीतियों का उन्नायक है पर साथ ही उनकी दृष्टि में वह 'उच्च वर्ग की सुविधा का शास्त्रोक्त प्रचारक" एवं "जन-वंचक" भी है। [2] डा० शिवमंगल सिंह सुमन ने भी "मध्य वर्ग के पोषित" कवि को यथार्थवादी तथा केवल स्वप्न-दृष्टा मान कर उसकी स्थिति को "त्रिशंकु" से उपमित किया है :

> ऊपर पूँजीवादी समाज नीचे शोषित जनता का स्वर
> तुम आँखें ऊपर कर चलते मिट्टी जाती है खिसक इधर
> इस तरह प्रतिक्रिया और क्रान्ति-दोनों के बीच त्रिशंकु बने
> तुम बना मिटाया करते हो अपनी आशाओं के खण्डहर
> अपने ही अंतर का जाला बुन बुन कर चारों ओर, विवश
> अपनी ही असफलताओं से भर भर जग-जीवन का आंगन
> इस जीर्ण जगत के पतझर में अभिशप्त तुम्हारा कवि-जीवन। [3]

प्रगतिशील कवि का उक्त विश्लेषण मध्य वर्ग के उच्च स्तर के लोगों से ही विशेष सम्बन्धित है। मध्य वर्ग के निम्न स्तर के व्यक्तियों के प्रति तो उसके हृदय में भी अखण्ड सहानुभूति और करुणा की धारा उमड़ पड़ी है। उसने इस मध्य वर्ग के चिर अभावग्रस्त एवं यांत्रिक जीवन की बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति की है। श्री प्रभाकर माचवे के शब्दों में इस निम्न मध्य वर्ग के प्राणी का यथार्थ रूप यही है :

---

१. तार-सप्तक : पृष्ठ ५६
२. मध्य वर्ग : युगवाणी : पृष्ठ ४४
३. अपने कवि से : प्रलय-सृजन : पृष्ठ १२

नोन तेल लकड़ी की फ़िक्र में लगे घुन-से
मकड़ी के जाले-से, कोल्हू के बैल-से
मकां नहीं रहने को, फिर भी ये घुन-से
गन्दे अँधियारे और बदबू भरे दड़बों में
जनते हैं बच्चे।[१]

निम्न मध्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला क्लर्कों का वर्ग है। इसलिए अधिकतर प्रगतिशील कवियों का ध्यान क्लर्कों की ओर ही गया है। यह वर्ग शेष दुनियां से बेखबर सुबह से शाम तक फाइलों के घेरे में खोया रहता है। उसके स्वप्न केवल पहिली तारीख को हँसते हैं और शेष दिनों में तो उसके मस्तक में केवल चिन्ता, फाइल और साहब ही डेरा जमाए रहते हैं। यद्यपि इस वर्ग के कुछ व्यक्ति स्वस्थ हो सकते हैं, किन्तु अधिकतर तो पीले, मरियल और गूंगे-गूंगे ही रहते हैं। श्री उदयशंकर भट्ट ने दफ्तर के उक्त बाबू का चित्र ही अंकित किया है।[२] श्री गिरजाकुमार माथुर ने भी "क्लर्क" को निरा "मशीन का पुर्ज़ा" मात्र

---

१. तार-सप्तक : पृष्ठ ५६

२. "कुछ हँसते, कुछ नव-प्रसून से
बनमाली भी सुन्दर सुन्दर
किन्तु अधिकतर पीले,
मरियल,
गूंगे, गूंगे।
फाइल के घर
केवल जिनके स्वप्न सुनहले
केवल पहिली तिथि को हँसते,
जिनके मस्तक में चिन्ता है,
जिनके मस्तक में कागज़ है,
जिनके मस्तक में साहब है, ... "

—युगदीप : पृष्ठ १२५

ही माना है, जिसके कि भाव-विचार, प्यार और आदर्श नष्ट हो चुके हैं और जिसकी कि आत्मा की आँखों को भी अंधी बना दिया गया है :

उसके मन में अब कुछ भाव-विचार नहीं हैं—
प्यार मिट चुका,
और सभी आदर्शों का बलिदान हुआ है,
अंधी कर दी गई आत्मा की भी आँखें
उसका भी तो फूल राह में कुचल गया है।[1]

डा० महेन्द्र भटनागर ने इस निम्न मध्यवर्ग के प्राणी का यांत्रिक एवं दैन्य-जर्जर रूप इस प्रकार रेखांकित किया है :

पास के घर में
पड़ी-सी अर्द्ध-निद्रित
तीस वर्षीया कुमारी
करवटें लेती किसी की याद में,
बल्कि है उसका पिता
और वह उलझा हुआ है
कागजों के ढेर में,
(जिन्दगी के फेर में)
सोचता है—
रात काली हो गई,
अब दोष देगा जागना की रात में।[2]

निम्न मध्यवर्ग के कवि का जीवन भी इसी अभाव की आँखें देखा हुआ ही व्यतीत होता रहता है। श्री नागार्जुन की निम्न पंक्तियों में इस निम्न मध्यवर्ग के कवि-जीवन का भी मनोव्यथा रूप देखिए :

---

१. मशीन का पुर्जा : गिरिजाकुमार माथुर (राजपाल एण्ड सन्ज द्वारा प्रकाशित) पृष्ठ ६१

२. मध्यवर्ग (चित्र दो) : जिजीविषा : पृष्ठ १२

नोन तेल लकड़ी की फिक्र में लगे घुन-से
मकड़ी के जाले-से, कोल्हू के बैल-से
मकां नहीं रहने को, फिर भी ये घुन-से
गन्दे अँधियारे और बदबू भरे दड़बों में
जनते हैं बच्चे।[1]

निम्न मध्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला क्लर्कों का वर्ग है। इसलिए अधिकतर प्रगतिशील कवियों का ध्यान क्लर्कों की ओर ही गया है। यह वर्ग शेष दुनियां से बेखबर सुबह से शाम तक फाइलों के घेरे में खोया रहता है। उसके स्वप्न केवल पहिली तारीख को हँसते हैं और शेष दिनों में तो उसके मस्तक में केवल चिन्ता, फाइल और साहब ही डेरा जमाए रहते हैं। यद्यपि इस वर्ग के कुछ व्यक्ति स्वस्थ हो सकते हैं, किन्तु अधिकतर तो पीले, मरियल और सूखे-सूखे ही रहते हैं। श्री उदयशंकर भट्ट ने दफ्तर के उक्त बाबू का चित्र ही अंकित किया है।[2] श्री गिरजाकुमार माथुर ने भी "क्लर्क" को निरा "मशीन का पुर्जा" मात्र

१, तार-सप्तक : पृष्ठ ५६

२. "कुछ हँसते, कुछ नव-प्रसून से
बलशाली भी सुन्दर सुन्दर
किन्तु अधिकतर पीले,
मरियल,
सूखे, सूखे।
फायल के घर
केवल जिनके स्वप्न सुनहले
केवल पहिली तिथि को हँसते,
जिनके मस्तक में चिन्ता है,
जिनके मस्तक में फायल है,
जिनके मस्तक में साहब है,......"

—पूर्वापर

निहित है।[1] इसकी सफलता के पश्चात् वर्ग सभ्यता का पूर्ण अन्त हो जायगा, इसी लिए वह इस संघर्ष को 'मानवता का अन्तिम रण' मानता है।[2] प्रगतिशील कवि की यह दृष्टि मार्क्सवाद धारणाओं से ही प्रभावित प्रेरित है। कार्ल मार्क्स ने अपने कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' में यह बताया है कि "इतिहास में आज से पहले जो भी संघर्ष हुए हैं वे अल्प संख्यक लोगों के या अल्पसंख्यक लोगों से हित में स्वचेतन तथा स्वतन्त्र संघर्ष हैं।'[3] एंगेल्स ने भी लिखा है : "यह वर्ग-संघर्ष अब उस अवस्था को पहुँच चुका है, जहां शोषित और उत्पीड़ित वर्ग (सर्वहारा) सारे समाज को शोषण, उत्पीड़न तथा वर्ग-संघर्ष से मुक्ति दिलाये बिना अपने को भी उस वर्ग से मुक्त नहीं करा सकता जो उसका शोषण और उत्पीड़न करता है।'[4]

प्रगतिशील कवि ने इसी भावना से प्रेरित होकर शोषित वर्ग का क्रान्ति के लिए आह्वान किया है। वह निम्न शोषित वर्ग के सभी प्राणियों को पुकारते हुए कहता है।

जल्द जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ,
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी पासी चमार तेली
खोलेंगे अंधेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछाओ।

\+ \+

सारी सम्पत्ति देश की हो
सारी आपत्ति देश की बने
जनता जातीय वेश की हो

---

१. है मानवता की मुक्ति मुक्ति में तेरी
तेरे बंधन मे है इस जन का बधन।

—मिलिन्द : श्रमजीवी : नवयुग के गान : पृष्ठ।

२. सुमन। परीक्षा दो। प्रलय सृजन। पृष्ठ ५७
3. Manifesto of the C. P Page-
४. वही : एंगेल्स : पृ०—

खाद से विषाद यह टले,
घाटा काटे से बढ़ाओ।[1]

यह क्रान्ति की मुख्य शक्ति किसान और मजदूर-वर्ग को मानता है। यही आज के विश्व की निर्माता शक्ति है। कवि उन्हें उनकी शक्ति से परिचित कराता हुआ कहता है।

तुम अनश्वर-शक्ति की तुम धार अविरल
तुम पुरुष हो
प्रकृति ने तुमको किया स्पन्दित, चलित, उद्बुद्ध
तुमने प्रकृति का खण्डित किया कौमार्य
मर्दित किया दुर्दम प्रथित यौवन
किये कर्षित अंग
बोये पुष्ट पौरुषबीज।[2]

इन पुष्ट पौरुष-बीज बोने वाले श्रमिकों को ही क्रांति, मानों स्वयं पुकार कर कहती है कि तुम शोषक दानवों का संहार कर विश्व में समता स्थापित करो और नूतन मानवों का विश्व बसाओ।[3]

वह किसान और मजदूर-वर्ग को अलग अलग सम्बोधित करके भी उनके हृदय की सुषुप्त क्रान्ति-भावना को जगाना चाहता है। वह किसान के हृदय में असंतोष का महातिक्त बीज बोना चाहता है ताकि वह नये साल के फागुन में क्रांति की फसल काट सके।[4] कभी वह किसान से कहता है :

अपनी कुरिया की चिनगी से सब में आग लगाये जा।
जर्जर दुनिया के ढांचे को भभ भभ आज जलाये जा॥
शोषण की प्रत्येक प्रथा का अंधियर गहन मिटाये जा।
नये जन्म का नया उजाला धरती पर बरसाये जा॥[5]

---

१. निराला : बेला : पृष्ठ ७८
२. शम्भूनाथ सिंह : मैं न तुमसे दूर : मनवन्तर : पृष्ठ १३
३. वही : पृष्ठ १७.
४. बोना महातिक्त यहां बीज असंतोष का,
काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रान्ति की।
—रा. वि. शर्मा : कार्य क्षेत्र : रूप तरंग : पृष्ठ १६
५. केदार : किसान से : लोक और आलोक : पृष्ठ ८३-८४.

और कभी मजदूर को सम्बोधित करते हुए कहता है :

मार हथौड़ा,
कर कर चोट
लोहू और पसीने ही
बन्धन की दीवारें तोड़ ।[1]

प्रगतिशील कवि ने श्रमिक वर्ग का क्रान्ति के लिए आह्वान मात्र ही नहीं किया, उसने उनके हृदय में चिर जाग्रत क्रान्ति-भावना का चित्रांकन कर उनके क्रान्तिकारी रूप का भी उद्‌घाटन किया है। पिछले अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि किसान और मजदूर-वर्ग में सन् १९३६ तक वर्ग-चेतना का पर्याप्त विकास हो गया था और यह चेतना बाद में भी तीव्र-तर होती गई है। प्रगतिशील कवि इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं रहा है और उसने खुल कर श्रमिक वर्ग की क्रान्तिकारी चेतना को अपने शब्द-रूपों में बांधा है। उदाहरण के लिए डा० महेन्द्र भटनागर की 'जागते रहेंगे' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियां देखिए, जिनमें कि उपेक्षित वर्ग के क्रान्तिकारी रूप का बड़ा प्रभावशाली चित्र अंकित हुआ है :

आग बन गया उपेक्षितों का वर्ग
कि ढह रहा प्रवंचना का दुर्ग,
पत्थरों के कोयले धधक उठे,
लपट मशाल बन हवा के संग
अंधकार पर प्रहार कर रही।
तमाम शोषकों के कागजी पहाड़
राख हो रहे।
कि जड़ समेत सब उखड़
हवा के तामसी महल सहज में खाक हो रहे।
यह आग है कि बर्फ की तहों से दब न पायगी,
कि क्षिप्र जल-की धार से कभी भी बुझ न पायगी।

इसी प्रकार श्री उदयशंकर भट्ट ने स्वयं 'श्रमिक' के मुँह से क्रान्ति-

---

१. वही : हथौड़े का गीत : वही पृष्ठ ८२

घोषणा करवा कर उसकी तीव्रतर होती हुई वर्ग-क्रान्ति की चेतना को ही व्यक्त किया है :

> मैं सभी बदल दूँगा समाज अपने अपार बलिदानों से
> अब और न माँगूँगा भिक्षा गिड़गिड़ा कभी महमानों से
> मैं शैल-शिखर से खींच विभव पैरों से रगड़ मसल दूँगा
> मैं यम-दाढ़ों से मरण खींच जीवन में उन्हें बदल दूँगा।[1]

श्री नवीनजी ने भी अपनी 'जूठे पत्ते' शीर्षक कविता में दलित-पीड़ित मानव का क्रान्ति के लिए आह्वान किया है :

> ओ भिखमंगे, अरे पराजित, ओ मजलूम, अरे चिर दोहित
> तू अखण्ड भाण्डार शक्ति का, जाग, अरे निद्रा-सम्मोहित,
> प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल-थल भरदे,
> अनाचार के अम्बारों में अपना ज्वलित फलीता धर दे।[2]

प्रगतिशील कवि की यह क्रान्ति-भावना राष्ट्रीय और सामाजिक दोनों रूपों को लिए हुए है। राष्ट्रीय दृष्टि से इसमें पराधीनता के विरुद्ध आक्रोश-भावना है और सामाजिक दृष्टि से वह वर्ग-व्यवस्था को विध्वंस कर देने के लिए आतुर है। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उसने जो विद्रोह की घोषणा की थी उसमें उक्त दोनों दृष्टियों का ही समावेश था। अपनी उक्त दृष्टि के कारण ही उसने ब्रिटिश शासन को 'घृणित', 'लुटेरे' और 'शोषक' के विशेषणों से विभूषित किया था।[3]

पराधीनता के पाशों से मुक्त होने के बाद भी प्रगतिशील कवि ने

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता में श्रमिक वर्ग : श्री विनयमोहन शर्मा : 'साहित्यिक निबन्ध' : पृष्ठ २१७ से उद्धृत।

२. हम विषपायी जनम के : पृष्ठ ४९४

३. घृणित, लुटेरे, शोषक, समता पर-धन-हरण करौती
जिनका जिनका बड़ा है रहा तुमको भूखी चुनौती।
—आज देश की मिट्टी बोल उठी : शिवमंगलसिंह 'सुमन' : पृ० ४

क्रान्ति-घोषणा की है, वह उसकी सामाजिक दृष्टि की ही प्रतीक है। आजादी के बाद यद्यपि भारतीय जनता विदेशी शासन से मुक्त हो गई, लेकिन वर्ग-भेद की विषमता ज्यों की त्यों बनी रही। प्रगतिशील कवि का तो लक्ष्य है उस व्यवस्था को ही समूल नष्ट करना, जो कि श्रमिक वर्ग के शोषण का आधार है। इसीलिए आजादी के बाद भी कवि श्रमिक वर्ग को क्रान्ति के लिए उभारता हुआ रहता है :

> रुद्र तुम हो, मैं तुम्हारा तीसरा हूँ नयन
> कामी शोषकों का तुम करो संहार
> जग में क्रान्ति का डमरू बजे
> उद्दाम हो फिर नृत्य तांडव
> जले, भस्मीभूत हो वह जड़ व्यवस्था
> श्रमिक-शोषण ही रहा आधार जिसका।[1]

यह वर्ग-व्यवस्था को समूल नष्ट करने की भावना ही इस क्रान्ति-चेतना को एक अन्तर्राष्ट्रीय रूप प्रदान करती है। प्रगतिशील कवि का लक्ष्य केवल अपने देश-विशेष में ही वर्ग-व्यवस्था का नाश करना नहीं है। प्राथमिक दृष्टि से अवश्य ही वह अपने देश की वर्ग-विषमता को मिटाने के लिए आतुर रहता है, लेकिन अन्ततः वह समस्त विश्व के श्रमिक वर्ग को अपनी सहानुभूति अर्पित करता है, उनके संघर्ष का अभिनन्दन करता है और प्रत्येक देश के शोषक-वर्ग के प्रति घृणा और तिरस्कार की व्यञ्जना करता है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रगतिशील कवि क्रान्ति के समय हिंसा और अहिंसा के प्रश्न को व्यर्थ मानता है। महात्मा गांधी ने क्रान्ति के अहिंसात्मक रूप को ही अपना आशीर्वाद प्रदान किया था। उन्होंने साधन की पवित्रता पर अत्यधिक जोर दिया था। उनका कथन था—'साधन बीज है और साध्य वृक्ष, इसलिए जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है, वही सम्बन्ध साधन और साध्य में है। शैतान की उपासना करके मैं ईश्वर-भजन का फल नहीं पा सकता।"[2] प्रगतिशील कवि इस अहिंसा अथवा साधन की पवित्रता के प्रश्न

---

१. शम्भुनाथ सिंह : मैं न तुमसे दूर : मन्वन्तर : पृष्ठ १७
२. हिन्द-स्वराज्य : पृष्ठ १२६

को क्रांति विरोधी पूँजीपति-वर्ग का एक षड़यन्त्र मानता है। यद्यपि वह भी
में ही रक्त बहाना उचित नहीं समझता, उसे तो पराये पैर का काँटा तक कसकता
लेकिन वह ऐसे शोषक वर्ग को क्षमा कर देने के लिए भी प्रस्तुत नहीं है, जिन्
अपने स्वार्थ के लिए इस जीवन को विषाक्त बना दिया है।[1] वह इसीलिए हिंसा
आपद्-धर्म के रूप में स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में कायर की मौत मरना
सबसे गर्हित हिंसा है और जीने का अधिकार ही सबसे बड़ी अहिं
है।[2]

प्रगतिशील कवि ने क्रांति के विध्वंसात्मक रूप के साथ ही उसके सृजनात्म
पक्ष को भी अपनाया है। पन्त जी की दृष्टि में क्रांति का रूप इस प्रकार है।

---

१. आज जो मैं इस तरह आवेश में हूँ अनमना हूँ
यह न समझो मैं किसी के रक्त का प्यासा बना हूँ
सत्य कहता हूँ पराए पैर का काँटा कसकता
भूल से चींटी कहीं दब जाय तो भी हाय करता
पर जिन्होंने स्वार्थवश जीवन विषाक्त बना दिया है
कोटि कोटि बुभुक्षितों का कौर तलक छिना लिया है
'लाभ शुभ' लिखकर जमाने का हृदय चूसा जिन्होंने
और कल बंगालवाली लाश पर थूका जिन्होंने।
बिलखते शिशु की व्यथा पर दृष्टि तक जिनने न फेरी
यदि क्षमा कर दूँ उन्हें धिक्कार माँ की कोख मेरी।
—सुमन। वि० बढ़ता ही गया। पृष्ठ ९

२. कौन कह रहा हिंसक हमको आपद्-धर्म हमारा,
भूखों नंगों को न सिखाओ शान्ति शान्ति का नारा
कायर की सी मौत जगत में सबसे गर्हित हिंसा
जीने का अधिकार जगत में सबसे बड़ी अहिंसा।
—वही ; वही ; पृष्ठ ४३-४४

तुम अंधकार, जीवन को ज्योतित करती,
तुम विष हो, उर में मधुर सुधा सी झरती।
तुम मरण, विश्व में अमर चेतना भरती,
तुम निखिल भयंकर भीति जगत की हरती [1]

इस प्रगतिशील प्रवृत्ति की प्रारम्भिक अवस्था में अवश्य ही क्रान्ति के केवल विध्वंसात्मक रूप को ही प्रधानता प्रदान की गयी थी। इस विध्वंसात्मक दृष्टि के पीछे कवि की अराजकतावादी भावना का प्राबल्य था। 'दिनकर' की 'विपथगा' तथा नवीनजी की 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाए' शीर्षक कविताएँ कवि की अराजकतावादी भावनाओं, को ही प्रकट करनेवाली है। दिनकर की 'विपथगा' का स्वरूप देखिए :

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात किस रोज किधर से आऊँगी
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अम्बर में आग लगाऊँगी,
आँखें अपनी कर बन्द देश में जब भूकम्प मचाऊँगी,
किसका टूटेगा शृंग, न जानें, किसका महल गिराऊँगी।
निर्बन्ध, क्रूर, निर्मोह सदा मेरा कराल नर्तन-गर्जन।
झन-झन–झन-झन-झन झनक झनक।

श्री शिवदानसिंह चौहान ने उचित ही दिनकर की इस क्रान्ति-कल्पना को 'ध्वंसात्मक' माना है। [2] लेकिन आगे चल कर स्वयं दिनकर की क्रान्ति का लक्ष्य भी अधिक स्पष्ट होगया है और अनेक अन्य कवियों ने तो क्रान्ति के सृजनात्मक रूप को ही गहन–आस्था के साथ अपनाया है। त्रिलोचन की 'तुम बढ़ो विजय के पथ पर' कविता में क्रान्ति के लक्ष्य की स्पष्ट घोषणा की गई है। कवि जन-जीवन का क्रान्ति के लिए आह्वान कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए ही करता है, केवल विध्वंस के लिए नहीं :

तुम बढ़ो जिस तरह दीप्त ज्वाल
कर दग्ध रूढ़ि का अन्तराल
साम्राज्यवाद, सामन्तवाद औ व्यक्तिवाद
जो बाँध रहे गति जीवन की कर उन्हें नष्ट
तुम सामाजिक स्वातंत्र्य-साध्य को करो स्पष्ट

---

१. चक्रवाल : पृष्ठ ७३–७४
२. साहित्यानुशीलन : पृष्ठ १८३

होंगे स्वतन्त्र नारी नर
हो समस्वत्व अवदात।[1]

पन्तजी ने भी भावी वर्ग-विहीन समाज के कुछ स्वप्न-चित्र भी प्रस्तुत किये हैं, जो कि उनकी क्रान्ति की मूलात्मक दृष्टि को ही प्रकट करते हैं। उनकी 'स्वप्न-पट' शीर्षक कविता में भावी समाज का स्वप्न-चित्र देखिए :

आज मिट गए दैन्य-दुःख, सब भूखे नंगों के क्रंदन
भावी स्वप्नों के पट पर युग जीवन करता नर्तन।
टूट गए सब वर्ग हार, सब देशों राष्ट्रों के रण,
डूब गया रव घोर जाति का, सौर विश्व-संघर्षण।
जाति वर्ण की, श्रेणि-वर्ग की तोड़ भित्तियाँ दुर्धर
युग युग के बन्दीगृह से मानवता निकली बाहर।
नाच रहे रवि-शशि, दिगंत में,—नाच रहे ग्रह-उडुगण,
नाच रहा भूगोल, नाचते नर नारी हर्षित मन।[2]

ईश्वर और धर्म के प्रति क्षोम-भावना

प्रगतिशील कवि ने ईश्वर और धर्म को एक अमानवीय तथा प्रगति-विरोधी तत्व के रूप में देखा है। उसकी सामाजिक यथार्थ-दृष्टि ने इस तथ्य का अनुभव किया है कि विनाशोन्मुख शोषक शक्तियाँ प्रायः ईश्वर और धर्म की आड़ लेकर नव-निर्माण और क्रान्ति की शक्तियों को पथ-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती रही हैं। धर्म और ईश्वरवादी तत्व ने ही मनुष्य को संघर्ष से विमुख कर भाग्यवादी एवं पलायनशील भी बनाया है। मार्क्सवादी दृष्टि ने तो इसीलिए 'नास्तिकवाद' को एक गौरव-गरिमामय सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया और उसे 'संक्रान्ति मानववाद' की संज्ञा प्रदान की।[3] डा० भोलानाथ ने ईश्वर और धर्म के प्रति प्रगतिशील कवि की अनास्था का कारण उसका 'बुद्धिवादी दृष्टिकोण' माना है।[4] वस्तुतः प्रगतिशील कवि जब वर्तमान वर्ग-व्यवस्था के विकराल शोषण

---

१. धरती : पृष्ठ ६-७
२. ग्राम्या : पृष्ठ ११-१२
३. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र : पृष्ठ ३२६
४. हिन्दी-साहित्य : पृष्ठ ३७१

के स्वरूप को देखता है तो ईश्वर और धर्म के प्रति उसकी आस्था डगमगा जाती है। वह उसके विरुद्ध 'विद्रोह की हुंकार' भर क्रान्ति-घोषणा करता है :

> आज भी जन जन जिसे कर बद्ध होकर याद करते
> नाम ले जिसका गुनाहों के लिए फरियाद करते
> किन्तु मैं उसका घृणा की धूल से सत्कार करता
> आज मैं विद्रोह वश विद्रोह की हुंकार भरता।[१]

'नवीन' जैसा आस्तिक कवि भी दलित वर्ग की भीषण विषम स्थिति को देखकर कभी अत्यन्त आतुर हो उठा था और 'स्वयं जगतपति' का 'टेंटुआ' घोटने के लिए प्रस्तुत हो गया था :

> लपक चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को
> उस दिन सोचा क्यों न लगादूँ आज आग इस दुनियाँ भर को।
> यह भी सोचा क्यों न टेंटुआ घोंटा जाय स्वयं जगतपति का
> जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।[२]

'अंचलजी' ने तो ईश्वर को एक शोषक सत्ता के रूप में देखा और इसलिए उसके अस्त होने की कामना प्रकट करते हुए लिखा :

> आज अस्त हो जाय वही अभिशाप अनय रौरव-पोषक
> और वही दुर्दान्त महा उन्मत्त हड्डियों का शोषक।[३]

श्री केदारनाथ अग्रवाल ने तो अत्यन्त क्षुब्ध होकर पत्थर के भगवान के सिर पर लोहा दे मारने तक का आग्रह प्रकट किया है।[४] इसी प्रकार अपनी एक अन्य कविता मे जनता के भाग्यवादी स्वरूप की भर्त्सना कर रोटी के लिए स्वयं संघर्षरत होने का अह्वान किया है :

---

१. अंचल : विद्रोही : किरण-बेला : पृष्ठ : १४
२. नवीन : जूठे पत्ते : हम विषपायी जनम के : पृष्ठ ४६३
३. अंचल : हिन्दी-साहित्य : भोलानाथ तिवारी : पृष्ठ ३७२ से उद्धृत
४. पत्थर के सिर पर दे मारो अपना लोहा,
वह पत्थर जो राह रोक कर पड़ा हुआ है
जो न टूटने के घमंड में अड़ा हुआ है।
—लोक और आलोक : पृष्ठ ३६

रोटी तुमको राम न देगा।
वेद तुम्हारा काम न देगा ॥
जो रोटी के लिये लड़ेगा।
वह रोटी को आप वरेगा ॥[१]

उनकी 'सोने के देवता', 'देवमूर्ति', 'देवताओं की आत्मकथा' आदि कविताओं में भी ईश्वर के प्रति तिरस्कार–व्यंजना ही प्रकट हुई है। इसी प्रकार डा॰ महेन्द्र भटनागर ने भी अपनी 'वरगद' शीर्षक कविता में सिन्दूर से रंगे हनुमान–से पाषाण को श्वानों द्वारा चाटते हुए दिखाकर देवत्व की भावना के प्रति ही मर्माहतकारी व्यंग्य किया है :

जड़ के पास
खंडित औ कुरूपा
जो रंगा सिन्दूर से हनुमान-सा पाषाण
टिक कर गोद में बैठा
कि जिसकी अर्चना करते मनुज कितने
नमन हो परिक्रमा करते
व आधी रात को आ
श्वान जिसको चाटते।[२]

धर्म के प्रतिक्रियावादी एवं रूढ़िग्रस्त स्वरूप की भी प्रगतिशील कवि ने तीव्र भर्त्सना की है। पंत की 'नहान'[३] केदार की 'चित्रकूट के यात्री'[४] कविताओं में ग्रामवासियों की तीर्थ-यात्रा अथवा गंगा–स्नान के प्रति अन्ध-श्रद्धा-भावना के प्रति व्यंग्य किया गया है और रामविलास शर्मा की 'मूर्तियाँ'[५] कविता में 'मूर्ति-पूजा' की भावना की मूढ़ अन्धता पर प्रकाश डाला गया है। अंचलजी ने धर्म के

१. पुकार : लोक और आलोक : पृष्ठ ४७
२. नई चेतना : पृष्ठ ६१
३. ग्राम्या : पृष्ठ ३९
४. युग की गंगा : पृष्ठ २५
५. रूप–तरंग : पृष्ठ ५४

प्रगति एवं क्रान्ति-विरोधी रूप को स्पष्टतः चुनौती दी और 'मजहब-मजहब' नारा लगानेवालों को ललकारते हुए कहा :

> यह कौन खड़ा सन्नाटे में हिन्दू-हित की आवाज लिए
> वह कौन खड़ा निज धर्म लिए निज नंगेपन की लाज लिए
> 'मजहब मजहब' चिल्लाकर रोकेगा यह कौन पुरातन शव
> किसकी बाँहों मे ताकत रुद्ध करे जो तूफानी विप्लव । [१]

आशा और आस्था का स्वर

प्रगतिशील कविता की उक्त समस्त भाव-प्रवृत्तियों में आशा और आस
की चेतना फूल में पराग की तरह विद्यमान है। प्रगतिशील कवि में आशा अं
आस्था की दृढ़ता मूलतः दो कारणों से है : एक तो, उसे सामाजिक शक्ति पर
विश्वास है। वह समाज को क्रान्ति और प्रगति-विरोधी शक्तियों से अकेले वैयक्तिक
विद्रोह की घोषणा नहीं करता। वह तो संपूर्ण समाज-जीवन को क्रान्तिका
शक्तियों को साथ लेकर संघर्ष के लिए आगे बढ़ता है। यद्यपि कभी कभी उस
वैयक्तिक दर्द उसके हृदय को कचोटता अवश्य है, लेकिन जब वह देखता है
'मुझ जैसे तो लाख लाख हैं, कोटि कोटि हैं' तो वह अपना वैयक्तिक दुःख
जाता है। वह यह भी देखता है कि जन सामान्य शांति और कल्याण-कामी
और इस कल्याण-कामना के पीछे 'संघबद्ध जनता की हुंकृति' भी विद्यमान है
वह अपने मंगल-भविष्य के सम्बन्ध मे और भी अधिक आश्वस्त हो जाता है
दूसरे, मार्क्सवादी सिद्धांतों के परिचय से भी उसकी ऐतिहासिक दृष्टि अधि
व्यापक एवं स्पष्ट हुई है। मार्क्सवाद के अनुसार दो विरोधी तत्व निरंतर संघ
शील रहते हैं। ह्रासशील तत्व, जो कि अपनी-ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चु
होते हैं, पतन की ओर अग्रसर हो जाते हैं और विकासोन्मुखी शक्तियाँ एक
विकास-स्थिति की रचना कर देती है इस प्रकार वह विकास और उन्नयन
क्रम निरन्तर चला करता है। पंतजी ने इस विकास-दृष्टि को इस प्रकार व्य
किया है :

---

१. बढ़ते आते : किरण-वेला : पृष्ठ १८

२. नागार्जुन : जयति जयति जय सर्वमंगला : हंस : (शा० सं० अंक) : वर्ष २
अंक १-७ : पृ० १२

जन्मशील है मरण : अमर मर मर कर जीवन
झरता नित प्राचीन, पल्लवित होता नूतन।[१]

अपनी इसी ऐतिहासिक दृष्टि के कारण प्रगतिशील कवि को परिवर्तन पर पूर्ण विश्वास है। वह जीवन को अपना अधिकार और अमरता को दासी मानता है।[२] इतिहास का विश्लेषण करके उसने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि जीवन के आगे मौत को सदैव पराजित होना पड़ा है। रांगेय राघव इसीलिए कहते हैं :

धार तो आगे रहेगी सतत बहती
हर कदम मंजिल बनाता चल रहा हूँ
देख जीवन के पगों पर मृत्यु झुकती।[३]

श्री गिरिजाकुमार माथुर का भी मानव के भविष्य पर पूर्ण विश्वास है और इसीलिए वे जीवन के भविष्य की जय घोषणा करते हैं :

किन्तु नहीं,
मिट सका कभी न भविष्य मनुज का
जग का वैभव रचने वाले ज्योति-मनुज का
अणु का नाग नाथने वाले महामनुज का
अणु की अग्नि–गरज में भी
यह ध्वनि उठती है
जीवन में जीने का बल है
मनु की धरती अजर–अमर है
जयति मृत्यु-मरते भविष्य की
जय हो जीवन के भविष्य की।[४]

---

१. पतझर : युगवाणी : पृष्ठ २४

२. मैं अमर पथिक परिवर्तन का विश्वासी
जीवन मेरा अधिकार, अमरता दासी।
सुमन : *मैंने तुमसे वरदान नहीं माँगा था : पर आँखें नहीं भरीं* : पृष्ठ ५१

३. मंजिल (पूर्वार्द्ध) : हंस : नवम्बर, १९४७ : पृष्ठ १२७

४. मैन हैटन : धूप के धान : पृष्ठ ६७

प्रगतिशील कवि, यद्यपि आज के यथार्थ की विषाक्त विभीषिका से पूर्णतः परिचित है, लेकिन वह इस तथ्य से भी अपरिचित नहीं है कि इस विषाक्त विभीषिका को छिन्न भिन्न कर देने के लिए 'प्रगति' की शक्तियाँ भी अविरत संघर्षशील हैं। अतएव वह पूर्ण विश्वास एवं आस्था के साथ यह घोषित करता है :

> विषाक्त जलधि के हृदय में
> फूट कर धीरे धीरे उठ रहा मुक्ति का कमल वह
> खिलेगा जो एक दिन काले जल-तल पर
> नव अरुणामा में,—नव सतयुग के प्रकाश में।[1]

इस प्रकार प्रगतिशील कवि की दृष्टि भूत, वर्तमान और भविष्य को एक अखण्डित कालप्रवाह के रूप में देखती है और परिणामस्वरूप उसे आज की कुरूपताओं एवं विद्रूपताओं में से ही भविष्य की सुन्दर मानवता का चेहरा दमकता हुआ दिखाई देता है :

> अन्धकार का निराकार मुतहा सूनापन गहरा गहरा
> चीर किरण की उँगली से वह तेज पुंज उगा मस्तक में
> नया दमकता हुआ सूर्य सा नूतन मानवता का चेहरा।[2]

अपनी उक्त दृष्टि के कारण यद्यपि प्रगतिशील कवि ने अपनी रचनाओं की सृष्टि करते समय शिल्प-तत्त्व का पर्याप्त ध्यान नहीं रखा है और इसलिए उनमें स्थूल प्रचार का स्वर भी मुखरित हुआ है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना गलत होगा कि वे कला-विरोधी हैं। उन्होंने तो यत्र तत्र शिल्प तत्त्व की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है और काव्य को अधिक कलात्मक बनाने की आवश्यकता का प्रतिपादन भी किया है। साथ ही, उनकी अनेक रचनायें भी कलात्मक सौष्ठव का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं—जैसा कि हम सौन्दर्य बोध और शिल्पतत्त्व शीर्षक प्रकरण में देखेंगे।

अन्त में, उक्त भाव-प्रवृत्तियों के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि प्रगतिशील कविता अपने समय और मूल रूप

---

१. डा० रामविलास शर्मा : रूपतरंग : रूप-तरंग : पृष्ठ २६

२. मुक्ति बोध : मानवता का चेहरा : हंस, अक्टूबर १९५१ : पृष्ठ ५१

में जीवनोन्मुखी रही है। उसने जीवन–वास्तव को उसके अखण्ड एवं सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त करना ही अपना प्रमुख उत्तरदायित्व माना है। अपने इस उत्तरदायित्व का यथाशक्ति निर्वाह करते हुए, उसने परम्परा की संकुचित सीमाओं को तोड़ा है और एक साथ ही व्यक्ति और समाज, ग्राम, नगर और प्रकृति, ग्राम, जनपद, राष्ट्र और विश्व, अतीत, वर्तमान और भविष्य, यथार्थ और कल्पना, सुन्दर और असुन्दर, बुद्धि और भावना—आदि तत्वों को उनके संश्लेषित रूप में अपनी काव्य-चेतना के आलिंगन-पाश में बांधने का प्रयत्न किया है।

५

नारी : दृष्टि और स्वरूप

काव्यगत पृष्ठभूमि

नारी वैसे प्रत्येक युग के काव्य का प्रमुख विषय रही है, लेकिन प्रत्येक युग के कवि ने उसे भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। आदिम समाज में नारी और पुरुष दोनों समान रूप से उन्मुक्त थे। वे दोनों ही उत्पादन की प्रक्रिया में समान रूप से भाग लेते थे। और इसलिए दोनों में पारस्परिक सम्मान की भावना भी विद्यमान थी। कुछ विद्वानों ने तो मातृसत्तात्मक युग की भी कल्पना की है, जिसमें कि नारी पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक अधिकारों से सम्पन्न थी। व्यावहारिक रूप में वह पुरुष पर शासन ही करती थी। वैदिक युग में भी नारी और पुरुष समानता की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित थे। नारी पुरुष के हर सामाजिक धार्मिक कार्य में समान रूप से भाग लेती थी और अपने पति की सम्पत्ति में भी उसका अधिकार रहता था।[१] फलतः वैदिक मन्त्र सृष्टा कवि ने उसे श्रद्धा-प्रपूर्ण दृष्टि से ही देखा है।

लेकिन आगे चलकर, अर्थ-व्यवस्था अथवा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन हो जाने पर, नारी की स्थिति में भी परिवर्तन हो गया। सामंतीय युग में नारी पुरुष की दासी मात्र रह गई। पुरुष की भोग-वासना की तृप्ति के साधन के अतिरिक्त उसका कोई महत्व नहीं रहा। यहाँ तक कि वह एक पण्य-वस्तु की

---

१. देखिए—डा० राधाकृष्णन कृत 'धर्म और समाज' (द्वि० सं०) का अध्याय 'हिन्दू समाज में नारी'—पृष्ठ १६५

में जीवनोन्मुखी रही है। उसने जीवन–वास्तव को उसके अखण्ड एवं सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त करना ही अपना प्रमुख उत्तरदायित्व माना है। अपने इस उत्तरदायित्व का यथाशक्ति निर्वाह करते हुए, उसने परम्परा की संकुचित सीमाओं को तोड़ा है और एक साथ ही व्यक्ति और समाज, ग्राम, नगर और प्रकृति, ग्राम, जनपद, राष्ट्र और विश्व, अतीत, वर्तमान और भविष्य, यथार्थ और कल्पना, सुन्दर और असुन्दर, बुद्धि और भावना—आदि तत्वों को उनके संश्लेषित रूप में अपनी काव्य-चेतना के आलिंगन-पाश में बाँधने का प्रयत्न किया है।

५

नारी : दृष्टि और स्वरूप

काव्यगत पृष्ठभूमि

नारी वैसे प्रत्येक युग के काव्य का प्रमुख विषय रही है, लेकिन प्रत्येक युग के कवि ने उसे भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। आदिम समाज में नारी और पुरुष दोनों समान रूप से उन्मुक्त थे। वे दोनों ही उत्पादन की प्रक्रिया में समान रूप से भाग लेते थे। और इसलिए दोनों में पारस्परिक सम्मान की भावना भी विद्यमान थी। कुछ विद्वानों ने तो मातृसत्तात्मक युग की भी कल्पना की है, जिसमें कि नारी पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक अधिकारों से सम्पन्न थी। व्यावहारिक रूप में वह पुरुष पर शासन ही करती थी। वैदिक युग में भी नारी और पुरुष समानता की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित थे। नारी पुरुष के हर सामाजिक धार्मिक कार्य में समान रूप से भाग लेती थी और अपने पति की सम्पत्ति में भी उसका अधिकार रहता था।[1] फलतः वैदिक मन्त्र सृष्टा कवि ने उसे श्रद्धा-प्रपूर्ण दृष्टि से ही देखा है।

लेकिन आगे चलकर, अर्थ-व्यवस्था अथवा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन हो जाने पर, नारी की स्थिति में भी परिवर्तन हो गया। सामंतीय युग में नारी पुरुष की दासी मात्र रह गई। पुरुष की भोग-वासना की तृप्ति के साधन के अतिरिक्त उसका कोई महत्व नहीं रहा। यहाँ तक कि वह एक पण्य-वस्तु की

---

१. देखिए—डा० राधाकृष्णन कृत 'धर्म और समाज' (द्वि० सं०) का अध्याय 'हिन्दू समाज में नारी'—पृष्ठ १६५

तरह हो गई, जिसको कि कोई भी साधन-सम्पन्न व्यक्ति खरीद सकता था। नारी की इस स्थिति का पता मनुस्मृति से ही चल जाता है। उसमें एक स्थान पर एक साध्वी नारी के लिए गुण-विहीन पति को भी पूजा करने का विधान किया गया।[1] कालिदास ने भी कन्या को पुरुष की सम्पत्ति ही माना है।[2]

हिन्दी के प्राचीन काव्य में नारी की इसी गौण स्थिति का दर्शन होता है। वह या तो पुरुष की विलास-भावना की तृप्ति का साधन-मात्र रही या भक्ति और धर्म के साधना मार्ग की एक 'बाधिका' के रूप में प्रस्तुत की गई है। वीरगाथा-युग तथा रीतिकाल में नारी के भोग्या रूप को ही प्रधानता मिली और भक्तिकाल में सामान्यतः उसे साधना-मार्ग की बाधा 'माया' के रूप में देखा गया। वस्तुतः सामन्त-युग की नारी सांस्कृतिक रूप में अपवित्र तथा सामाजिक रूप में अपदस्थ दासी या भोग्या कामिनी मात्र थी। दूसरे शब्दों में, वह 'नर की छाया' मात्र थी। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नगण्य-प्राय था। कविवर पन्त के काव्य-स्वरों में —

पुरुषों की ही आंखों से नित देख देख अपना तन
पुरुषों के ही भावों से अपने प्रति भर अपना मन[3]

वह अपने जीवन-क्रम का सञ्चालन करती थी।

आधुनिक काव्य में नारी सम्बन्धी उक्त दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। भारतेन्दु युग में तो नारी का परिपाटीगत रूप-चित्रण ही होता रहा, लेकिन द्विवेदी युग में नारी के रीतियुगीन मूल्यों के विरुद्ध स्पष्ट विद्रोह की घोषणा मिलती है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'ऊर्मिला' और 'यशोधरा' को अपने काव्य की नायिका बना कर उपेक्षिता नारियों के प्रति अपनी उदार, उदात्त और श्रद्धा-भावना का ही परिचय दिया। उन्होंने प्राचीन भक्तियुगीन कवियों की भाँति नारी को साधना के पथ की बाधिका न मानकर साधिका ही माना। उनकी 'यशोधरा' की अन्तर्व्यथा त इसीलिए है कि उसे 'पथ की बाधा' माना गया।[4] 'प्रिय-प्रवास' की राधा भी 'नारी'

---

१. विशाल: कामवृतो वा गुणैर्वा परिवर्जितः
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सतते देववत् पतिः। — ५–१५४

२. "अर्थो हि कन्या........ ... ।"
कालिदास ग्रन्थावली (सं० २००१) : अभिज्ञान शाकुन्तलम् – पृष्ठ ५५

३. नर की छाया : युगवाणी : पृष्ठ ६०

४. सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात
पर चोरी चोरी गये, यही बड़ा व्याघात

के इस साधिका रूप को ही अधिक शक्ति के साथ व्यञ्जित करती है। वह अपने प्रियतम को अपने व्यक्तिगत आनन्द के लिए अपने पास बुला कर उनके कर्तव्य-मार्ग में बाधक नहीं बनना चाहती। उसकी तो एक मात्र यही आकांक्षा है :

प्यारे जीवें, जग-हित करें, गेह चाहे न आवें।[1]

'भारत-भारती' के कवि ने तो स्पष्ट रूप से नारी की दुर्दशा करने के लिए पुरुष-वर्ग को फटकारा है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि जहाँ नारी का आदर होता है, वहीं समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ रहती हैं।[2]

छायावाद युग में भी नारी के इस पावन रूप की उदात्त व्यञ्जना हुई है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने तो उसके रोम रोम से अपना स्नेह प्रकट करते हुए[3] उसे एक परम भावना पुनीत सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया :

तुम्हारे छूने में था प्राण
संग में पावन गंगा-स्नान
तुम्हारी वाणी में कल्याण,
त्रिवेणी की लहरों का गान।[4]

इसी प्रकार श्री जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' में नारी को जीवन विषमता को समरस बनानेवाली 'श्रद्धा' के रूप में अंकित किया :

नारी, तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।[5]

सखि वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ? – यशोधरा (२०१० वि०) पृष्ठ १९

१. हरिऔध : प्रिय-प्रवास : षोडश सर्ग : पृष्ठ २२३

२. ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे,
अपना किया अपराध उनके शीश पर हैं धर रहे।
भागें न क्यों हमसे भला फिर दूर सारी सिद्धियाँ,
पाती स्त्रियाँ आदर जहाँ रहती वहीं सब ऋद्धियाँ।
— भारत भारती (चौबीसवाँ संस्करण) : वर्तमान खण्ड : पृष्ठ ११६

३. तुम्हारे रोम रोम से नारि,
मुझे है स्नेह अपार। — पल्लव : पृष्ठ ९१

४. आँसू : पल्लव : पृष्ठ ६१

५. कामायनी (एकादश सं०) : लज्जा सर्ग : पृष्ठ ११६

द्विवेदी तथा छाया युग की नारी से भिन्नता

प्रगतिशील कवि ने भी नारी के उदात्त रूप को तो सुरक्षित रखा है, लेकिन द्विवेदी युगीन तथा छाया–युगीन नारी से उसकी नारी का स्वरूप मूलतः भिन्न है। द्विवेदी–युगीन काव्य में नारी के प्रति केवल सहानुभूति और सुधार–चेतना का ही स्वर ध्वनित हुआ है। द्विवेदी-युग का कवि न तो नारी की वर्ग–स्थिति को ही उभार कर प्रस्तुत कर सका और न उसकी विद्रोह एवं क्रान्ति–चेतना को ही वाणी दे सका। उदाहरणार्थ गुप्तजी ने 'यशोधरा' को गौरव-गरिमा से मण्डित स्वाभिमानिनी नारी के रूप में प्रस्तुत करते हुए भी उसे मूलतः 'अबला' के रूप में ही चित्रित किया, जो कि 'आँचल में दूध, और 'आँखों मे पानी भरे हुए है।'[1] इसी प्रकार छायावाद की नारी सुन्दर और उदात्त गुणों से तो विभूषित है, लेकिन यथार्थ जगत में स्थित शोषित–पीड़ित नारी का यह प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती। छायावादी कवि ने उसे एक अतिमानवीय देवी स्वरूप प्रदान कर दिया। कहीं तो उसे प्राकृतिक छाया–चित्रों में ही विलीन कर दिया और कहीं स्वप्निल जीवन की 'अप्सरा' का रूप दे दिया। वह कल्पना के आकाश की देवी तो अवश्य बन गई, लेकिन इस पार्थिव जीवन की मानवी के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकी। उसका रूप तो पन्त द्वारा वर्णित 'अप्सरा' के समान छायामय ही बना रहा :

निखिल कल्पनामयि अयि, अप्सरी, अखिल विस्मयाकार
अकथ अलौकिक, अमर, अगोचर, भावों की आधार
गूढ़, निरर्थ, असम्भव, अस्फुट, भेदों की शृंगार
मोहिनि, कुहुकिनि, छल-विभ्रममयि, चित्र-विचित्र अपार।[2]

छायावाद की प्रतिनिधि काव्य-साधिका सुश्री महादेवी वर्मा ने भी द्विवेदी युग तथा छाया काव्य की नारी सम्बन्धी उक्त प्रवृत्ति का विवेचन करते हुए इस तथ्य को स्वीकार किया है कि ... 'खड़ी बोली के आदर्शवादी कवि ने मलिनता में मिली पुरानी मूर्ति के समान उसे स्वच्छ और परिष्कृत करके ऊँचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित तो कर दिया, परन्तु वह उसे गतिशीलता देने में असमर्थ रहा। छायायुग ने उस

---

१. अबला जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।
—यशोधरा : पृष्ठ ६६

२. अप्सरा : पल्लविनी : (प्र० सं०) : पृष्ठ ११७

कठोर अचलता से शाप-मुक्ति देने के लिए नारी को प्रकृति के समान ही मूर्त्त और अमूर्त्त स्थिति दे डाली। उस स्थिति में सौन्दर्य की एक रहस्यमयी सूक्ष्मता और विविधता प्राप्त होना सहज हो गया, पर वह व्यापकता जीवन की यथार्थ सीमा रेखाओं को स्पष्ट न कर सकी।"[1]

नारी के विभिन्न रूप

मानवी तथा सहचरी रूप

प्रगतिशील कवि ने द्विवेदी युग की अचल नारी को गति भी प्रदान की और छायावाद की सूक्ष्म भावमयी एवं अमूर्त्त नारी को एक सजीव आकार भी प्रदान किया। उसने नारी को 'योनि' मात्र की भूमिका से ऊपर उठाकर उसके 'मानवी' रूप की घोषणा की।[2] अब वह न तो आकाश की 'सौन्दर्यमयी अप्सरा' ही रही और न ही पुरुष की मात्र भोग्या। सामंतीय युग में नारी चूंकि मात्र भोग की वस्तु थी, इसलिए उस युग का भ्रमर के समान केवल उसकी रूपराशि रूपी मधु की भीख मांगने में ही व्यस्त रहता था। नारी की चाटुकारी कर-उसकी रूपराशि की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा कर वह उसे रिझाने में तल्लीन रहता था। लेकिन आज का प्रगतिशील कवि नारी के मानवी रूप के प्रति ऐसी चाटुकारी भरी बातों को 'अवहेलना' का भाव ही मानता है। इसलिए वह स्पष्ट स्वरों में कहता है :

तुम नहीं हो भोग की ही वस्तु मुझको, अतः तुमसे
भीख मधु की मांगता मन भी नहीं अलि ज्यों कुसुम से
चाटुकारी से रिझाना-हुई अवहेला तुम्हारी, सुनो नारी
करूँ अभिनन्दन तुम्हारा मौन अब बिन कहे तुमसे।[3]

रीति-युग का कवि नारी को केवल 'फूल, तितली और योनि-कन्द' में ही देखता था, लेकिन प्रगतिशील कवि ने इसे नारी के प्रति 'निरादर की रीति' माना।[4] अब तो वह उसके उस विशद स्वरूप का ही मन में पूजन करने लगा,

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य : पृष्ठ २२२-२२३

२. "योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित।" — पन्त : नारी : ग्राम्या : पृष्ठ ८१

३. नरेन्द्र शर्मा : एक नारी के प्रति : मिट्टी और फूल : पृ० ११४

४. आज तक तुम फूल, तितली, योनि थी, यह छोड़ता हूँ

जिससे कि नारी आल्हाद-प्रेम के वर्षण के साथ 'मानवी की महिमा' से इस 'भू' को 'पावन' बनाती है :

विशद स्त्रीत्व का ही मैं मन में करता हूँ नित पूजन
जब आभा देही नारी आल्हाद प्रेम कर वर्षण
मधुर मानवी की महिमा से भू को करती पावन।[1]

इस प्रकार प्रगतिशील कवि ने नारी के केवल भोग्या और कामिनी रूप की अपेक्षा उसके 'मधुर मानवी' रूप को ही अधिक महत्व दिया। उसने नारी के दासी रूप को भी अपदस्थ कर दिया। अब तो नारी जीवन-संघर्ष में पुरुष के साथ कंधा से कंधा मिलाकर भाग लेने वाली 'सहचरी' बन गई। प्रगतिशील कवि ने उसके इस नये रूप की घोषणा करते हुए लिखा :

तुम नहीं कोई पुरुष की
जर खरीदी चीज हो
तुम नहीं आत्मा विहीना सेविका
मस्तिष्क-हीना सेविका
गुड़िया हृदय-हीना
नहीं हो तुम वही युग युग पुरानी
पैर की जूती किसी की
आदमी के कुछ मनोरंजन-समय की वस्तु केवल।
× × ×
कह रहा हूँ मैं
तुम्हारा 'प्रभु' नहीं हूँ
हाँ, सखा हूँ,
और तुमको सिर्फ अपने
प्यार के सुकुमार बंधन में
हमेशा बाँध रखना चाहता हूँ।[2]

प्रीति, कविकृत प्रेयसी की प्रीति थी वह छोड़ता हूँ
विश्व मधु का कुंड था, मन तरी थे मतवार भुज-द्वय
सुनो नारी ! निरादर की रीति थी, वह छोड़ता हूँ। — वही : वही : वही : पृष्ठ १३४

१. पन्त : कला के प्रति : युगवाणी : पृष्ठ ८१
२. डा० महेन्द्र भटनागर : नई नारी : बदलता युग : पृष्ठ ७०-७१

अतएव स्पष्ट है कि प्रगतिशील कवि ने पाशविक शक्ति के बन्धनों की भर्त्सना कर नारी को 'प्यार के सुकुमार बन्धनों' में ही बाँधने की कामना प्रकट की। उसने नारी का भी अपने जैसा ही स्वतन्त्र अस्तित्व माना और परिणामत: पारस्परिक सम्मान करने की भावना भी व्यक्त की।[१] उसने निस्संकोच स्वीकार किया कि नारी जीवन-संघर्ष में पुरुष-वर्ग से किसी भी भाँति पीछे नहीं है। इसलिए अब वह विजय को उसके नूपुरों में बँधी हुई देखने लगा।[२] अतएव अपने साथ पग बढ़ाने के लिए उसने नारी का भी आह्वान किया :

तो चलो, इस पंथ पर हम साथ अपने पग बढ़ायें
जिन्दगी की राह पर हम कर्म की ये साधनाएँ
दीप सी रह रह जगाएँ।[३]

प्रगतिशील कवि ने यद्यपि नारी के मानवी तथा सहचरी रूप की घोषणा तो की, लेकिन यथार्थ जगत में उस वर्ग की अधिकांश सदस्याएँ उपेक्षिता तथा शोषिता ही बनी हुई थी — और वह स्थिति कुछ सीमा तक अब भी विद्यमान है। अतएव उसकी यथार्थ दृष्टि नारी के रोम रोम से केवल अपार स्नेह-भावना प्रदर्शित करने में ही लीन नहीं हुई, उसके चिर शोषित एवं दलित रूप को भी भावाकुल होकर वाणी प्रदान करने लगी। प्रगतिशील कवि ने मजदूर और किसान वर्ग की ही भाँति नारी को भी एक विशिष्ट शोषित वर्ग के अन्तर्गत ही ग्रहण किया है। उसका मत है कि जिस प्रकार सामन्त और पूँजीपति वर्ग क्रमश: किसान और मजदूर वर्ग का शोषण करते हैं, उसी तरह पुरुष ने नारी का शोषण किया है। श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने अपनी 'तीन चित्र' शीर्षक कविता में 'जमींदार और किसान' तथा 'पूँजीपति और मजदूर' के तुलनात्मक चित्र के साथ ही 'पुरुष और नारी' का भी जो तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है, वह प्रगतिशील कवियों की उक्त दृष्टि का ही प्रतिनिधित्व करता है। इस चित्र में 'पुरुष और नारी' — दोनों का तुलनात्मक रूप देखिये :

पुरुष द्वारा शोषित रूप और विद्रोह के स्वर.

---

१. तुम स्वतन्त्र यहाँ कि हूँ जैसे स्वयं मैं
इसलिए सम्मान आपस का करेंगे। — रांगेय राघव : प्रगति-१ : पृष्ठ १२१

२. जानता हूँ, तुम कभी पीछे नहीं हो
सहचरी, आओ, धरो अपना चरण तुम
जय तुम्हारे नूपुरों में बँध गई है। — वही : परिचय : वही पृष्ठ ११२

३. वही : वही : वही : पृष्ठ १२१

एक खड़ा उल्लास लुटाता, एक जमा करता निज पीड़ा
गूँगी और भरी आँखों से देख रही मानव की क्रीड़ा
पशुता के कीड़े-सा वह, चीत्कार भरी चिर दोहित नारी
पंख कटे जिसके प्राणों के मूक रूदन सदियों से जारी
पति की काम-तृप्ति की नाली बच्चे जनना जिसका सम्बल
स्वाद बना निर्यातन जिसको क्रीत, विश्व, चिर शोषित प्रतिपल।[१]

यह नारी पुरुष-वर्ग की क्रूर वासना और अत्याचार का सदैव ग्रास बनती रही है। कभी धर्म और सतीत्व के नाम पर उसे अपने जालिम, घातक तथा क्रूर पति की कैद में जीवन भर बन्द रहना पड़ता है[२] तथा कभी मजहब का उन्माद उसकी 'दुर्बलता' पर हावी होकर उसका 'भक्षक'-व्यापार' करता है[३] और उसके साथ अत्यन्त नृशंसतापूर्ण पाशविक कृत्य किये जाते हैं।[४] इन अत्याचारों के साथ ही कभी कभी तो इस वर्ग-सभ्यता के अभिशाप से त्रस्त होकर या पुरुष वर्ग की लोलुप विलास वासना की क्रूरता का शिकार होकर-अन्त में कहीं भी आश्रय न पाने पर उसे 'वासना के गंदे कोठों' में जाकर भी शरण लेनी पड़ती है और अपने पद का विवश होकर विक्रय करना पड़ता है। यह दृश्य तो इतना वीभत्स होता है कि प्रगतिशील कवि की नस नस में बिजली सी कड़क उठती है और उसे 'प्रतिदानव'

---

१. किरण-वेला : पृष्ठ १२५

२. लो खाना, कपड़ा और गहना
तुमको कैदी बनकर रहना।
हो जालिम, घातक क्रूर पती,
फिर भी सहना है मूक सती।
पति-धर्म, गुलामी या बन्धन
ए नारि, तुम्हारा अभिनन्दन।
—श्री विश्वम्भरनाथ : नारी : विशाल भारत : नवम्बर, १९४७

३. लानत है मजहब
जो बनता मानवता का पहरेदार
जिसने दुर्बलता पर हावी हो
आज किया मनमाना भक्षक व्यापार।
—महेन्द्र भटनागर : दमित नारी : बदलता युग : पृष्ठ २४

४. निर्बल नारी, सुकुमार बालिकाओं पर

का रूप ग्रहण करने को बाध्य कर देता।[1]

जो नारियाँ इन अत्याचारों से किसी प्रकार मुक्त रह सकीं हैं, वे भी घर की चहारदीवारी की बंदिनी बनी हुई हैं। पंतजी ने ऐसी 'गृहिणी' नारियों को भी केवल 'योनिमात्र' माना है। उनकी दृष्टि में वे पुरुष-प्रकृति की नैतिकता आभूषण पहने हुये हैं, उनकी आत्मा तो नष्ट हो गई है और केवल त्वचा ही पावन रह सकी है। वे युग युग से अवगुण्ठित रह कर पुरुष रूपी पशु के बन्धन सहती रहती हैं[2]

प्रगतिशील कवि ने नारी के इस शोषण के विरुद्ध अत्यन्त व्यग्र होकर विद्रोह की वाणी मुखरित की है। उसने पुरुष-वर्ग से नारी की मुक्ति के लिए आग्रह किया है और उसे ललकारा भी है। पंतजी ने इस 'बन्दिनी नारी' की मुक्ति के आग्रह के स्वर को ध्वनित करते हुये लिखा है :

व्यभिचार, बलात्कार,
नगा कर झोंक देना गुप्त अंग में भी अस्त्र
स्तन, नाक, कान काट
फोड़ देना आँख भी,
—श्री उदयशंकर भट्ट : पूर्वापर : पृष्ठ १३४

१. देखता हूँ जब मैं
नीचे उन वासना के कोठों के–मठों के
नारी अधनंगी खड़ी और अर्ध चेतन,
खोले ठण्ड से सूजे नीले नीले मोटे स्तन,
टाँगें एक कम्पित सजीव हड्डियों का ढाँचा
पेट मे भरा एक दूसरा मांस–पिण्ड
हड्डियों का निचोड़।
पाप की प्रतिमा कुत्तों से बदतर।
तब मेरी नस नस मे कड़कती ज्यों बिजली
तब मेरी आकांक्षायें ज्वाला-सी उठतीं ऊपर।
दानव में-मुझको बनाती अति दानव वे।
—अंचल : दानव : किरण-वेला : पृष्ठ ६३-६४

२. योनि मात्र रह गई मानवी, निज आत्मा कर अर्पण
पुरुष-प्रकृति की पशुता का पहने नैतिक आभूषण।

मुक्त करो नारी को मानव ! चिर बंदिनी नारी को
युग युग की बर्बर कारा से, जननि, सखी प्यारी को
छिन्न करो सब स्वर्ण-पाश उसके कोमल तन-मन के
वे आभूषण नहीं दाम उसके बन्दी जीवन के ।[१]

वे चाहते हैं कि नारी पाशविक बन्धनों से मुक्त होकर अमर प्रेम के बन्धन में बँध सके और केवल त्वचा से ही पावन न रहकर मन से भी पवित्र हो सके। साथ ही 'अश्रुओं की अविवश इच्छायें जीवन-पातक' न रहकर विकास में सहायक बनें और 'प्रेम-प्रकाशक हों' ।[२]

इस आग्रह, अपील और आकांक्षा के साथ ही प्रगतिशील कवि ने नारी के उक्त अभिशापित रूप के लिये पुरुष-वर्ग को मुख्य रूप से उत्तरदायी मानकर, उसे ललकारा भी है और नारीत्व को अपमानित तथा मातृत्व को पदमर्दित करने वाले इन्सान को पशु से भी बदतर बताया है ।[३]

नारी के इस चिरशोषित एवं पराधीन रूप से विक्षुब्ध होकर प्रगतिशील कवि ने स्वयं नारी में भी आत्म-विश्वास जगाने का प्रयत्न किया और उसका अपने 'भय कल्पित' बन्धनों को तोड़ देने के लिये आह्वान भी किया ।[४] मिलिन्दजी ने नारी की इस पराधीनता में अपने 'आपे राष्ट्र' को बन्दी रूप में देखा। अतएव उन्होंने उससे 'अपने रंगीन पाशों'को तोड़ देने का आग्रह तो किया ही, उसे सम्पूर्ण मानवता को शोषण के बन्धनों से मुक्त कराने के लिए 'प्रगति शक्तियों की विद्युत' बन जाने के लिए भी प्रेरित किया :

नष्ट हो गई उसकी आभा, त्वचा रह गई पावन,
युग युग से अवगुण्ठित गृहिणी सहती पशु के बन्धन ।
—नारी : युगवाणी : पृष्ठ ५८-५९

१. वही : वही : पृष्ठ ५८

२. वही : वही : पृष्ठ ५१

३. वह इन्सान नहीं इन्सान
पशु से भी बदतर है
जिसने मातृत्व किया पद-मर्दित
नारीत्व किया अपमानित
निर्बल से खिलवाड़ ।
महेन्द्र भटनागर : दमित नारी : बदलता युग : पृष्ठ २१

४. तुममें सब गुण है-तोड़ो अपने भय कल्पित बन्धन

है तुममें बंदी आधा राष्ट्र हमारा,
पहले अपने रंगीन पाश तुम तोड़ो,
सुख-स्वप्नों के इस रूढ़ि-बद्ध जीवन की
मोहावृत दुर्बलता से अब मुख मोड़ो।
हो स्वयं मुक्त उस मानवता को देखो
जो तड़प रही है शोषण के बन्धन मे,
उन प्रगति-शक्तियों की विद्युत बन जाओ,
लग रहीं शृंखलाओं के जो खण्डन में।[१]

नारी का वर्ग-शोषित रूप

नारी के पुरुष वर्ग द्वारा शोषित रूप के अतिरिक्त प्रगतिशील कवि ने किसान, मजदूर, निम्न मध्यम वर्ग—आदि शोषित पीड़ित वर्गों की नारियों की दैन्य-जर्जर अवस्था के भी अनेकानेक चित्र अंकित किए हैं। इन चित्रों से यद्यपि सम्पूर्ण शोषित वर्ग की सामान्य दैन्य जर्जर अवस्था का ही बोध होता है, नारी वर्ग की ही किसी विशिष्टता की सूचना नहीं मिलती, लेकिन इनसे यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिशील कवि ने निम्न शोषित वर्ग की नारियों के प्रति विशेष सहानुभूति का भाव प्रकट किया है। पंतजी की 'ग्राम युवती' तथा सुमनजी की 'मुनिया का यौवन' शीर्षक कविताएँ कृषक नारी के जर्जर रूप की ही व्यञ्जना करती हैं। पन्तजी ने 'ग्राम युवती' के स्वरूप एवं आकर्षक यौवन का वर्णन करने के साथ ही जीवन की विषम परिस्थितियों के कारण उसके असमय ही ढह जाने का भी स्पष्ट वर्णन किया है :

रे दो दिन का उसका यौवन,
सपना छिन का रहता न स्मरण
दु:खों से पिस, दुर्दिन, में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन,
ढह जाता असमय यौवन-धन,

जड़ समाज के कर्दम से उठकर सरोज-सी ऊपर
अपने अन्तर के विकास से जीवन के दल दो भर।
—पन्त : कला के प्रति : ग्राम्या : पृष्ठ ८१

१. नवयुग और नारी : भूमि की अनुभूति : पृष्ठ २६-२७

वह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस खेला कुछ क्षण।[1]

सुमनजी की 'गुनिया का यौवन' शीर्षक कविता भी उक्त भाव-धारा पर ही आधारित है। वे भी पहले 'गुनिया' के स्वस्थ यौवन और उसकी चञ्चल नटखटता का वर्णन करते हैं और बाद में उसके असमय ही जर्जर हुए तन-यौवन का रेखांकन करते हैं। 'गुनिया' के इस जर्जर रूप की भी झलक दृष्टव्य है :

ढीला पीला अधखुला अंग, मुख पर चिट्टे, फैली झाईं
आँखे गड्ढों में धँसी और सिकुड़न-सी कहीं कहीं छाई।[2]

श्री केदारनाथ अग्रवाल ने भी 'रनिया' के रूप में एक खेतिहर मजदूर के अर्ध-नग्न भूखे रूप को प्रस्तुत किया है। रनिया का चित्र एक अमीर व्यक्ति के चित्र के समक्ष तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत होने के कारण वर्ग-वैषम्य के अन्तराल को भी मूर्त कर सकने में सक्षम हुआ है।[3] इसी प्रकार 'पंतजी' की 'वे आँखें' शीर्षक कविता में कृषक-गृहिणी का 'बिना दवा-दर्पन' के असमय ही स्वर्ग चले जाने[4] और अधिकारियों द्वारा 'विधवा' आदि पर होने वाले बलात्कार की जघन्य घटनाओं की ओर भी संकेत किया गया है :[5] अञ्चलजी ने भी कृषक-वर्ग की ही एक ऐसी शोषिता का चित्र अंकित किया है, जिसके

---

१. ग्राम्या : पृष्ठ १९
२. प्रलय-सृजन : पृष्ठ २७
३. रनिया अब तक जन्मान्तर से ज्यों की त्यों पूरी भूखी है।
मैं जन्मान्तर से वैसा ही ज्यों का त्यों पूरा खाता हूँ॥
रनिया बिलकुल वही वही है चिरकुट ही चिरकुट पहने है।
मैं भी बिलकुल वही वही हूँ रेशम ही रेशम पहने हूँ॥
रनिया मेरी दुखी बहन है, वह निदाघ में मुरझा रही है।
मैं रनिया का सुखी बन्धु हूँ चिर बसन्त में विहँस रहा हूँ॥
युग की गंगा : पृष्ठ
४. *बिना दवा-दर्पन के गृहिणी स्वरग चली,—आँखें आतीं भर, —ग्राम्या : पृष्ठ*
५. घर में विधवा रही पतोहू लछमी थी, यद्यपि पति घातिनि
पकड़ मंगाया कोतवाल ने डूब कुएँ में मरी एक दिन।
—वही : पृष्ठ

पिया' तो पेट की आग बुझाने इसकी नगरी को छोड़कर चले गए और जिसके आमों-सी बौराती प्रखर जवानी' आयी थी लेकिन वह भी जमींदारों के भय के कहानी को छोड़कर चुपचाप ही चली गई।[१]

अंचलजी की 'दोपहर की बात' तथा 'वह मजदूर की अंधी लड़की' कविताओं में मजदूर वर्ग की नारी के कृश-कंकाल रूप को देखा जा सकता है। देखिए, मजदूर की अंधी लड़की का निम्न चित्र कितना वीभत्स और साथ ही कितना दयनीय रूप प्रस्तुत करता है।—

वह मजदूर की अंधी लड़की
खून जम गया जिसका काला काला
सड़ी प्राण घातक नमकीन हवा में
दृष्टिहीन दुर्गन्ध भरी वह
भूख गन्दगी नग्न गरीबी में।
कहीं नहीं मेहनत मजदूरी भी कर सकती
अन्धकार में पड़ी कब्र-सी आँखें
बासी रोटी बासी पानी
बीत रही धुंधली धुंधली जिन्दगानी।[२]

निम्न मध्यवर्ग की नारी भी अभाव, विवशता और कुंठाओं का ही जीवन व्यतीत करती है। डा० महेन्द्र भटनागर द्वारा अंकित निम्न तुलनात्मक चित्र मध्यवर्गीय नारी की विषम स्थिति की ही व्यंजना करता है :—

घोंसलों में मूक चिड़ियाँ
ले रहीं सुख से बसेरा
और हर अट्टालिका में

---

१. साँझ हुई पथ देख रही है कियका, मरे दुखों की गगरी
कहीं पेट की आग बुझाने गये पिया तज इसकी नगरी,
बीते कितने वर्ष इसे यों पथ पर अपनी रैन बिछाते,
और खुली आँखों में अब तो कोई स्वप्न न आते।
इसको भी आयी थी आमों सी बौराती प्रखर जवानी
किन्तु गई चुपचाप जमींदारों के भय की छोड़ कहानी।
किरन-बेला : पृष्ठ ४८

२. किरन-बेला : पृष्ठ ८३

बज रहा मनहर सितारो, तानपूरा
पर टपकती रहा तने
नव प्रणय से एक मादक आह भरती है।[1]

यद्यपि भारतवर्ष में आज भी अनेक नारियाँ दासता के अन्धकूप में पड़ी हुई है और उनकी स्वाधीनता के लिए उनकी क्रान्ति-भावना को जागृत करने की आवश्यकता है, लेकिन यह भी एक तथ्य है कि नारी वर्ग का एक बड़ा समूह इस अन्धकूप से बाहर निकल आया है। पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति के सम्पर्क ने और परिवर्तित परिवेश में उद्भूत नवीन सामाजिक-आर्थिक शक्तियों ने उसे भी आज के प्रजातान्त्रिक, मानवतावादी एवं समाजवादी मूल्यों से परिचित करा दिया है। वह भी समानता और स्वतन्त्रता के अधिकारों को समझने लग गयी है और अपने स्वत्वाधिकारों की प्राप्ति-हेतु संघर्ष के लिए तत्पर हो उठी है। उसने विविध व्यवसायों में प्रवेश प्राप्त कर अपनी क्षमताओं का भी परिचय दिया है और आज वह भी अनेक उच्च पदों पर आसीन है। आजादी की लड़ाई के दिनों में भी उसने पुरुष-वर्ग के साथ कंधा से कंधा भिड़ाकर संघर्ष किया है। अनेक बार तो राष्ट्रीय आन्दोलनों में वह पुरुष-वर्ग को भी पीछे छोड़कर शौर्य और साहस के अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत कर सकी है। 'सविनय-आज्ञा-भंग' आन्दोलन के संदर्भ में लिखी गई पं० नेहरू की निम्न पंक्तियाँ इस तथ्य की साक्षी हैं: "उन दिनों बड़ी बड़ी आश्चर्यजनक बातें हुईं, मगर सबसे अधिक आश्चर्य की बात थी स्त्रियों का राष्ट्रीय-संग्राम में भाग लेना। स्त्रियाँ बड़ी तादाद में अपने घर के घेरों से बाहर निकल आयीं और हालांकि उन्हें सार्वजनिक कार्यों का अभ्यास न था फिर भी वे लड़ाई में पूरी तरह कूद पड़ीं। विदेशी कपड़े और शराब की दूकानों पर धरना देने का काम तो उन्होंने बिल्कुल अपना ही कर लिया। सभी शहरों में सिर्फ स्त्रियों के ही भारी भारी जुलूस निकाले गये और आमतौर पर स्त्रियाँ पुरुषों की बनिस्बत ज्यादा मजबूत साबित हुईं।"[2]

नारी का समता तथा क्रान्तिकारी रूप

अतएव यह नई नारी अब अबला मात्र नहीं रही, वह पशु-बल को चुनौती देने के लिए अपने पैरों पर खड़ी हो गई है। प्रगतिशील कवि ने 'नई नारी' के इस आत्म-निर्भर, आत्मविश्वास-संयुक्त सबला एवं क्रान्तिकारी रूप को भी पहचाना है।

---

१. मध्यवर्ग (चित्र एक) : जिजीविषा : पृष्ठ ३१
२. मेरी कहानी (हिन्दी अनुवाद : सातवाँ संस्करण) पृष्ठ : २३५

और उसकी सशक्त अभिव्यक्ति भी प्रस्तुत की है। श्री मिलिन्द की 'नवीना' शीर्षक कविता में नारी का यही विद्रोही सबला एवं जागृत रूप व्यक्त हुआ है। निम्न पंक्तियों में नारी का उक्त रूप देखिए :

> तुम युग युग के अवरुद्ध हृदय की विद्रोही वाणी-सी बन,
> हो फूट पड़ी सहसा, जग का है प्रतिध्वनित तुमसे कण-कण।
> कन्या, पत्नी-माँ के पद के सीमित गौरव ही में फूली –
> रहकर, तुम पीड़ित मानवता का आवाहन कब हो भूली ?
> तुम भी स्वातन्त्र्य – समर में हो प्राणों की बाजी रही लगा,
> हो पूर्ण सहचरी बनी पुरुष की आज साम्य का मंत्र जगा।
> उर की दरिद्रता ढँकने को ढोती आभूषण-भार नहीं,
> आवरण हृदय की कायरता के रखती हो हथियार नहीं।
> तुम एकाकिनी आज पशुबल को अभय चुनौती देती हो,
> इतिहास बदलने को जग का आत्माहुति का व्रत लेती हो।[1]

डा० महेन्द्र भटनागर ने भी नारी के इस क्रांति-रूप को वाणी प्रदान की है। अब तक जो नारी 'कीचड़ और धुएँ की संगिनी' थी, जो आँसू भरकर अपने और घोर विपद के दिन काट रही थी, जो सदा उपेक्षित रहा करती थी और संसार जिसे पशु-सा समझकर ठोकर मारा करता था, आज वही सविता सी भभक कर निकल पड़ी है।[2] अञ्चलजी ने भी, जोकि आज तक नारी को 'सिर्फ नारी' और 'प्रणय की खिलाड़िन' के रूप में पहचानते थे,[3] नारी के क्रान्ति-रूप को भी अंकित किया और और उसे 'मरघट की महा कराली' के रूप में देखा :

---

१. नवीना : नवयुग के गान : पृष्ठ ४५-४६

२. अबतक केवल बाल बिखेरे, कीचड़ और धुएँ की संगिनि
बन, आँखों में आँसू भरकर काटे घोर विपद के हैं दिन
सदा उपेक्षित, ठोकर-स्पर्शित पशु-सा समझा तुमको जग ने
आज भभक कर सविता– सी तुम निकली हो बनकर अभिशापिन।
नारी : अभियान : पृष्ठ ४०

३. किन्तु नारी, सिर्फ नारी हो– तुम्हें मैं जानता हूँ
" तुम प्रलय की हो खिलाड़िन मैं तुम्हें पहचानता हूँ।
नारी : लाल चूनर : पृष्ठ २४

सब कुछ चमक उठते हैं और वायुमंडल महक उठता है। फिर त्वरित गति से च चलकर पार्टी-कैम्प तक जाकर अपनी क्रम-संख्या पूछ आती हैं और तत्पश्चा पोलिंग बूथ की ओर आगे बढ़ती हैं। उधर से वोट डालकर आते हुए एक अधे की उंगली की जड़ में लगा हुआ काला ताजा निशान देखकर वे चौंक उठें उनके पैर ठमक गए। उनका 'परिमार्जित रुचि-बोध, भड़क उठा कि अरे इत सुंदर हाथ दागी हो जायेंगे। अतएव वे सोचने लगीं कि कौन लगाए काला निशान कौन ले बैलट पेपर और कौन मतदान करे। और सहसा वे कार स्टार्ट कर वापि चली जाती हैं। लोग हँसने लगते हैं —

> बात थी जरा-सी बस काले निशान की
> तीन वोट रह गये फैशन के नाम पर।[1]

इस प्रकार कवि ने इस लघु घटना-सृष्टि के द्वारा आधुनिक तितलीरूप नारियों की उत्तरदायित्वहीनता पर तीखा व्यग्य किया है।

नारी का आदर्श रूप

प्रगतिशील कवि ने नारी का आदर्श रूप किसान और मजदूर-नारी में ही माना है। पन्तजी की 'ग्राम-नारी' तथा, 'मजदूरनी के प्रति' शीर्षक कविताओं में नारी के आदर्श रूप की ही सृष्टि हुई है। उनकी 'ग्राम-नारी' कर्म निष्ठ, हृष्ट पुष्ट और नर की जीवन-सहचरी है। वह द्वन्द ग्रन्थि से मुक्त प्राकृत मानवी है और उसके हृदय में कृत्रिम रति की आकुलता नहीं है। यद्यपि वह दैन्य और अविद्या के तम से पीड़ित है, लेकिन स्नेह, शील, सेवा और ममता की मधुर मूर्ति उसी में साकार हुई है। निम्न पंक्तियों में इस ग्राम-नारी का आदर्श मानवी रूप देखिए:

> उसमें यत्नों से रक्षित, वैभव से पोषित
> सौन्दर्य मधुरिमा नहीं, न शोभा सौकुमार्य,
> वह नही स्वप्नशायिनी प्रेयसी ही परिचित,
> वह नर की सहधर्मिणी, सदा प्रिय जिसे कार्य।
> पिक चातक की मादक पुकार से उसका मन
> हो उठता नही प्रणय-स्मृतियों से आंदोलित,
> चिर क्षुधा शीत की चीत्कारें, दुख का क्रन्दन
> जीवन के पथ से उसे नहीं करते विचलित :
> है मांस-पेशियों में उसके दृढ़ कोमलता,

---

[1] सतरंगे पंखवाली : पृष्ठ ३४-३५

संयोग अवयवों में, अश्लथ उसके उरोज
कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता
उद्दीप्त न करता उसे भाव-कल्पित मनोज।
वह स्नेह, शील, सेवा, ममता की मधुर मूर्ति
यद्यपि चिर दैन्य, अविद्या के तम से पीड़ित,
कर रही मानवी के अभाव की आज पूर्ति
अग्रजा नागरी की,—यह ग्राम-वधू निश्चित।[1]

इसी प्रकार मजदूरनी का भी कवि ने एक आदर्श नारी के रूप में ही चित्रांकन किया है। वह जग-जीवन के काम-काज में सहज भाव से हाथ बटाती है और काम-लाज तो उसे छुती भी नहीं है। उसके शरीर से आतप के समान यौवन का स्वास्थ्य झलकता है और अपने बंधनों को खोकर उसने स्वतंत्रता अर्जित करली है। कवि के मतानुसार, वह मात्र स्त्री नहीं है, वरन निश्चित रूप से ऐसी मानवी बन गई है जिसके प्रिय अंगों को छूकर अनिलातप भी पुलकित हो जाते हैं।[2]

नारी के सौन्दर्य-चित्र

प्रगतिशील कवि की दृष्टि नारी के बाह्य रूप-सौन्दर्य की ओर बहुत कम गई हैं। नये युग की यथार्थ-दृष्टि ने कामिनी की सूरत को उसके मन से हटा दिया है।[3] लेकिन फिर भी युग-यथार्थ को व्यञ्जित करने के सन्दर्भ में ही उसने नारी के सौन्दर्य को भी रेखा-बद्ध कर दिया है। पन्तजी की 'ग्राम-युवती' और 'मजदूरनी के प्रति' तथा सुमनजी की 'गुनिया का यौवन' शीर्षक कविता में नारी-सौन्दर्य का रेखांकन युग-यथार्थ की पृष्ठभूमि में ही हुआ है। पन्तजी की 'ग्राम-युवती' का सौन्दर्य तो कहीं कहीं अत्यधिक उत्तेजक रूप में भी प्रस्तुत हुआ है[4] जिसे कि सुधी

---

१. ग्राम-नारी : ग्राम्या : पृष्ठ २०-२१

२. मजदूरनी के प्रति : वही : पृष्ठ ८४

३. पौ फटती फटती यवनिका मोह माया यामिनी की
फटी मेरी राह, मन से हटी सूरत कामिनी की।
—नरेन्द्र शर्मा : एक नारी के प्रति : मिट्टी और फूल . पृष्ठ ११४

४. खोंसती उडहुली वह बरबस
चोली से उभर उभर कसमस
जल छलकाती, रस बरसाती
बलखाती वह घर को जाती। —ग्राम्या : पृष्ठ १८

महादेवी वर्मा ने 'रीतिकालीन नायिकाओं का आधुनिक संस्करण' भी कह दिया लेकिन वस्तुत: यह उत्तेजक सौन्दर्य ग्राम-नारी के आगामी जर्जर रूप को और संवेदनीय बनाने की दृष्टि से पृष्ठभूमि के रूप में ही प्रस्तुत हुआ है, पन्तजी इस ग्राम-नारी के प्राकृतिक सौन्दर्य-प्रसाधनों का भी मोहक चित्र अंकित कि है। उनकी ग्राम-नारी ने गुड़हल, छुई, कनेर, पाटल, हारसिंगार, मौल-सिरी, कुं कांस, अमलतास, आम् मौर, सहजन, पलास—आदि से ही अपने तन का शृंग किया है।[२] उनकी 'मजदूरनी' में भी एक स्वस्थ तथा आकर्षक लेकिन अनलंकृ स्वाभाविक सौन्दर्य की झांकी मिलती है :

> *सर से आँचल खिसका है, घूर भरा जूड़ा*
> *अधखुला वक्ष, – ढोती तुम सिर पर घर कूड़ा,*
> *हँसती बतलाती सहोदरा-सी जन-जन से*
> *यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन से।*[३]

सुमनजी की 'गुनिया का यौवन' में गाँव की ग्वालिनियों का मादक रूप अंकित हुआ :

> चूनरी लाल, नीला लहँगा, बिखरे कुन्तल, सहमे उरोज
> किस चपल कन्हैया को उनकी कजरारी आँखें रहीं खोज
> गृह-पथ बृन्दावन बनता जब कानों तक तनते नयन-बाण
> बिरला ही होगा भाग्य-हीन मन विद्ध न जिसके मुग्ध प्राण।[४]

डा० रामविलास शर्मा ने कृषक-युवती के श्रम-रत सौन्दर्य की सहज मादकता का भी अंकन किया है। उनके ही शब्दों में खेत में काम करती हुई ग्राम-युवती का रूप देखिए :

---

१. महादेवी वर्मा का विवेचनात्मक गद्य : पृष्ठ २५१

२.
> कानों में गुड़हल खोंस,—धवल या छुई, कनेर, लोध पाटल,
> वह हरसिंगार के कच सँवार, मृदु मौलसिरी के गूँथ हार,
> गउओं संग करती वन-विहार, पिक चातक के संग दे पुकार,—
> वह कुंद, कांस से, अमलतास से, आम्र-मौर, सहजन, पलास से
> निर्जन में सज ऋतु-सिंगार।
>
> —ग्राम्या : पृष्ठ १८

३. वही : पृष्ठ १८

४. प्रलय-सृजन : पृष्ठ २५

माह–पूस में सुर सुर करती
जब ठंडी बयार यह बहती
बिखर गई धूल और निकाई
गालों पर लाली है छाई
ओस और पाले से धोये
फूलों से हैं अंक कपोये
बीच खेत में सहसा उठकर
खड़ी हुई वह युवती सुन्दर।[१]

इन चित्रों से प्रगतिशील कवि की दो विशेषताओं का उद्घाटन होता है, एक तो उसने निम्न वर्ग की नारियों के सौन्दर्य को ही विशेष रूप से बाँधा है, दूसरे, सौन्दर्य का रूपायन करते समय भी उसने मूलतः अपनी यथार्थ दृष्टि का ही परिचय दिया है। नारी के रूप को चित्रित करते समय उसने कल्पना के रंगों की अपेक्षा यथार्थ की रेखाओं से ही अधिक काम लिया है। इसलिए इन कतिपय चित्रों में भी स्वाभिकता की स्निग्ध सहजता और तरलता अपनी विशिष्टताओं को लिए हुए बँध सकी है, जो कि मानव-मन को आकर्षित करने की क्षमता रखती है।

---

१. कुहरे के बादल :

६

प्रेम–भावना का स्वरूप

तात्पर्य

वैसे तो, प्रेम एक अत्यन्त व्यापक शब्द है और इसके अन्तर्गत मनुष्य की अनेक सूक्ष्म भावनाओं का समावेश हो जाता है।[१] देश, प्रकृति, विश्व, मानवता, ईश्वर आदि चराचर और प्रत्यक्ष तथा परोक्ष तत्व इस व्यापक प्रेम-भावना के केन्द्र के रूप में स्थित हो सकते हैं। लेकिन इस 'प्रेम' अथवा 'प्रणय' की परिभाषा डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने इस प्रकार की है : "वयः प्राप्ति व संयोग सुखाभिलाषी स्त्री-पुरुष के रूप-जन्य पारस्परिक आकर्षण से अनायास उत्पन्न मादक भाव के नैसर्गिक प्रेम को 'प्रणय' कहते हैं।"[२]

काव्यगत पृष्ठभूमि

रीति काल की अतिऐहिक तथा विशुद्ध वासना मूलक प्रेम-प्रवृत्ति के विरोध में आधुनिक काल के द्विवेदी युग में प्रेम को सर्वथा नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया और उसके काम-मण्डित स्वरूप की घोर भर्त्सना की गई। द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'प्रेम' को 'काम' से भिन्न एक उच्च धरातल पर अवस्थित किया और 'कामी' को 'प्रेम' का नाम लेने का भी अधिकारी नहीं

---

1. "Love, affection, Kindness, tender regard, favour, predillection fondness" - Sir Monier-Williams : Sanskrit-English Dictionary : Second Edition (oxford, 1899) : Page 711.
२. आ० हि० क० में प्रेम और सौन्दर्य : पृष्ठ ११७

माना।[1] यद्यपि इस युग में शृंगार का पूर्ण बहिष्कार तो संभव न हो सका, परन्तु उसे संयम और नैतिकता की आदर्शमूलक दृढ़ धारणाओं में अवश्य ही बाँध दिया गया। डा० नगेन्द्र ने द्विवेदी युग की इस नैतिकता मूलक प्रवृत्ति का विवेचन करते हुए लिखा है : 'जीवन और काव्य की तरल रसिकता के विरुद्ध इसमें नैतिकता का आतंक रहा, परन्तु यह नैतिकता अत्यन्त स्थूल थी। .....शृंगार का सर्वथा बहिष्कार ही कैसे हो सकता था, परन्तु उसको संयत और मर्यादित करने के सभी स्वाभाविक-अस्वाभाविक प्रयत्न किए गए। फिर से शृंगार और विवाह के अनिवार्य संबंध पर जोर दिया गया। आर्य-समाज के प्रभाव-रूप केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही स्त्री का सहगमन आवश्यक ठहराया जाने लगा। सहस्रों वर्ष के अन्तराय की चिन्ता न कर बीसवीं शताब्दी को ज्यों का त्यों वैदिक युग के कल्पित आदर्श में परिणत करने का सुधार-मंचों से बड़े जोर से भजनों और उपदेशों के साथ प्रचार हुआ। इस अस्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम स्वरूप नैतिक संयम न होकर नैतिक दम्भ ही हुआ।"[2] छायावाद में अवश्य ही इस सुधारवादी बहिर्मुखी स्थूल दृष्टि के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, लेकिन *अन्ततः वह भी सामाजिक नैतिकता की कठोरता से आतंकित होकर* स्वच्छन्द प्रेम-भावना को अशरीरी, वायवी एवं प्रतीकात्मक रूप में ही व्यक्त कर सका। डा० शम्भूनाथसिंह ने इसी तथ्य को लक्षित कर लिखा है :" प्रेम इस युग में शारीरिक से अधिक आध्यात्मिक बन गया।"[3] इस सम्बन्ध में डा० इन्द्रनाथ मदान का भी यही कथन है : "छायावादी कविता में विद्रोह की भावना ने प्रेम को उन्मुक्त *एवं वैयक्तिक अभिव्यक्ति देने की प्रेरणा अवश्य दी है, परन्तु सामाजिक बन्धनों की कठोरता* के फलस्वरूप इसे प्रायः संकेतात्मक, प्रतीकात्मक तथा रहस्यात्मक वाणी मिली है।[4]

---

१. चुप, चुप कामी, चुप, नाम न लो प्रेम का,
अबला रहूँ मैं, किन्तु धर्म बलवन्त है।
तुम हो कृपाण-पंथी, प्रणय-पंथी नहीं,
प्रेमी तो पराजय भी भोगता है जय-सी।
सच्चा योग उसका वियोग में ही होता है,
मरके जिलाता वह, जीता नहीं मार के।
— सिद्धराज ' पृष्ठ ७२-७३

२. शृंगार रस : विशाल भारत : मई, १९४६ : पृष्ठ ३३४-३३६

३. छायावाद-युग : पृ० १२३

४. आ० क० का मूल्यांकन : पृष्ठ ३२-३३

प्रेम का प्रकृत रूप

प्रगतिशील कवि ने द्विवेदी युग तथा छायावाद की कविता की तुलना में प्रेम को अधिक सहज-स्वाभाविक तथा स्वस्थ भूमि पर ग्रहण किया है। उसने द्विवेदी युगीन कवि की भाँति न तो काम-भावना को हेय ही माना और न ही छायावादी कवि की भाँति अपनी काम-भावना को अशरीरी, अतीन्द्रिय तथा प्रतीकात्मक रूप देने का प्रयास किया। बाबू गुलाबराय ने छायावाद के प्रेम-गीतों से प्रगतिशील प्रेम-गीतों के पार्थक्य को स्थापित करते हुए इसलिए लिखा है : "छायावादी प्रेम गीतों में एक विशेष सूक्ष्मता, सांकेतिकता, साधना और आत्म-समर्पण की भावना है। प्रगतिवादी प्रेम गीत अधिक स्थूल, अपेक्षाकृत निरावरण और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना से मिश्रित रहते हैं।"[1] प्रगतिशील कवि ने तो 'क्षुधा-तृषा' और 'स्वप्न-जागरण' की भाँति काम-वासना को भी जीवन का एक नैसर्गिक तत्व माना है।[2] उसकी दृष्टि में यही 'कामेच्छा' 'प्रेमेच्छा' का मनुजोचित रूप ग्रहण कर लेती है।[3] अतएव वह नर-नारी के आकर्षण को स्वाभाविक मानता है और उसे स्वाभावक रूप से ही प्रत्यक्षतः व्यक्त करने का समर्थक है। इसके विपरीत, जो लोग इस स्वाभाविक आकर्षण को मन में लज्जित तथा जन से शंकित होकर चुपके चुपके प्रकट करते हैं, — उनकी वह भर्त्सना करता है :

> धिक् रे मनुष्य तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुंबन
> अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
> मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
> तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर,
> क्या गुह्य, क्षुद्र ही बना रहेगा, बुद्धिमान।
> नर नारी का स्वाभाविक स्वर्गिक आकर्षण ?
> क्या मिल न सकेंगे प्राणों से प्रेमार्त प्राण
> ज्यों मिलते सुरभि समीर, कुसुम-अलि, लहर-किरण ?[4]

वह जब यह देखता है कि प्रत्येक पदार्थ, पशु-पक्षी — आदि उन्मुक्त होकर अपने प्रेम की निर्भीक व्यञ्जना करते हैं, तो फिर मनुष्य ही प्रेम को छिपाने का प्रयास क्यों करें ? अतएव उसका स्पष्ट कथन है :

---

१. काव्य के रूप (चतुर्थ संस्करण) : पृष्ठ १४६–५०

२. क्या क्षुधा-तृषा और स्वप्न-जागरण सा सुन्दर
हैं नहीं काम भी नैसर्गिक, जीवन-द्योतक ?
— पन्त : द्वन्द्व-प्रणय : ग्राम्या : पृष्ठ ८६

३. कामेच्छा प्रेमेच्छा बनकर
हो जाती मनुजोचित। — वही : नारी : युगवाणी : पृष्ठ १९

४. पन्त : द्वन्द्व-प्रणय : ग्राम्या : पृष्ठ ८६

आज बसन्त विकास-हास है उपवन हैं सरसीले,
फुल्ल आम की डाल और वन सरसों से हैं पीले,
जब कि प्रेम के पागल कोकिल गीत प्रेम के गाते
तब क्यों मैं ही प्रेम छिपाऊँ ?
जिन कलियों ने प्रेम छिपाया, वे झूठी कहलाईं,
जिन नदियों ने स्नेह छिपाया, वे सूखी अकुलाईं,
जिन आंखों ने प्रीत छिपाई, वे रोईं पछताईं,
तब क्यों मैं ही प्रेम छिपाऊँ ?[1]

प्रेम, मनोविश्लेषण और समाजवादी दृष्टि:

प्रगतिशील कवि की उक्त दृष्टि निश्चय ही फ्रायड के मनोविश्लेषण से प्रभावित है। फ्रायड ने 'काम' (लिबिडो) को ही जीवन की मूल वृत्ति माना है। उसके अनुसार हमारे जीवन की व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियायें काम-तत्व से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध रहती हैं। प्रायः सामाजिक नैतिक दबाव के कारण हमारे चेतन मन की इच्छायें कुंठित और दमित होकर अचेतन मन में चली जाती हैं फिर स्वप्न, कला काव्य आदि का छद्म रूप धारण कर अभिव्यक्त होती रहती हैं। डा० नगेन्द्र का यह मत है कि फ्रायड के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही — . काम की छद्म चेतना और छद्म अभिव्यक्तियों की असलियत खुल गई। प्रकृति पर प्रणय-रस का आरोप अथवा परोक्ष के प्रति प्रणय-निवेदन अथवा अतीन्द्रिय प्रेम में आस्था कम हो गई और काम को भौतिक स्तर पर स्वीकृति मिली। मन की छलनाएँ कम हुईं और वास्तविकता को स्वीकार करने का आग्रह बढ़ा।[2] प्रगतिशील कवि ने यद्यपि फ्रायड के दर्शन को सर्वांश में स्वीकार नहीं किया और न 'काम' को ही सर्वप्रमुख स्थान दिया, लेकिन यह एक तथ्य है कि वह उसके प्रभाव से सर्वथा बच भी नहीं सका है। उसने फ्रायड से ही प्रभावित होकर 'काम' को निस्संकोच स्वरों में स्वीकृति प्रदान की और उसे अतीन्द्रिय रूप देकर अथवा उस पर प्रकृति का आरोपण कर छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। यहां इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि काम को स्वीकृति प्रदान कर प्रेम की प्रकृत अभिव्यक्ति प्रस्तुत करना एक बात है और प्रेम के नाम पर अश्लील, स्वेच्छाचारितापूर्ण तथा उत्तेजक स्थूल शृंगार चित्रों को प्रस्तुत करना-दूसरी बात है। दोनों की अलग अलग भूमिकाएँ

---

१. नेपाली : नीड़ के पाटल : पृष्ठ ५
२. देखिए : 'फ्रायड और हिन्दी साहित्य' शीर्षक डा० नगेन्द्र का लेख 'साहित्यिक निबन्ध' (लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर) में संकलित : पृष्ठ ९३

हैं–और दोनों को एक समझ लेने से–एक गहन क्रांति पैदा हो सकती है। प्रग
कवि ने 'काम' के प्रकृत रूप को स्वीकृति प्रदान की, लेकिन प्रेम के स्वेच्छा
अश्लील, उत्तेजक रूप का विरोध ही किया है। यद्यपि 'अंचल' जैसे कतिपय क
ने शृंगार के उत्तेजक स्थूल चित्रों को भी प्रस्तुत किया है[1] और इसी से इस
को भी पोषण मिला है, कि प्रगतिशील कविता ने प्रेम के क्षेत्र में अश्लीलत
स्वेच्छाचारिता को प्रश्रय दिया है।[2] लेकिन प्रगतिशील कविता का समग्रत: अध्ययन
पर उसकी भाव-चेतना को अखण्ड रूप में देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रगति
कविता में एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में यह कभी अपना दृढ़ आधार स्था
नहीं कर सकी। विभिन्न स्वस्थ-अस्वस्थ प्रभावों के कारण अवश्य ही
कहीं इसका दर्शन हो जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो प्रगतिशील कवि ने प्रे
इस उच्छृंखल एवं स्वेच्छाचारी रूप का विरोध किया ही है। इस संबंध में उ
दृष्टिकोण लेनिन द्वारा क्लारा जेतकिन' को लिखे गए पत्र में वर्णित सिद्धान्त
मिलता-जुलता है। लेनिन ने' क्लारा जेतकिन को लिखा था: तुम्हें वह प्रसि
अपसिद्धान्त मालूम ही होगा कि कम्युनिस्ट समाज में यौनवासना की तृप्ति...उ

१. इस संदर्भ में अंचलजी का निम्न चित्र द्रष्टव्य है :

> खोल दिया अवगुंठन मेरा जब तब लाज कहाँ थी,
> दरस-परस के बाद अभी तो सारा सुख है बाकी।
> भ्रमित मृगी-सी भटक रही मैं तृषा-दग्ध चाहों में,
> अब तो कस लो दृढ़, मुझे अपनी गोरी बाँहों में।
> मिलन-रात्रि का चुम्बन अमर अनल जगादो उर में,
> कुछ क्रीड़ा बेहोशी भरदो सूने सूने उर में।
> भरी साँस, रजनी का कोई शुभक्षण थमे न आवे,
> आज लुटी बैठी हूँ तुम पर सब निर्माल्य चढ़ाये।
> गगन,पवन,अवनी,दिशि-दिशि में यही शब्द भर दूँगी,
> आओ, मुझ में लय हो जाओ, तुम्हें न जाने दूँगी।
>
> –तुम्हें न जाने दूँगी : किरण-वेला : पृष्ठ ९५

२. ... आज का प्रगतिवादी या तो विषयान्तर में अभी भी कुण्ठा का शिकार है, अर्थात् उसकी भावना मन की ग्रंथि को छोड़ मनुष्यत्व के क्षेत्र में [illegible] है, या फिर वह वासना के [illegible] अतिरंजित [illegible] चित्र उपस्थित कर रहा है।
–डा० नगेन्द्र . शृंगार रस : विशाल भारत, मई १९४६ : पृष्ठ ३११

ही सीधा सादा और मामूली काम है, जितना कि एक गिलास पानी पी लेना। इस 'पानी के गिलास' के सिद्धान्त ने हमारे युवक-युवतियों को बिल्कुल सनकी बना दिया है। यह सिद्धान्त अपने जवान लड़कों और लड़कियों के विनाश का कारण बना है। जो लोग इसका समर्थन करते हैं वे अपने आपको मार्क्सवादी कहते हैं। उनका धन्यवाद, किन्तु मार्क्सवादी यह नहीं है। ये बातें उतनी (पानी के गिलास जितनी) एकदम सरल नहीं हैं। यौन-जीवन में जो कुछ वस्तु पूर्ण होती है, वह सब की सब, केवल प्राकृतिक ही नहीं होती, अपितु कुछ वस्तु ऐसी भी हमने संस्कृति द्वारा अधिगत किया है, भले ही वह कितनी ही उच्च या निम्न क्यों न हो। यह ठीक है कि प्यास अवश्य बुझाई जानी चाहिए, पर क्या कोई ऐसा सामान्य व्यक्ति होगा जो सामान्य परिस्थितियों में कीचड़ में लोटने लगे और छोटे से जोहड़ में से पानी पीने लगे? या फिर ऐसे गिलास में पानी पिए, जिसके किनारे लोगों के होठों को छू-छूकर चीकट हो गए हों? और सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य इस समस्या का सामाजिक पहलू है। पानी पीना एक वैयक्तिक कार्य है दूसरी ओर, प्रेम में दो व्यक्ति पक्ष होते हैं। और तीसरा, एक नया जीवन और प्रकट हो सकता है यही वह बिन्दु है, यह तथ्य कि जहाँ पहुँच कर समाज के हितों का सम्बन्ध उपस्थित होता है। समाज के प्रति भी कुछ कर्तव्य है। क्रान्ति के लिए जनता और व्यक्ति, दोनों से एकाग्रता की और शक्ति बढ़ाने की अपेक्षा है। वह ऐसी स्वच्छन्दताओं को सहन नहीं कर सकती, जो नायकों और नायिकाओं के लिए साधारण हो सकती है। यौन-उच्छृंखलता बुर्जुआ जगत की वस्तु है। यह क्षीणता का प्रमाण है। परन्तु श्रमिक वर्ग तो उन्नति की ओर बढ़ता हुआ वर्ग है। उसे नींद लाने के लिए या उत्तेजना पाने के लिए मादक वस्तु की कोई आवश्यकता नहीं है। आत्म-संयम, आत्म-अनुशासन दासता नहीं है। नहीं, प्रेम में भी आत्म संयम दासता नहीं कहा जा सकता।[1] लेकिन का यह लम्बा उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि समाजवादी दृष्टि में प्रेम के स्वेच्छाचारी रूप को हेय ही माना गया है। और यह समाजवादी दृष्टि ही तो प्रगतिशील कविता का मूल प्रेरणा-स्रोत है।

प्रेम और जीवन-संघर्ष

हमारी समाजवादी दृष्टि के परिणामस्वरूप प्रगतिशील कविता में प्रेम का आंशिक रूप

---

1. डा० राधाकृष्णन कृत 'धर्म और समाज' (हि० अ०, हि० सं०) पृष्ठ २१२—१३ से उद्धृत

की अपेक्षा गौण-स्थान प्रदान किया है। छायावादी कवि तो प्रेम और सौन्दर्य के लोक में ही आसन्न रहता था। वह 'कोलाहल की अवनी' को छोड़कर ऐसे 'निर्जन' में जाने के लिए अत्यधिक लालायित रहता था, जहां 'सागर की लहरें' अम्बर के कानों में 'निश्छल प्रेम-कथा कहती रहती हों।'[१] वह अपने प्रिय के विरह में अत्यधिक उच्छ्वासित भी हो उठता था। उसके हृदय में शीतल ज्वाला जलने लग जाती थी, 'दृग-जल' ही ईंधन बन जाता था और 'सांसें भी व्यर्थ चल चलकर 'अनिल' का काम करने लग जाती थीं।'[२] प्रगतिशील कवि ने ऐसे प्रेम को उपहास की दृष्टि से ही देखा है। वह वर्तमान जीवन-संघर्षकाल में प्रिय-विरह के दुःख की अपेक्षा अन्य दुःखों को अधिक वास्तविक और बोझिल मानता है। अतएव वह अपने ऐसे विरही युवा-मित्रों को संबोधित करके कहता है :

> मेरे विरही युवा मित्रवर
> तुम जिस दुख से परेशान हो
> यह सचमुच है दुःख नहीं कोई जीवन में
> असली दुख है और बहुत से
> तुम जिसको हो समझ रहे भारी पहाड़-सा
> वह तो कागज-सा हल्का है
> आज दे रहे हो जिसको इतना महत्व तुम
> वह कल ही फीका मजाक बन रह जायगा
> क्यों दुहराई बात रोज़ की
>
> \+ \+ \+
>
> आज नहीं मानोगे तुम मेरी बातों को
> नीरस सीख कहोगे जिनको

---

१. जिस निर्जन में सागर-लहरी अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे,
ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे।
—प्रसाद : लहर : पृष्ठ १४

२. शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग-जल का
यह व्यर्थ सांस चल चल कर करती है काम अनिल का
—प्रसाद : आंसू (षष्ठम संस्करण) : पृष्ठ १०

पर अपनी खिल्ली कल तुम्ही उड़ाओगे
जब दैनिक जीवन की भट्टी मे
गल जाएगे खोटे सिक्के सारे मन के
तब जानोगे इन आदर्शों की सच्चाई ।[१]

प्रेम का वर्ग-रूप

प्रगतिशील कवि प्रेम के वर्ग-रूप से भी भलीभांति परिचित है। उच्च वर्ग के व्यक्तियों का प्रेम जीवन-यथार्थ के समस्त सघर्षों की कटुताओं से परे एकान्तिक तथा अपने मूल स्वरूप में अभिनयात्मक होता है। उनके पास पैतृक-सम्पत्ति का ही अटूट भण्डार रहता है और इसलिए उदर-निर्वाह की चिन्ता से मुक्त रह कर वे सहज ही प्रेम के स्वप्निल जगत मे उन्मुक्त होकर विचरण कर सकते हैं। श्री त्रिलोचन ने उच्च वर्ग के इस प्रेमाभिनय पर तीव्र व्यग्य किया है। इससे सम्बन्धित उनके एक सानेट की निम्न पक्तियाँ दृष्टव्य हैं :

हँसता है अकाल तारो के दाँत निकाले।
मन किसान का मेरा चैन नही पाता है।
'हरे कुंज मे आना'-बार बार गाता है
नगर-निवासी प्रेमी, पड़ा नही पाले
चिन्ताओं के। जब तक साँस बाप-दादो की
चलती है, तब तक उसको क्या करना-धरना
हैं, क्यों मौज न करे: विरह में आहें भरना,
हाथ कलेजे पर रखना, मन मे यादो की
माला जपते रहना। खेतो की हरियाली
रहे न रहे' उसे क्या। उसका खाना-पीना
चल जाता है, फिर क्या। उसको कभी पसीना
नहीं गिराना पड़ा, बासुरी बजी निराली।[२]

---

१. श्री माथुर : प्रौढ़ रोमांस, धूप के धान : पृष्ठ २२-२३
२. हँसता है अकाल : हंस : फरवरी, १९५२ : पृष्ठ २९

श्री नागार्जुन ने भी प्रेम की इस वर्ग-भूमिका को स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि में भी अवकाशभोगी वर्ग ही शृंगार और वासना की 'रुपहली बांसुरी' में फूंक भरने का अवसर पा सकता है। जन-साधारण तो उदर-निर्वाह की चिन्ता में ही डूबा रहता है। प्रगतिशील कवि भी इस जन-साधारण वर्ग का ही प्राणी है। इसलिए प्रेम और शृंगार के सम्बन्ध में श्री नागार्जुन की अन्तर्व्यथा इन शब्दों में व्यक्त हुई है :

> बन्धु, मेरे पास भी यदि
> बाप-दादों की उपार्जित भूमि होती
> धान होता बखारों में
> आम कटहल लीचियों के बाग होते
> पोखरा होता मछलियों से भरा
> फिर क्या न मैं भी
> याद कर प्रथमा, द्वितीया या तृतीया (प्रेयसी) को
> सात छेदों की रुपहली बांसुरी में फूंक भरता
> वैष्णवों की विरहिणी वृषभानुजा के नाम पर ही सही
> फिर भी फूंक भरता.......
>
> \+ \+ \+
>
> किन्तु यह सब,
> असम्भव था यहां मेरे हेतु
> इसी से तो भाग आता इधर ही हे मित्र बारम्बार
> कलम घिस कर कमा लेता रोज पैसे चार
> —इस तरह के और भी हैं लोग।[1]

प्रगतिशील कवि, इसीलिए 'तुच्छ से अति तुच्छ जन की जीवनी' पर 'कहानी, काव्य, रूपक, गीत'—आदि लिखना अपना प्राथमिक कर्तव्य मानता है, क्योंकि उसे उनकी तुच्छता का भेद मालूम है, उस पर भी गोष्ठ गरीबी की मार पड़ी है और उसे

[1] नागार्जुन : एक मित्र को पत्र : हंस : अगस्त, १९४० : पृष्ठ ७९५

भी सुविधा-प्राप्त लोगों ने सदा "भू-भार" ही समझा है।[1] आगे इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर प्रगतिशील कवि 'पथ के मेल जोल' को ही अच्छा समझता है, अधिक परिचय बढ़ाना उचित नहीं मानता, क्योंकि उसे इतना अवकाश कहां है कि वह 'स्मिति-आंसू का विनिमय' करता रहे।[2]

प्रेम का स्वस्थ व प्रेरक रूप

यद्यपि प्रगतिशील कवि ने प्रेम के उस रूप का तिरस्कार किया है जो कि *केवल विरह में आहें भरना सिखाता है और जीवन-वास्तव के संघर्ष से दूर* कर मात्र 'स्मिति-आसू का विनिमय' करने की प्रेरणा देता हैं, लेकिन प्रेम का एक दूसरा रूप भी है, जो कि मनुष्य को जीवन-संघर्ष में प्रेरणा देता है और उसके मनोबल को टूटने नहीं देता है। प्रगतिशील कवि ने प्रेम के इसी दूसरे स्वस्थ रूप को वाणी प्रदान की है। डा० रांगेय राघव ने तो प्रेम के इस दूसरे रूप को वाणी प्रदान करना कवि-कर्म की पूर्णता के लिए आवश्यक भी माना है। उनका मत है:" .... उसका विरोध करना भी ठीक है जब कि प्रेम को पलायन के रूप में लिया जाये। किन्तु प्रेम जीवन को प्रेरणा भी देता है और उस रूप को न देखना भी एक अपूर्णता का प्रति-बिम्ब है।"[3] अतएव प्रगतिशील कवि ने प्रेम और संघर्ष-दोनों को विराट जीवन के एक अंग के रूप में ग्रहण किया है। नारी का प्रेम उसे 'कोलाहल की अवनी' से पलायन की प्रेरणा नहीं देता, वरन उसे जगत-जीवन का प्रेमी बनाता है, उसकी दुर्बलता को हरकर कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए नया उत्साह और बल प्रदान करता

---

१. तुच्छ से अति तुच्छ जन की जीवनी पर हम लिखा करते
कहानी, काव्य, रूपक, गीत
क्योंकि हमको स्वयं ही तो तुच्छता का भेद है मालूम
कि हम पर सीधे पड़ी हैं गरीबी की मार :
सुविधा प्राप्त लोगों ने सदा समझा हमें भू-भार।
—वही : पृष्ठ ७९८

२. पथ का मेल जोल अच्छा है, बुरा बढ़ाना परिचय
यहां किसे अवकाश करे जो स्मिति-आंसू का विनिमय।
—सुमन : आत्मनिर्भर : प्रलय-सृजन : पृष्ठ १७

३. डा० रांगेय राघव : समीक्षा और आदर्श : पृष्ठ ६१

है।[1] नारी की मोहक मुस्कान भी उसे केवल परिरंभन का आमन्त्रण नहीं देती-उससे तो उसे "जीवन का उत्साह" प्राप्त होता है।[2] जब जब वह जीवन संघर्ष में हार कर आत्म हारा-सा हो जाता है नारी का प्यार उसे चेतना-तीर मारकर फिर संघर्ष के लिए प्रेरित करता है।[3] नारी के प्रेम के इस प्रेरक स्वरूप के कारण ही वह उसे संघर्ष करते हुए भी याद करता है-उसे भूलता नहीं है। उसे जितना अभिमान 'कर्म के पथ की अमरता का' है, नारी की प्रीति के वरदान को भी वह उससे कम नहीं मानता। प्रगतिशील कवि के प्रेम का यह रूप अंचल जी की निम्न पंक्तियों में सशक्त और प्रभावशील अभिव्यक्ति पा गया है।

> कर्म के पथ की अमरता का बड़ा अभिमान मुझको
> है न उससे कम तुम्हारी प्रीति का वरदान मुझको
> सामने में आँधियाँ हैं, तिमिर—पारावार भी है
> मैं तुम्हें 'भूला नहीं'-शमशीर की यह धार भी है
> पास बन्दि के और वेदी के तुम्हारी सुधि रहेगी
> मृत्यु के संग्राम में जो द्वन्द्व की दुविधा सहेगी
> साथ है—मैदान है—अभियान की गति है पगों में
> है न वाणी में शिथिलता—है न उकताहट रगों में
> मैं निरन्तर लड़ रहा हूँ पर तुम्हारी याद करता।[4]

प्रगतिशील कवि तो प्यार को भी अपने स्वार्थ की संकीर्ण परिधि से

---

१. मुझे जगत जीवन का प्रेमी बना रहा है प्यार तुम्हारा
   मेरी दुर्बलता को हरकर, नयी शक्ति, नव साहस भरकर
   तुमने फिर उत्साह दिलाया, कर्म क्षेत्र में बढ़ूँ सँभलकर
   तब से मैं अविरत बढ़ता हूँ, बल देता है प्यार तुम्हारा।
   —त्रिलोचन : धरती : पृष्ठ १.

२. मुझे तुम्हारी मुसकानों से जीवन का उत्साह मिला है।—वही : वही : पृ० ४०

३. भूली प्रणय-पीर रोना नयन नीर
   संघर्ष बनता गया द्रौपदी-चीर
   जब हार कर बन गया आत्म-हारा
   तुमने मुझे चेतना-तीर मारा।
   —डा० शम्भूनाथ सिंह : रूप रश्मि : दिवालोक : पृष्ठ ५०

४. "मैं निरन्तर लड़ रहा हूँ..." : हंस : नवम्बर, १९४६ : पृष्ठ १५३

ऊँचा उठाना चाहता है। वह ऐसे प्यार का आकांक्षी है जिसमें कि सारी दुनियाँ के दुःख-दर्द की तड़पन हो। इसीलिए वह कहता हैं :

> चाहिए मुझको तुम्हारा प्यार ऐसा
> जो कि दुनिया के लिए आंसू बहाए।[१]

प्रेम का आदर्श रूप :

प्रगतिशील कवि ने यद्यपि प्रेम के मूल में निहित 'काम' या 'वासना' तत्व को अस्वीकारा नहीं है, लेकिन साथ ही छाया काव्य से एक सीमा तक प्रभावित होकर उसने उसके प्लेटोनिक आदर्शवादी रूप को भी प्रस्तुत किया है। आदर्शवादी धारणाओं से प्रभावित होकर ही उसने 'प्रीति' को 'काल' को भी बाँधने वाली शक्ति के रूप मे देखा[२] और 'निर्वासना-प्रेम' को ऐसा 'मसीहा' माना जो हार कर भी सब कुछ जीत लेता है।[३] इसी प्रकार, प्यार के क्षेत्र में उसने अपना सर्वस्व समर्पित कर देने की भावना को भी प्रदर्शित किया। जिस प्रकार, प्रसादजी ने प्रेम के पावन एवं निस्वार्थ स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कभी लिखा था :

> विनिमय प्राणों का वह कितना भय-संकुल व्यापार अरे,
> देना हो जितना दे दे तू, लेना, कोई यह न करे।[४]

उसी प्रकार, प्रगतिशील कविता के प्रतिनिधि कवि 'सुमनजी' को भी यह मान्यता है :

> जो अपने को ही दे डाले
> वह ही सच्चा दानी है।[५]

---

१. रांगेय राघव : परिचय : प्रगति—१ : पृष्ठ १२३

२. काल को ले बाँध यह है कौन ? यह है— प्रीत
—रांगेय राघव : तपोभूमि का आरम्भ : प्रगति—१ : पृष्ठ १३५

३. जो जीत ले सब हार कर
ऐसा मसीहा कौन है ?
वह प्रेम है, निर्वासना,
—वही : कौन है ? : वही : पृष्ठ १२६

४. स्वप्न सर्ग : कामायनी (एकादश संस्करण) : पृष्ठ १९०

५. आगे भी बन जाओगे : पर आँखें नहीं भरी : पृष्ठ ४७

प्रेम-अभिव्यंजना :

प्रगतिशील कवि ने अपनी प्रेम सम्बन्धी उक्त भावनाओं के साथ ही व्यावहारिक धरातल पर प्रेम की व्यंजना प्रस्तुत की है। जैसा कि हम देख चुके हैं, अंगारों के बीच रहते हुए भी वह प्रेम के प्रति प्रेमासक्त मन को भूला नहीं है। वह भी एक इन्सान है और उसके हृदय का भी एक कोना प्रेम की रस-धारा में सिक्त है। वह पत्थर के समान जड़ व अनुभूति विहीन नहीं हो गया है, इसलिए जब परिस्थितियाँ उसे 'घोर निर्जन' में डाल देती हैं तो उसे भी अपनी प्रिया का 'सिन्दूर तिलकित भाल' याद आता है :

घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल,
याद आता तुम्हारा सिन्दूर-तिलकित भाल,
कौन है वह व्यक्ति जिसको चाहिए न समाज ?
कौन है वह एक जिसको नहीं पड़ता दूसरे से काज ?
चाहिए किसको नहीं सहयोग ?
चाहिए किसको नहीं सहवास ?
कौन चाहेगा कि उसका शून्य में टकराय यह उच्छ्वास ?
हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण।[1]

अतएव प्रगतिशील कवि ने भी विरह-मिलन के अनेक प्रेमासक्त चित्र प्रस्तुत किए हैं। उसे भी 'किसी की झलमलाती सुछवि' सोने नहीं देती है[2] और अपनी प्रिया के अभाव में 'अगहन की ठण्डी रात' में उसका भी जीवन-शतदल मुरझा-सा जाता है :

संध्या से ही सूना सूना मन बेहद भारी है,
मुरझाया-सा जीवन-शतदल, कैसी लाचारी है,
है जाने कितनी दूर सुनहरा प्रात,
तुम नहीं, और अगहन की ठण्डी रात[3]

जब वर्षा के दिनों में 'झीनी झीनी बौछारें' खिड़की से बिखर पड़ती हैं

१. नागार्जुन : सिन्दूर तिलकित भाल : सतरंगे पंखों वाली : पृष्ठ ४६
२. महेन्द्र भटनागर : रूपा-शक्ति : संतरण : पृष्ठ ६९
वही : अगहन की रात : वही : पृष्ठ ७३

'किसी निठुर की याद' उसके दृगों में छा जाती है[१] और चाँदनी के छाने पर उसे भी अपना अकेलापन बहुत बहुत अखरने लगता है :

> आज तक पथ का अकेलापन कभी अखरा न इतना
> जागती आंखें सँजोती मधुर सपना
> लुट गई छिन में जनम भर की कमाई
> चाँदनी छाई, किसी की याद आई ।[२]

श्री केदारनाथ अग्रवालजी तो 'रात रात भर', 'दिन दिन भर', 'एक एक पल' और 'छिन छिन पर' अपनी प्रियतमा का साथ चाहते हैं[३] और अपनी प्यारी को लोचन भर भर कर देखना चाहते हैं :

> तुम आओ तो, रस से पूरित अंगूरी तन देखूँ,
> लाल गुलाब कपोलों के मैं रसमय चुम्बन देखूँ,
> मेरा भाग्य उठाती ऊपर लज्जित चितवन देखूँ,
> भर भर लोचन देखूँ प्यारी, भर भर लोचन देखूँ । [४]

श्री त्रिलोचन से तो 'अकेले रहा नहीं जाता ।' वे तो सुख–दुःख दोनों को अपने साथी के संग ही सहना चाहते हैं :

> सुख आये दुख आये
> दिन आये रात आये
> फूल में कि धूल में
> आये जैसे जब आये

---

१. खिड़की से भीनी झीनी बौछार बिखरती आई
अनायास ही किसी निठुर की याद दृगों में छाई
—सुमन : आज रात भर बरसे बादल, पर आंखें नही भरी : पृष्ठ २६

२. वही : चादनी छाई : वही : पृष्ठ ३३

३. रात रात भर औ दिन दिन भर
एक एक पल औ छिन छिन पर
तेरा ही तो साथ चाहिये ।
—केदार : नींद के बादल : पृष्ठ १३

४. वही : पृष्ठ ४

सुख दुख एक भी
अकेले सहा नहीं जाता ।[१]

प्रगतिशील कवि ने मिलन के भी अनेक मादक मधुर चित्रों को अंकित किया है। वह अपने मिलन-क्षणों में प्राकृतिक व्यापारों में भी अपने 'प्रिय' की ही उल्लासमयी छवि का दर्शन करता है।[२] वह जब अपने प्रियतम को देख लेता है, उसकी उमंग की धारा शत शत स्रोतों में फूट पड़ती है :

वह जाता लहरों में जीवन
रंग उठते किरनों से लोचन,
प्राणों को सिहरा देता है—
सुरभित साँसों का मलय पवन,
उर की डालें हिल जाती हैं
जब तुम्हें देख लेता हूँ मैं।[३]

वस्तुतः प्रगतिशील कवि में सौन्दर्य की अगाध प्यास है। वह बार बार अपने प्रिय के सौन्दर्य को निरखता है, पर उसकी आंखें भरती ही नहीं :

सीमित उर में चिर असीम सौन्दर्य समा न सका
बीन-मुग्ध-बेसुध-कुरंग-मन रोके नहीं रुका
यों तो कई बार पी पीकर जी भर गया छका
एक बूँद थी किन्तु कि-जिसकी तृष्णा नहीं मरी,
कितनी बार तुम्हें देखा, पर आँखें नहीं भरी।[४]

प्रेम और रूपासक्ति के ये चित्र यह स्पष्ट करते हैं कि प्रगतिशील कवि ने 'स्वच्छंद प्रेम-भावना' को भी सहज-सरस वाणी प्रदान की है। लेकिन यह तथ्य दृष्टव्य है कि इस स्वच्छंद प्रेम-भावना को व्यक्त करते समय भी उसने न तो अति

---

१. त्रिलोचन : आज मैं अकेला हूँ : धरती : पृष्ठ ४९-५०
२. विश्व-मंच पर दिग्वधुओं ने हेम-हास फैलाया,
थिरक थिरक कर ऊषा ने छवि-नृत्य अभंग दिखाया।
रूप-राशि का जब शुभ दर्शन सकल सृष्टि ने पाया,
एक तुम्हारा ही तो दर्शन उस क्षण मैंने पाया।
—केदार : नींद के बादल : पृष्ठ ७
३. शम्भुनाथसिंह : छवि-दर्शन : दिवालोक : पृष्ठ ३३
४. सुमन : पर आँखें नहीं भरीं : पृष्ठ २३

विलासी नग्न रूप ही ग्रहण किया है—(कतिपय अपवादों को छोड़कर) और न वह यौन-कुंठाओं का ही शिकार हुआ है। डा० नामवरसिंह ने इस प्रवृत्ति का उचित ही मूल्यांकन किया है : "प्रगतिशील कवि जहा स्वच्छंद प्रेम का चित्रण करता है, वहा भी संयत और स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचय देता है।"[1]

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रगतिशील कवि ने प्रेम के व्यापक आयाम को संतुलित एवं सधी हुई रेखाओं के द्वारा व्यक्त किया है और उसे विराट जीवन के एक अंग के रूप में ही प्रस्तुत कर अपने स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय भी दिया है।

---

१. आ० सा० की प्रवृत्तियां : (नया संस्करण, १९६२) : पृष्ठ १०६

७

प्रकृति : रूप और रेखाएँ

काव्यगत पृष्ठभूमि

प्रकृति जन-जीवन के रागात्मक मानस को आदिकाल से ही झंकृत करती रही है। इसलिए वह सदैव ही श्रेष्ठ तथा सुन्दर कविता के लिए एक अनिवार्य विषय तथा उपकरण रही है। ससार के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य वेदों में प्रकृति की राशि राशि सौन्दर्य छवि की उल्लसित, मादक एवं आनन्द-विभोर छटा की उन्मुक्त अभिव्यक्ति हुई है। मन्त्र-सृष्टा ऋषि-कवि ने प्राकृतिक पदार्थों को देवता का रूप दिया और उन्हें विस्मय के साथ सम्मान की भावना से भी देखा। उसने प्राकृतिक पदार्थों में रहस्य-सत्ता का भी आभास पाया और राशि राशि सौन्दर्य को भी लहराते हुए देखा। ग्रीष्म, वर्षा, शरद, वसन्त आदि ऋतुओं के साथ ही ऊषा, सोम, मरुत, पृथ्वी, पर्जन्य, सविता, वरुण आदि को भी वैदिक कवि ने अनन्त सौन्दर्य की मूर्ति के रूप में साकार कर लिया है। ऊषा की तो ऋग्वेद में अत्यन्त भव्य रूप—सृष्टि हुई है। उदाहरण के लिए ऊषा के निम्न सौन्दर्य–आलोकित रूप को देखिए :

> उषो देव मर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सुनृता ईरयन्ती।
> था त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्य वर्णा पृथु पाजसोये ॥[1]

(अर्थात्, हे प्रकाशमयी उषा, तुम सोने के रथ पर चढ़कर अमरण धर्मा बनकर चमको। तुम्हारे उदय के समय पक्षिगण सुन्दर रसमय वाणी का उच्चारण करते हैं। सुन्दर शिक्षित प्रयुबल में सम्पन्न घोड़े सुवर्ण की सी आभा धारण करने वाली तुमको वहन करें।)

---

१. ऋग्वेद : ३।६१।२ : अर्थ "आ० हि० क० में परम्परा तथा प्रयोग"
ले० डा० गोपालदत्त सारस्वत : पृष्ठ ६४ से उद्धृत

सुश्री महादेवी वर्मा ने वेदों में *अंकित प्रकृति-वैभव के सम्बन्ध में ठीक ही* लिखा है : "प्रकृति के अस्त-व्यस्त सौन्दर्य में रूप-प्रतिष्ठा, बिखरे रूपों में गुण-प्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि में एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अन्त मे रहस्यानुभूति *का जैसा* क्रमबद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा।"[१] संस्कृत के प्राचीन कविगण वाल्मीकि, कालिदास, वाणभट्ट, भवभूति आदि के महत् काव्यो की गरिमा भी एक सीमा तक प्रकृति के प्रति ऋणी है।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल के पूर्व प्राकृतिक सौन्दर्य का बहुत कम रूप-चित्रण संभव हो सका है। वीरगाथा युग के कविगण अपने आश्रयदाता सामन्तों की शौर्य-गाथा गाने में ही लगे रहे और इसलिए *प्रकृति की सौन्दर्य-आभा की* ओर से बेखबर ही रहे। भक्तियुग के कवि की दृष्टि अपने आराध्य के रूप-रंग की ओर ही विशेष आकृष्ट रहती थी। फिर भी, उस युग के कवि ने उद्दीपन अथवा प्रतीकात्मक रूप में कहीं कही प्रकृति के अनूठे सौन्दर्य को रेखांकित किया है। तुलसी ने "पुष्प वाटिका" तथा 'चित्रकूट' के प्रसंग में प्रकृति का स्वतन्त्र एवं संश्लिष्ट रूप भी उपस्थित किया है। रीतियुग के कवि ने केवल परम्परा का ही अनुकरण किया और वह अपनी किसी स्वतंत्र मौलिक उद्भावना-शक्ति का कोई परिचय नहीं दे पाया। हां, सेनापति जैसे एकाध कवि ने अवश्य ही ऋतु-वर्णन का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है, लेकिन मूलतः उनमें भी उद्दीपन की झंकृति ही विद्यमान है। मोटे तौर पर प्राचीन हिन्दी कवि की प्राकृति-दृष्टि के सम्बन्ध में श्री विद्यानिवास मिश्र के इस *कथन को प्रामाणिक माना जा सकता है कि—"इनके लिए प्रकृति मात्र उद्दीपक* थी और उद्दीपन भी केवल शृंगार की।"[२]

आधुनिक हिन्दी काव्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का दर्शन तो भारतेन्दु युग से ही होने लग जाता है, *लेकिन उस युग के कवियों की दृष्टि मुख्यतः या तो* परम्परानुगत शृंगार-वर्णन में रमी रही या सामाजिक-राजनीतिक सुधारों की ओर केन्द्रित रही। प्रकृति के प्रति आसक्ति उस युग के कवियों में विशेष नहीं थी। हां, भारतेन्दु की 'गंगा-वर्णन' और 'यमुना-वर्णन' तथा प्रेमघन की 'जीर्ण जनपद अथवा दुर्दशा दत्तापुर' शीर्षक कतिपय रचनाओं में अवश्य ही प्राकृतिक सौन्दर्य की सरल

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य : पृष्ठ ११४

२. प्रकृति वर्णन : काव्य और परम्परा : रूपाम्बरा : पृष्ठ ३८६

और सरस झाँकियाँ मिल जाती हैं।[१]

प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति वास्तविक भाव चेतना का प्रथम स्फुरण द्विवेदी युगीन काव्यधारा में ही संभव हो सका। उस युग में श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी की रचनाओं में प्रकृति के प्रति अधिक स्वच्छंद तथा मोहासक्त दृष्टि दिखाई देती है। त्रिपाठी जी ने तो एक स्थल पर 'प्रकृति-प्रणय' को प्रिया के प्रेम की अपेक्षा भी अधिक महत्व दिया है।[२]

छायावाद में प्रकृति के प्रति अभूतपूर्व आकर्षण का भाव मिलता है। छायावादी कवि ने प्रकृति की बिखरी हुई सौन्दर्य-राशि को भावात्मक रूप में अभिव्यक्त किया। उसने उसमें मन्त्र-द्रष्टा ऋषि के समान रहस्य-सत्ता का आभास पाया तथा उसमें मानवीय चेतना की प्रतिष्ठा कर उसे सजीव भी बनाया। छायावादी काव्य में प्रकृति सर्वात्मवाद के रूप में जड़चेतन की एकरूपता की अभिव्यक्ति बनकर भी उपस्थित हुई और इस प्रकार उसने एक 'महाप्राण' का अस्तित्व ग्रहण कर लिया। लेकिन छायावाद में भी प्रकृति को पूर्णतः 'स्वतन्त्र सत्ता' प्राप्त न हो सकी। छायावादी कवि ने अपनी अन्तर्भावनाओं का ही उस पर आरोप किया। डा० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में 'प्रकृति के बीच कवि ने अपनी ही सीमा का विस्तार देखा और उसका अनुभव किया। अपनी ही इच्छा-आकांक्षाओं तथा आशा-निराशा का चित्र देखा।'[३] डा० नगेन्द्र के मतानुसार छायावाद में प्रकृति का उपयोग दो रूपों में हुआ : 'एक कोलाहलमय जीवन से दूर शान्त-स्निग्ध विश्राम-भूमि के रूप में और दूसरे प्रतीक रूप में।[४]

---

१. उदाहरण के लिए भारतेन्दु की 'यमुना-वर्णन' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियाँ देखिए :

> तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छायें।
> झुके कूल सों जल-परसन हित मनहुँ सुहाये॥
> किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा।
> कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल-लोभा॥
> कहूँ नीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
> कहूँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रही पाँतिन॥ —भा० ग्रं० : पृष्ठ २६८

२. यदि तुम मुझे प्यार करते हो कोमल करुण हृदय से
करो न मुझको देवि दयामय वंचित प्रकृति-प्रणय से।
—आधुनिक हिन्दी कविता : सिद्धान्त और समीक्षा : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : पृष्ठ ११६ से उद्धृत।

३. आ० का० धा० का सां० स्रोत : पृष्ठ १२८

४. आ० हि० का० की मु० प्रवृत्तियाँ पृष्ठ १२

दृष्टि–भंगिमा

परम्परा के इस आलोक में प्रगतिशील कविता का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिशील कवि ने प्रकृति को नवीन दृष्टि-भंगिमा से देखने के साथ ही उसके अछूते सौन्दर्य का भी सफल उद्घाटन किया है। अपनी पूर्ववर्ती काव्य-धारा छायावाद की प्रकृति से तो उसकी प्रकृति अनेक मानों में एक भिन्न अस्तित्व रखती है।

मानव और प्रकृति :

छायावादी कवि ने प्रकृति में चाहे अपनी अन्तर्भावनाओं को ही आरोपित क्यों न किया हो, लेकिन प्रकृति के प्रति उसकी अत्यधिक मोहासक्त दृष्टि रही है। अपनी इस मोहासक्त दृष्टि के कारण यदि कभी उसने प्रकृति में एक 'विराट चेतना' का स्वरूप देखा[१] तो कभी 'द्रुमों की मृदु छाया' को छोड़कर 'प्रकृति से भी माया' तोड़कर 'बाला' 'बाल-जाल' में अपने लोचनों को उलझाने से सहज-सरल भाव से ही इन्कार कर दिया।[२] इस प्रकार उसने प्रकृति को एक मानवोपरि सत्ता का रूप दे दिया।

यद्यपि प्रगतिशील कवि ने भी प्रकृति के प्रति अपने अगाध प्रेम को व्यंजित किया है–उसके रूप–सौन्दर्य को 'अञ्जली भर भर पी जाने' की तृष्णाकुल कामना व्यक्त की है।[3] लेकिन उसने उसको मानवोपरि सत्ता के रूप में फिर भी नहीं देखा

---

१. लय गीत मदिर, गति ताल अमर
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर,
आलोक-तिमिर सित असित चीर
सागर गर्जन, रुनझुन-मंजीर
उड़ता झञ्झा में अलक–जाल
मेघों में मुखरित किंकिणि-स्वर
—महादेवी वर्मा : नीरजा : पृष्ठ ११२

२. छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से माया।
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
–पन्त : आधुनिक कवि (२) : पृष्ठ १

३. वर्षा–सीकर भरी हवा, मेंहदी की मेंह मेंह
जी करता है, मैं अञ्जलि भर भर पी जाऊँ।
—त्रिलोचन : रूपाम्बरा : पृष्ठ २९१

है। वह तो मानव को ही प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट कृति के रूप में देखता है और प्रकृति को मानव के सम्मुख पराजित मानता है।[1] वह प्रकृति में मानव के समान सजीव सौन्दर्य का भी अभाव पाता है।[2] पन्तजी ने 'युगान्त' में ही अपनी इस परिवर्तित मनोदृष्टि को वाणी दे दी थी। 'युगान्त' की 'मानव' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा था :

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर,
मानव तुम, सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम।[3]

पन्तजी के समान यद्यपि 'त्रिलोचन' यह स्वीकार नहीं करते कि प्रकृति हार गई है। वे उसकी शक्ति को अत्यन्त विस्तृत और उसे अभी तक अविजित मानते हैं, लेकिन उसको अधिकृत करके उससे "सामाजिक सेवा" लेना उनकी भी दृष्टि में समुचित है :

शक्ति प्रकृति की अति विस्तृत है
और अभी तक वह अविजित है
अधिकृत करके सेवा लेना
सामाजिक, उससे समुचित है।[4]

इस प्रकार प्रगतिशील कवि ने प्रकृति को मानवोपरि सत्ता मानने से स्पष्ट इन्कार किया है।

प्रकृति जीवन का अभिन्न अङ्ग :

वस्तुतः प्रगतिशील कवि ने प्रकृति को जीवन के एक अभिन्न अङ्ग के रूप में ही प्रस्तुत किया। उसने प्रकृति का रूपांकन न तो एक निरपेक्ष सौन्दर्य-सत्ता के ही रूप में किया और न किसी रहस्य-सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में। उसकी दृष्टि में तो जिस प्रकार नारी और पुरुष मानव-जीवन के दो पक्ष होते हुए भी-व्यापक जीवन के अंग के रूप में परस्पर सहयोगी और

1. हार गई तुम प्रकृति,
   रच निरुपम मानव-कृति।
   —पन्त : प्रकृति के प्रति : युगवाणी : पृष्ठ ७२
2. मानव की सजीव सुन्दरता नहीं प्रकृति-दर्शन में।
   —वही : गंगा की सांझ : वही : पृष्ठ १२
3. युगान्त (प्र० सं०) : पृष्ठ ४६
4. धरती : पृष्ठ ३.

अभिन्न हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी इस व्यापक जीवन की ही एक सत्ता है। मानव जीवन एक ओर प्रकृति से प्रभावित-प्रेरित होता है तो दूसरी ओर स्वयं उसे भी नवीन अलंकृति प्रदान कर सुशोभित करता है और उसे अधिकृत कर उससे सामाजिक सेवा भी लेता है। मिलिन्दजी ने अपनी 'चाँदनी' शीर्षक कविता में मानव-जीवन और प्रकृति के इस पारस्परिक अभिन्न सम्बन्ध को ही वाणी दी है। उनकी दृष्टि में यदि मानव चाँदनी का भक्त है तो चाँदनी भी इस मानव-विश्व पर मुग्ध है :

> मर्त्य जग की शुभ्र वसना अप्सरा अनुरक्त
> विश्व पर तू मुग्ध है, यह विश्व तेरा भक्त।[१]

जब कृषक अपने स्वेद के कणों को पोंछकर गीत गाता है या श्रमिक जब रात को निश्चिन्त होकर अपनी मधुर तान छेड़ता है, तब उन स्वरों की माधुरी से चाँदनी के भी प्राण स्नात हो जाते हैं और वे माधुरी स्नात प्राण (चाँदनी के रूप में) प्रकृति की मुस्कान बन कर विश्व पर फैल जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्युत्तर के रूप में चाँदनी भी परिश्रम रत मनुष्य के थके हुये प्राणों को निष्कपट विश्राम प्रदान करती है।[२]

प्रकृति और मानव-जीवन के इस अभिन्न सम्बन्ध को स्वीकार करने के कारण ही प्रगतिशील कवि जब प्रकृति-चित्र अंकित करता है, तब जन-जीवन का चित्र भी उस प्रकृति चित्र का एक अंग बनकर उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार जब वह जन-जीवन का चित्र अंकित करता है तो प्रकृति भी उससे अलग थलग नहीं रहती, वरन्, उस जीवन की सम्पृक्त चेतना के रूप में उपस्थित हो जाती है। 'दिनकर' की

---

१. बलिपथ के गीत : पृष्ठ ७०

२. स्वेद के कण पोंछकर जब कृषक गाते गान,
श्रमिक जब निश्चिन्त निशि में छेड़ते मधु तान,
उन स्वरों की माधुरी से स्नात तेरे प्राण,
फैल जाते विश्व पर बन प्रकृति की मुस्कान।
श्रान्त होता जब परिश्रम कर मनुज अविराम,
प्राण तुममें डूब, पाते निष्कपट विश्राम।
—वही : पृष्ठ ७०-७१

'कविता की पुकार' शीर्षक कविता में प्रगतिशील कवि की जीवन और प्रकृति के प्रति इस अभिन्न दृष्टि का दर्शन किया जा सकता है। उनकी इस कविता में स्वर्णाञ्चला संध्या श्याम परी, रोमन्थन करती हुई गाएँ, घर घर से उठता हुआ धुआँ, खेत-गीत की तान छेड़ते हुए कृषक, पनघट से आती हुई पीतवसना सुकुमार युवतियाँ जो किसी भाँति गागर और यौवन का दुर्वह भार ढो रही हैं — सब एक संश्लिष्ट चित्र का अंग बनकर उपस्थित हुई हैं।[१] पंतजी की भी 'संध्या के बाद' शीर्षक कविता में इसी संश्लिष्ट दृष्टि का परिचय मिलता है। जहाँ एक ओर उन्होंने प्रकृति का यह विशुद्ध रेखा-चित्र अंकित किया है :

> सिमटा पंख साँझ की लाली जा बैठी अब तरु शिखरों पर,
> ताम्रपर्ण पीपल-से, शतमुख झरते चंचल स्वर्णिम निर्झर।
> ज्योति-स्तम्भ सा धँस सरिता में सूर्य क्षितिज पर होता ओझल,
> बृहद जिह्म विश्लथ केंचुल-सा लगता चितकबरा गंगा जल।[२]

वहाँ, प्रकृति के अंग के रूप में ही, ग्रामीण-जीवन की इस विषाद-रेखा को भी कवि अपनी आँखों से ओझल नहीं कर पाता है :

> माली की मड़ई से उठ नभ के नीचे नभ-सी धूमाली,
> मंद पवन में तिरती नीली रेशम की सी हलकी जाली।
> बत्ती जला दुकानों में बैठे सब कस्बे के व्यापारी,
> मौन मंद आभा में हिम की ऊँघ रही लम्बी अँधियारी।
> धुआँ अधिक देती है टिन की ढिबरी, कम करती उजियाला,
> मन से कढ़ अवसाद श्रांति आँखों के आगे बुनती जाला।

---

१. स्वर्णांचला अहा, खेतों में उतरी संध्या श्याम परी
रोमन्थन करती गायें आ रही रौंदती घास हरी।
घर घर से उठ रहा धुँआ, जलते चूल्हे बारी बारी
चौपालों में कृषक बैठ गाते — "कहँ अटके बनवारी?"
पनघट से आ रही पीतवसना युवती सुकुमार
किसी भाँति ढोती गागर — यौवन का दुर्वह भार।

चक्रवाल : पृष्ठ १०

२. ग्राम्या : पृष्ठ ६३

छोटी सी बस्ती के भीतर लेन देन के थोथे सपने
दीपक के मंडल में मिलकर मँडराते घिर सुख दुख अपने।[१]

✓इस प्रसंग में निरालाजी की 'खजोहरा' तथा 'सरस्वती' शीर्षक कविताओं को भी नहीं भुलाया जा सकता। इन दोनों ही रचनाओं में जीवन और प्रकृति – दोनों ही एक प्राण बनकर रूपायित हुए हैं। कवि ने जीवन और प्रकृति को किन्हीं अलग अलग कृत्रिम कटघरों में बन्दी न बनाकर दोनों को एक स्पन्दन के रूप में ही सृष्टि की है। निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :

दौड़ते हैं बादल ये काले काले
हाई कोर्ट के वकले मतवाले।
जहाँ चाहिए वहाँ नहीं बरसे
धान सूखे देखकर नहीं तरसे।
जहाँ पानी भरा वहाँ छूट पड़े
कहकहे लगाते हुए टूट पड़े।

\+ \+

लोग रोज रात को आल्हा गाते
ढोलक पर अपना जी बहलाते।
झूला झूलती गाती हैं सावन
औरतें, "नहीं आये मन भावन।"
लड़के पेंगें मारते हैं बढ़ बढ़ कर
गूँज रहा है भरा हुआ अम्बर।[२]

श्री त्रिलोचन की "आंखों के आगे" भी केवल भरा हुआ ताल, नयी नयी बालें लहराता हुआ खेत, झूमता हुआ धान और झरती हुई झीनी मंजरियाँ ही नहीं आती हैं वरन् जीवन का दृश्य–पट भी साकार होता है.

गाता अलबेला चरवाहा
चौपायों को साथ सँभाले,
पार कर रहा है वह बाहा,

---

१. ग्राम्या : पृष्ठ ६४–६५
२. निराला : खजोहरा : नये पत्ते : पृष्ठ १७–१८

गये साल तो ब्याह हुआ है
अभी अभी बस जुआ हुआ है
घर, घरनी परिवार है आँखों के आगे ।[1]

प्रकृति और जीवन वैषम्य के चित्र

प्रगतिशील कवि जब जन-जीवन की विषमताओं के चित्र अंकित करता है, तब, भी वह प्रकृति को भूलता नहीं है । वह प्राकृतिक चित्रों के माध्यम से जन-जीवन की विषमता की रेखाओं को और भी अधिक घनी बना देता है । नागार्जुन की 'जयति जयति जय सर्व मंगला' शीर्षक कविता में 'पूस मास की धूप' के द्वारा निम्न मध्यमवर्गीय जीवन की विवशता की रेखाओं को बड़ा ही मार्मिक और गहरा रंग दे दिया है :

पूस मास की धूप सुहावन
घिसे हुए पीतल-सी पांडुर
पूस मास की धूप सुहावन
स्तन पायी नीरोग गौर छवि
शिशु के गालों जैसी मनहर
पूस मास की धूप सुहावन
फटी दरी पर बैठा है चिर रोगी बेटा
राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी
गर्भभार से अलस-शिथिल है अंग अंग,
मुँह पर उभरे मट मैली आभा ।

\+ ×

सब कुछ है, कोयला नहीं है
कैसे काम चलेगा बोलो
चावल नहीं सिझा सकती है
रोटी नहीं सेंक सकती है
भाजी नहीं पका सकती है
पूस मास की धूप सुहावन ।[2]

---

१. आँखों के आगे : कलम्बरा : पृष्ठ २९०
२. हंस : शान्ति-संस्कृति अंक : वर्ष २२, अंक ६-७ : पृष्ठ ११०

जीवन-वैषम्य की रेखाओं को अधिक स्पष्ट और मार्मिकता के साथ अंकित करने के लिए, प्रगतिशील कवि ने प्रकृति और मानव जीवन के बीच की दूरी को भी अंकित किया है। इस दूरी को अंकित करने का उसका क्रम प्रायः इस प्रकार का रहा है। पहले तो वह प्राकृतिक सौन्दर्य की समुज्ज्वल झाँकी अंकित कर उसके 'मधुर मुख' की मसृणता को एक सजीव आकार प्रदान करता है, बाद में व्याप्त कुरूपता और विशृंखलता के जर्जर रूप का चित्रण करता है। यह क्रम उलटा भी हो सकता है। इस तुलनात्मक चित्रण से मानव-जीवन की विषमता का चित्र बड़ी गहराई के साथ पाठक की हृदय-वीणा के तारों को झकझोरने में सक्षम हो जाता है। पंत की 'ग्राम-चित्र' कविता इस दृष्टि से द्रष्टव्य है। पहले ग्राम-जीवन की विषमतामयी दैन्य-जर्जर अवस्था का रूप देखिए :

> यह तो मानव-लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित,
> यह भारत का ग्राम, -सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।
> झाड़-फूँस के विवर, -यही क्या जीवन-शिल्पी के घर ?
> कीड़ों से रेंगते कौन ये ? बुद्धि-प्राण नारी-नर ?
> अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
> गृह गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में।[1]

अब ग्राम्य-जीवन की उल्लसित प्रकृति की झाँकी देखिए :

> यह रवि-शशि का लोक, — जहाँ हँसते समूह में उडुगण,
> जहाँ चहकते विहग, बदलते क्षण क्षण विद्युत प्रभ-घन।
> यहाँ वनस्पति रहते, रहती खेतों की हरियाली,
> यहाँ फूल हैं, यहाँ ओस, कोकिला, आम की डाली।[2]

इन दोनों चित्रों के तुलनात्मक दर्शन से निश्चय ही पाठक के मन पर ग्राम-जीवन के विषाद की रेखा गहराई से अंकित हो जाती है और वह भी कवि के इस विषण्ण विक्षुब्ध भाव में साझीदार हो जाता है :

> प्रकृति-धाम यह : तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित
> यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत।।[3]

श्री नागार्जुन की 'नीम की दो टहनियाँ' शीर्षक कविता में भी प्रकृति-चित्र

---

१. पन्त। ग्राम चित्र : ग्राम्या : पृष्ठ १६
२. वही : वही : वही : पृष्ठ १६
३. वही : वही : वही : वही

उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उपस्थित हुआ है। इस कविता में यान्त्रिक जी की एक-रसता एवं बोझिलता की बड़ी सूक्ष्म एवं मार्मिक व्यंजना हुई है। चित्र द्रष्टव्य है :

नीम की ये टहनियाँ
झाँकती हैं सींखचों के पार
यह कपूरी धूप
शिशिर की यह दुपहरी, यह प्रकृति का उल्लास
रोम रोम बुझा लेगा ताजगी की प्यास
रात भर जगती रही
खटती रही
अब कर रही आराम
गाढ़ी नींद का आश्वास भर अब मौन से लिपटा हुआ है
बेखबर सोई हुई है छापने की यह विराट मशीन
उधर मुँहबाए पड़े हैं टाइपों के मलिन-धूसर केस
पर, इधर तो झाँकती हैं दो सलोनी टहनियाँ
सींखचों के पार।[१]

कभी कभी प्रगतिशील कवि पूरे चित्र के अन्त में एकाध पंक्ति में ही सांकेतिक अभिव्यक्ति देकर प्रकृति और जीवन के वैषम्य को दोनों के अन्तराल को व्यंजित कर देता है। डा० रामविलास शर्मा की 'शारदीया' कविता इस दृष्टि से द्रष्टव्य है :

सोना ही सोना छाया अकाश में,
पश्चिम में सोने का सूरज डूबता,
पका रंग कंचन जैसे ताया हुआ,
भरे ज्वार के भुट्टे पक कर झुक गये।
'गला-गला' कर हाँक रही गुफना लिए,
दाने चुगती हुई गिलरियों की खड़ी,
सोने से भी निखरा जिसका रंग है,
भरी जवानी जिसकी पक कर झुक गई।[२]

---

१. सतरंगे पंखों वाली : पृष्ठ ३१
२. रूप तरंग : पृष्ठ ७

युग-यथार्थ अथवा जीवन-वास्तव की व्यञ्जना के लिए प्रगतिशील कवि ने प्रकृति का प्रतीकात्मक रूप में भी उपयोग किया है। प्रकृति का प्रतीक रूप में उपयोग तो छायावादी कवि ने भी किया था, लेकिन उसकी आत्मनिष्ठ चेतना के आरोप के कारण वे अस्पष्ट और धूमिल हो गई हैं।

प्रकृति का प्रतीकात्मक उपयोग

यहाँ तक कि कहीं कहीं तो वह 'अनुभूति मात्र-सी ही रह गई है–उसके 'रूप-रेख-रंग' सब ओझल हो गए हैं।[1] इसके विपरीत, प्रगतिशील कवि की प्रकृति सदैव स्पष्ट व साकार बनी रही है। अपने प्रतीकात्मक रूप में भी वह वस्तुनिष्ठ तथा यथार्थ-व्यंजक ही रही है। प्रगतिशील कवि ने प्रतीक के रूप में प्रकृति का प्रयोग प्रायः दो विरोधी स्थितियों की व्यञ्जना के लिए किया है। ये दो विरोधी स्थितियाँ हैं : एक, शोषण, जडता, अन्याय, उदासी, शोषक व साम्राज्यवादी वर्ग आदि, दूसरी, नव-जागरण, क्रान्ति-चेतना, दलित शोषित वर्ग आदि। प्रथम स्थिति की व्यञ्जना के लिए प्रायः कोहरा, तमस, रात्रि, पतझर, ठूँठ, आदि का प्रयोग किया गया है। द्वितीय स्थिति के व्यापन के लिए—सूरज, किरण, धूप, मिट्टी का पुतला, नई फसल, ज्वार, हिलोर, कोयला आदि को प्रतीकों के रूप में ग्रहण किया गया है। निरालाजी ने 'कुकुर मुत्ता' को निम्न वर्ग तथा 'गुलाब' को 'उच्चवर्ग' के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। इसीलिए उनका 'कुकुर मुत्ता' 'गुलाब' को ललकारते हुए कहता है :

> खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
> डाल पर इतरा रहा केपीटलिस्ट।[2]

श्री केदारनाथ अग्रवाल ने 'कोहरे' को पराधीन बनानेवाली विदेशी साम्राज्यवादी शक्ति के रूप मे चित्रित किया है और 'दिनकर' को क्रान्ति की नवीन शक्ति का रूप माना है। पहले कोहरे का साम्राज्यवादी शोषक रूप देखिए :

> शिशिर निशा के दुर्दम घोर तिमिर मे,
> यह परदेसी भारी लम्बा कोहरा
> धीरे धीरे प्रिय धरती पर उतरा,

---

१. वह खड़ी दृगों के सम्मुख सब रूप-रेख-रंग ओझल
अनुभूति-मात्र-सी उर में आभास शांत शुचि-उज्ज्वल।
—पन्त

२. कुकुर मुत्ता (प्रकाशक – चौधरी राजेन्द्रशंकर, युग मन्दिर, उन्नाव) : पृष्ठ ४

यहाँ वहाँ फिर ठौर ठौर पर ठह
घनीभूत होगया अधिक ही ऐस
नहीं दिखाई देता है अब आगे,
प्यारे घर, वन, खेत, गाँव सब खोये,
निज स्वत्वों की नहीं निशानी मिलती।

पर, कवि का विश्वास है कि "दिनकर" (क्रान्तिक
ही जन्म लेगा और फिर क्षण भर में ही यह कोहरा भस्मीभूत

पर निश्चय है, दृढ़ निश्चय है इतना
दिनकर जन्मेगा लपटों से लिपटा
भस्मीभूत करेगा कोहरा क्षण में
प्यारी धरती को स्वाधीन करेगा।[२]

इसी प्रकार, 'गर्रा नाला' उनकी दृष्टि में उस शोषित वर्ग
अपने अधिकारों के लिए शोषक वर्ग से निरन्तर संघर्षरत है :

काली मिट्टी काले बादल का बेटा है
टक्कर पर टक्कर देता धक्के देता है
रोड़ों से वह बे हारे लोहा लेता है
नंगे भूखे काले लोगों का नेता है।[३]

मिलिन्दजी ने 'निर्झर' को श्रमजीवी लघु-मानव के रूप में चि
है जो लेने का नाम नहीं लेता, केवल देता रहता है :

एकाकी हूँ मैं, पर
नहीं स्वार्थ साधक हूँ
लेने का नाम नहीं लेता हूँ
मैं केवल देता हूँ
\+ +

ग की गंगा : पृष्ठ १९
)   : वही
               : पृष्ठ १९–२०

भर आता हृदय इसी गौरव से
कि मैं नहीं वैभव स्वामी हूँ,
महत नहीं, मैं लघु हूँ,
एकाकी, सीमित हूँ।
निर्झर हूँ,
निर्जन में झरता हूँ।[1]

अंधकार और प्रकाश तथा रात्रि और भोर को तो जड़ता तथा नव चेतना के अथवा पराधीनता और मुक्ति के प्रतीक के रूप में प्राय: सभी प्रगतिशील कवियों ने प्रयुक्त किया है। श्री गिरिजा कुमार माथुर की 'भोर : एक लैंड स्केप' शीर्षक कविता में भोर और रात्रि या अन्धकार का प्रतीकात्मक प्रयोग देखिए :

अविरल ज्वलते रजनी के दीपक मंद हुए
अब ब्राह्म घड़ी का ठंडा सा आलोक जगा
भैरव के मन्द स्वरों के पहले कंपन-सा
वे सात पहरुए उतर गये हैं पश्चिम में
ले अंधकार का सिंहासन

× ×

तामस के शासन का प्रतीक
बुझता है वह अन्तिम प्रदीप
अन्तिम तारा
तम-गढ़ के ढहते भारी कोट कंगूरों से।[2]

डा० महेन्द्र भटनागर ने 'अंकुर' को नई चेतना का प्रतीक माना है :

फोड़ धरती की कड़ी चट्टान को
ऊर्ध्वगामी शक्ति का व्यक्तित्व
अंकुर फूटता है।[3]

---

१. निर्झर : रूपाम्बरा : पृष्ठ ८६–८७
२. धूप के धान
३. सम्तरण : पृष्ठ ८७

प्रकृति को जीवन के एक अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार करने के कारण ही प्रगतिशील कवि ने उसके स्वस्थ, स्वच्छ एवं प्रेरणादायी रूप को ही अधिक आतुरता के साथ ग्रहण किया है। छायावादी कवि ने प्रकृति को एक कोलाहलमय जीवन से दूर शान्त-स्निग्ध-विश्राम भूमि के रूप में अपनाया था। प्रगतिशील कवि ने उसे एक प्रेरक व्यक्तित्व प्रदान किया। वह यदि बसन्त में नव जीवन का दर्शन करता है और नयी चेतना के चरण के रूप में उसका स्वागत करता है[१], तो शाम की धूप भी उसे जीवन-संघर्ष के लिए प्रेरित करती है :

प्रकृति का प्रेरक रूप

> आज इंसान हो गया है कैद
> पर न मन हार मान सकता है
> क्योंकि विश्राम की इस वेला में
> यह थकी, अनमनी, सुनहरी धूप
> दिन के संघर्ष से जो तप तप कर
> उजले सोने-सी निखर आई है
> सांझ की मीठी बाँह चाहती है।[२]

श्री केदारनाथ अग्रवाल को तो 'केन नदी' की धारा अप्रतिहत गति का सदेश देती है। कवि उसमें मानवतावाद की निश्छल भाव-धारा का दर्शन करता उसकी दृष्टि में केन ने न तो कभी फूलों का कोई गहना पहना और न उसने में रानी-सा रहना ही सीखा। उसके जीवन का गहना है—मात्र गति से बहना उसने सीखा है—श्रम-धारा बन कर रहना। उसने तो सदैव 'पथ' से ही किया है और आँसू से भीगे मानव को दृढ़ता प्रदान की है।[३] अतएव वह जन-जं को यही प्रेरणा देती रहती है :

---

१. आओ बसंत के प्रथम चरण
पतझर में जीवन के दर्शन
दिन हों पलाश से अरुन-बरन
रातें रतनारी चन्द्र-बदन
रस, गंध, परस, स्वर, सृजन-व्रती
तुमसे धरती है सुमनवती
—माथुर : 'पृथ्वी प्रियतम' धूप के धान : पृष्ठ ८८

२. शाम की धूप। वही : पृष्ठ ३१

३. केन-किनारे : लोक और आलोक : पृष्ठ ६८-६९

काटो कल की चट्टानों को, तोड़ो कारा
जल्दी जल्दी वर्तमान की मोड़ो धारा
डूबा सूरज, किन्तु उदय हो भानु तुम्हारा
गौरव से मंडित हो युग का सानु तुम्हारा।[१]

पहले कवि शीतल समीर, बादल आदि को केवल श्रृंगार के उद्दीपन के रूप में ग्रहण करता था, लेकिन अब 'वायु उसे 'समानता' का पाठ पढ़ाती है'[२] और 'बादलों' को वह किसान के प्राणों में नया राग भरने को आया हुआ मानता है :

आसमान भर गया देख तो
इधर देख तो उधर देख तो
नाच रहे हैं उमड़-घुमड़ कर
काले बादल तनिक देख तो
तेरे प्राणों में भरने को नये राग लाये हैं।[३]

प्रगतिशील कविता में व्यक्त प्रकृति की एक अन्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है—ग्राम्य दृश्य-पट का अंकन। छायावादी कवि ने प्रकृति के केवल सार्वदेशिक रूप की ही व्यञ्जना की थी। छाया और प्रकाश, ऊषा और सन्ध्या, धूप और चांदनी, मुकुल और वल्लरियाँ, कलियाँ और भ्रमर—ये सब छायावादी प्रकृति में अपने सार्वभौमिक रूप को ही व्यक्त कर सके थे। उदाहरण के लिए 'निराला' की 'संध्या सुंदरी' कविता लीजिए।[४] उसमें

ग्राम्य दृश्य-पट का अंकन

---

१. केन किनारे : लोक और आलोक : पृष्ठ ६६

२. जो समानता यह वायु सर्वदा दिखलाती है
जीवन के पावन अधिकारों को सदा सजग
सब के लिए एक दृष्टि से रक्षा करती है
क्या मनुष्य उस समानता को अंगीकार कर,
पूर्ण चेतन, पूर्ण जीवित, उत्तरदायित्व पूर्ण
कभी हो सकेगा इस विश्व में समान प्रिय
सभी के लिए नितान्त आवश्यक।
—त्रिलोचन—घर बाहर देश में विदेश में : धरती : पृष्ठ १०७

३. त्रिलोचन : उठ किसान ओ : धरती : पृष्ठ १०७

४. अपरा (च० सं०) : पृष्ठ २२

संध्या का जो चित्र अंकित हुआ है वह 'उत्तर प्रदेश' या 'भारत' की संध्या का ही चित्र नहीं है उसका रूप तो संसार के किसी भी कोने की संध्या का हो सकता है : लेकिन प्रगतिशील कवि ने प्रकृति के इस सार्वभौमिक रूप की अपेक्षा अपने अञ्चल विशेष की ग्राम्य-प्रकृति को साकार बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। 'नागार्जुन' ने तो अपने अंचल-विशेष के प्रति मोह की बड़ी सहज-सरल अभिव्यक्ति की है। देखिए, प्रवास की बेला में कवि के गाँव की प्रकृति किस प्रकार उसकी स्मृति-चेतना को बार बार झकझोरती रहती है :

> याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
> याद आती लीचियां, वे आम
> याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
> याद आते धान
> याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान
> याद आते शस्य श्यामल जनपदों के
> रूप-गुण-अनुसार ही रक्खे गये वे नाम
> याद आते वेणुवन वे, नीलिमा के निलय, अति अभिराम।[१]

और जब कई दिनों के बाद आकर वह अपने गाँव की मोहक और स प्रकृति का दर्शन करता है तो देखिए, वह कैसी तृप्ति और उल्लास का अ करता है :

> बहुत दिनों के बाद
> अबकी मैंने जी भर देखी
> पकी-सुनहली फसलों की मुस्कान
> —बहुत दिनों के बाद
> + +
> बहुत दिनों के बाद
> अबकी मैंने जी भर सूँघे
> मौलसिरी के ढेर-ढेर-से ताजे-टटके फूल
> —बहुत दिनों के बाद।[२]

---

१. सिन्दूर तिलकित भाल : सतरंगे पंखों वाली : पृष्ठ ४७
२. बहुत दिनों के बाद : वही : पृष्ठ २१

इस ग्राम्य-दृश्य-पट की अवतारणा करने में पन्त, निराला, केदार और डा० रामविलास शर्मा को विशेष सफलता मिली है। 'ग्राम श्री' और 'निराला की 'देवी सरस्वती' तो,ग्रामीण-प्रकृति के यथार्थ और सहज-सरल रूप को अभिव्यक्ति देनेवाली अभूतपूर्व कृतियां हैं। इनमें ग्रामीण प्रकृति का यथा तथ्य रूप—वहां के पेड़ पौधों, जीव-जन्तु नर-नारी—आदि के समवेत रूप के साथ साकार और सप्राण हो सका है। पहले 'पन्त' की 'ग्राम श्री' को देखिए :

> अब रजत-स्वर्ण मंजरियों से लद गई आम्र-तरु की डाली,
> झर रहे ढाँक, पीपल के दल, हो उठी कोकिला मतवाली।
> महके कटहल, मुकुलित जामुन, जंगल में झरबेरी फूली,
> फूले आड़ू, नींबू दाड़िम, आलू गोभी, बैंगन, मूली।
> पीले मीठे अमरूदों में अब लाल लाल चित्तियाँ पड़ीं
> पक गए सुनहले मधुर बेर अँवली से तरु की डाल जड़ी।
> लह लह पालक, मह मह धनिया, लौकी औ सेम फली-फैलीं,
> मखमली टमाटर हुए लाल, मिरचों की बड़ी–हरी थैली :[1]

देखिए, 'निराला' की 'देवी सरस्वती' भी ग्राम्य–प्रकृति के कैसे अल्हड़, मोहक लेकिन सहज-सरल रूप से सुशोभित है :

> तुम्हीं हरित नभ पर भू के, हो श्वेत मंजरी,
> मन्द–गन्ध–सच्चरिता शीता ऋता किन्नरी
> बाग-बाग, वन-वन, रन की सुगन्ध मद पीकर
> झूम रही हो हिम-सीकर पल्लव-पल्लव पर
> स्निग्ध पवन में, शस्य-शीर्ष से उठी हुई तुम,
> मटर पुष्प के सौरभ–घन से लुटी हुई तुम,
> सरसों के पीले फूलों की साड़ी पहने
> अलसी के नीले फूलों की रेखा जिसमें।[2]

केदार के ग्राम्य प्रकृति के चित्रों में ग्रामीण–प्रकृति का उल्लास-प्रपूरित रूप व्यक्त हुआ है। उनकी 'चन्द्रगहना से लौटती बेर,' 'बसन्ती हवा' तथा खेत का दृश्य

१. ग्राम्या : पृष्ठ ३९
२. अपरा (च० सं०) : पृष्ठ १६१

ग्रामीण-उल्लास की ही व्यञ्जना करती है। उनकी 'चन्द्रगहना से लौटती बेर' शीर्षक कविता में फसलों के स्वयंवर की मादक मधुर झाँकी :

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का,
सज कर खड़ा है।
पास ही मिल कर उगी है
बीच में अलसी हठीली
देह की पतली कमर की है लचीली,
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ाकर
कह रही है, जो छुये यह
दूँ हृदय का दान उसको।
और सरसों की न पूछो।
हो गयी सबसे सयानी,
हाथ पीले कर लिए हैं
ब्याह-मंडप में पधारी,
फाग गाता मास फागुन
आगया है आज जैसे,
देखता हूँ मैं : स्वयम्बर हो रहा है।[१]

डा० रामविलास शर्मा के प्रकृति-चित्रों में ग्राम्य-प्रकृति के यथातथ्य रेखांकन के साथ ही ग्राम्य-जीवन का वैषम्य भी मुखरित हुआ है। डा० शर्मा के चित्रों में प्रायः अनगढ़पन और विवरणात्मक स्थूल रेखाओं की प्रधानता है, फिर भी कतिपय चित्रों में एक ताजगी का दर्शन होता है :

वर्षों से धुलकर निखर उठा नीला नीला
फिर हरे हरे खेतों पर छाया आसमान
उजली कुँआर की धूप अकेली पड़ी हार में
लौटे इस बेला सब अपने घर किसान।

---

[१] ... की गंगा : पृष्ठ ९

भर रहे मकाई–ज्वार–बाजरे के दाने
चुगती चिड़ियाँ पेड़ों पर बैठीं झूल झूल
पीले कनैर के फूल सुनहले फूले पीले
लाल लाल झाड़ी कनेर की, लाल फूल।[१]

प्रगतिशील कवि ने प्रकृति के स्थिर रूप तक ही अपनी दृष्टि सीमित न रख कर उसके *गत्यात्मक सौन्दर्य को भी वाणी प्रदान की है।* इस क्षेत्र में उसने छायावाद की विरासत को ही सँभाला है।

प्रकृति के गत्यात्मक सौन्दर्य के चित्र

वस्तुत: कवि की तूलिका का कौशल गतिशील रूप की व्यंजना में ही प्रकट होता है। बिहारी ने कवियों को गतिशील रूप की चित्रात्मक अभिव्यक्ति में असमर्थ पाकर ही तो लिखा था :

भए न केते जगत के चतुर चितेर क्रूर।[२]

लेकिन, देखिए, श्री शमशेर बहादुर सिंह ने अपनी 'सागर तट' शीर्षक कविता मे समुद्र की लहरो के गत्यात्मक रूप का कैसा साकार चित्र उपस्थित किया है :

यह समन्दर की पछाड़
तोड़ती है हाड़ तट का–
अति कठोर पहाड़।
× ×
चांदनी-सी उंगलियाँ चंचल
क्रोशिये से बुन रही थीं चपल
फेन–झालर बेल, मानों।
पंक्तियों में टूटती गिरती
चांदनी मे लोटती लहरें
बिजलियों–सी कौंदती लहरें
मछलियो-सी बिछल पड़ती तड़पतीं लहरें
बार बार।[३]

---

१. रूप तरंग : पृष्ठ ९
२. बिहारी रत्नाकर (नवीन संस्करण १९५१) : पृष्ठ १४४
३. रूपाम्बरा : पृष्ठ २६९–१७०

इस सन्दर्भ में श्री केदारनाथ अग्रवाल की 'बसन्ती हवा' शीर्षक कविता का भी उल्लेख आवश्यक है। इसमें हवा के गतिशील रूप की बड़े ही सरस स्वरों में चित्रात्मक अभिव्यक्ति हुई है :

> चढ़ी पेड़ महुआ, थपाथप मचाया,
> गिरी धम से फिर, चढ़ी आम ऊपर
> उसे भी झकोरा, किया कान में कू,
> उतर कर भगी मैं हरे खेत पहुँची —
> वहाँ गेहुँओं में लहर खूब मारी,
> पहर दो पहर क्या अनेकों पहर तक
> इसी में रही मैं।[1]

प्रकृति के गत्यात्मक रूप के साथ ही उसके पौरुष-रूप की अभिव्यक्ति भी प्रगतिशील कवि ने की है। छायावाद प्रकृति के मधुर-मसृण रूप अभिव्यक्ति की दृष्टि से अद्वितीय है। निराला ने यद्यपि कहीं कहीं अवश्य ही प्रकृति के कठोर और पौरुष-रूप को चित्रित किया है[2] लेकिन प्रधानता मधुर रूप की ही रही है। पन्त ने तो प्रकृति को 'अपने से अलग सजीव सत्ता रखनेवाली नारी के रूप' में ही देखा है।[3] महादेवी ने भी प्रकृति में नारी-रूप का आरोपण ही अधिकतर किया है।[4] प्रगतिशील कवि ने, इसके विपरीत, मुख्यतः प्रकृति के पौरुषमय कठोर रूप को अपनी कल्पना का विषय बनाया है। केदार की 'गेहूँ' शीर्षक कविता का इस दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान है। इस कविता में 'गेहूँ' को उन्होंने लाल फौज के एक सेनानी के रूप में चित्रित किया है, जो कि ताकत से मुट्ठी बाँधे हुए-नोकीले भाले ताने हुए सर सिरे को झूम रहा है।[5]

प्रकृति का पौरुष-रूप

'दिनकर' ने भी 'हिमालय' को 'पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल' का रूप दिया और उससे अँगड़ाई लेकर उठ जाने का आग्रह किया :

---

१. युग की गंगा : पृष्ठ १३-१४
२. देखिये — निराला की 'बादल राग' शीर्षक कविताएँ।
३. पर्यालोचन : शिल्प और दर्शन : पृष्ठ १७
४. देखिये — महादेवी की "बसन्त रजनी" "विभावरी" आदि कविताएँ
५. आर पार चौड़े खेतों में
चारों ओर दिशाएँ घेरे

ले अँगड़ाई, उठ, हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट, हुंकार भरे,
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद ।[1]

झंझा, तूफान और आँधी को तो क्रान्तिकारी अथवा विध्वंसक शक्ति के पौरुषमय रूप में अनेक प्रगतिशील कवियों ने चित्रित किया। डा० महेन्द्र भटनागर ने आँधी के क्रान्तिकारी पौरुषमय रूप की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है :

बड़ा शोर करती उठी आज आँधी,
क्षितिज से क्षितिज तक घिरी आज आँधी,
समुन्दर जिसे देख कर खिलखिलाया,
निखिल सृष्टि काँपी प्रलय-भय समाया,
पुराने भवन सब गिरे लड़खड़ा कर
बड़ी तेज आई हवाएँ हहर कर,
दिवाकर किसी का छिपा थाम दामन,
दहलता भयावह बना विश्व-आँगन ।[2]

श्री नागार्जुन ने 'बादल को घिरते देखा है' शीर्षक कविता में 'बादल' के संघर्ष रत रूप को प्रकट करते हुए लिखा है :

मैंने तो भीषण जाड़ों में, नभ चुम्बी कैलाश-शीर्ष पर
महामेघ को झंझानिल से गरज-गरज भिड़ते देखा है ।[3]

प्रकृति के उक्त रूपों के अतिरिक्त प्रगतिशील कवि ने छायावादी कवि के

लाखों की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है ।
ताकत के मुट्ठी बाँधे है,
नोकीले भाले ताने है ।
हिम्मतवाली लाल फौज-सा
मर-मिटने को झूम रहा है — *युग की गंगा* : पृष्ठ १६

१. चक्रवाल : पृष्ठ ९
२. आँधी : नई चेतना : पृष्ठ २०
३. रूपाम्बरा : पृष्ठ २७९

समान प्रकृति के स्पर्श, गंध तथा नाद-चित्र भी प्रस्तुत कर अपनी सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है। ये चित्र यह स्पष्ट करते हैं कि प्रगतिशील कवि की दृष्टि मात्र उपयोगिता की स्थूल भावना से ही आच्छन्न नहीं रही है, उसकी सौन्दर्य संवेदना भी पर्याप्त परिष्कृत है। हाँ, यह अवश्य है कि उसकी यह सौंदर्य-संवेदना उसकी उत्तर कालीन रचनाओं में ही विशेष दिखाई देती है। उसकी प्रारम्भिक रचनाओं में उसके द्वारा सौंदर्य-बोध का परिचय कम ही मिलता है। उसकी इस सूक्ष्म सौंदर्य-योजना का चित्र देखिए :—

प्रकृति के वर्ण, स्पर्श, गंध तथा नाद–चित्र

१. वर्ण चित्र :

(क) यह पर्वत पर्यंक हरित मखमली सुहावन – सुमन[१]

(ख) कपिल गहगहे विमल फूल खिलखिला रहे हैं – त्रिलोचन[२]

(ग) ये धूसर, साँवर मटियाली काली धरती – गिरिजाकुमार माथुर[३]

(घ) सोना ही सोना छाया आकाश में
पश्चिम में सोने का सूरज डूबता
पका रंग कंचन जैसे ताया हुआ —डा० रामविलास शर्मा[४]

(ङ) नील नभ में क्यों सुनहली कपिश संध्या झाँकती है-डा० रांगेयराघव[५]

२. स्पर्श–चित्र

(क) कच्ची मिट्टी का ठंडापन — माथुर[६]

(ख) मखमल की कोमल हरियाली — पंत[७]

(ग) पूस मास की धूप सुहावन
नरम नरम ऊनी लिबास–सी — नागार्जुन[८]

---

१. चेरापूँजी : पर आंखे नहीं भरीं : पृष्ठ ४०
२. मेंहदी और चाँदनी : रूपाम्बरा : पृष्ठ २९१
३. लैंडस्केप : धूप के धान : पृष्ठ ४
४. शारदीया : रूप—तरंग : पृष्ठ ७
५. परिचय : प्रगति १ : पृष्ठ ११५
६. लैन्डस्केप : धूप के धान पृष्ठ ५
७. ग्रामश्री : ग्राम्या : पृष्ठ ३५
८. जयति जयति जय सर्व मंगला : हंस (शा० सं० म०) : पृष्ठ १२८

३. गंधचित्र

(क) सोंधी सोंधी मिट्टी महकी गमक उठा उपवन – सुमन[1]

(ख) उड़ती भीनी तैलाक्त गंध – पन्त[2]

(ग) ज्यों सुबह ओस भीगे खेतों से आती है
मीठी हरियाली-सुगन्ध मंद हवाओं में – माथुर[3]

४. नादचित्र

(क) अणु अणु हर्षित, तृण तृण मुखरित
किसलय प्रमुदित, कलि कलि कुसुमित
भ्रमरों की गुन गुन से गुञ्जित
कोकिल कूजित मेरा उपवन
मधु ऋतु के दिन, मधु ऋतु के दिन। – सुमन[4]

(क) लहलह पालक, महमह धनिया – पन्त[5]

(ग) पत्तों के पर फड़ फड़ फड़के,
उलटे, उलड़े, टूटे। – केदार[6]

प्रगतिशील कविता में प्रकृति के इन विशिष्ट रूपों के साथ ही परम्परा से चले आये हुए प्रकृति-चित्रण के अन्य रूप भी आत्मसात हुए हैं। डा० गुलाबराय ने साहित्य में प्रकृतिचित्रण की निम्नलिखित सात विधाओं का उल्लेख किया है : १.आलम्बन रूप, २.उद्दीपन रूप ३.मानवी व्यापारों के लिए अनुकूलपृष्ठभूमि का रूप, ४.अलंकार-योजना का रूप, ५. उपदेश ग्रहण रूप,६ मानवीकरण रूप और ७.ईश्वर-सत्ता की अभिव्यक्ति का रूप।[7]

---

१. फागुन के सावन : प० श्री० न० शर्मा : पृष्ठ १८
२. ग्रामश्री : ग्राम्या : पृष्ठ १५
३. [illegible] : धूप के धान पृष्ठ ५
४. तीन दिन : पर आँखें नहीं भरीं : पृष्ठ ११
५. ग्रामश्री : ग्राम्या : पृष्ठ १६
६. तूफान : लोक और आलोक : पृष्ठ ४२
७. सिद्धान्त और अध्ययन (तीसरा संस्करण) : पृष्ठ १२४-१२५

प्रगतिशील कविता में उक्त प्रणालियों में से अन्तिम प्रणाली को छोड़कर, अन्य सब प्रणालियों का उपयोग हुआ है। प्रत्येक विधान के उदाहरण निम्न हैं:

१. आलम्बन-रूप

जब प्रकृति स्वयं कवि के भावों का आलम्बन बन कर उपस्थित होती है, तब प्रकृति के उस चित्र को हम प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण मानेंगे। अनेक प्रगतिशील कवियों ने प्रकृति के आलम्बन रूप को अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है। सुमनजी की 'तीन चित्र' तथा 'चेरापूंजी', नागार्जुन की 'बादल को घिरते देखा है', केदार की 'तूफान', पन्तजी की 'ग्राम-श्री', 'दो मित्र' 'संध्या में नीम', डा० महेन्द्र भटनागर की 'प्रभात', 'फूलश्री', त्रिलोचन की 'धूप सुन्दर, धूप में जगरूप सुन्दर', 'मेंहदी और चांदनी', 'आँखों के आगे', भवानी मिश्र की 'नर्मदा के चित्र', 'सतपुड़ा के जंगल'—आदि कविताएँ प्रकृति के आलम्बन रूप की ही उदाहरण हैं। यहाँ भवानी मिश्र की 'सतपुड़ा के जंगल' तथा डा० महेन्द्र भटनागर की 'फूल-श्री' कविताओं की कुछ पंक्तियाँ देखिए:

१.
झाड़ ऊँचे और नीचे
चुप खड़े हैं आँख मींचे,
घास चुप है, कास चुप है
मूक शाल, पलाश चुप है,
बन सके तो धँसो इनमें
धँस न पाती हवा जिनमें
सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए से
ऊँघते, अनमने जंगल।[1]

२.
हजार शाख बेशुमार
हिल रहीं कतार पर कतार
पा पवन दुलार-प्यार
सन-सनन उठी पुकार
भर गया उभार
री, उभर रही सरस युवा-नारी,

---

१. गीत-फरोश : पृष्ठ ६१

सोफिया हरी हरी
डाल डाल आजरी भरी।[1]

२. उद्दीपन

जब प्रकृति का चित्रण मानव हृदय में स्थित भावों को उद्दीप्त करने की दृष्टि से किया जाता है तो उसे प्रकृति का उद्दीपन-रूप कहते हैं। प्रकृति-चित्रण की यह प्रणाली हिन्दी साहित्य में उसके 'आदिकाल' से ही प्रचलित है। इस कोटि के अन्तर्गत प्रकृति का अधिकतर उपयोग -शृंगार-रस अथवा रति-भाव का उद्दीपन-सामग्री के रूप में ही हुआ है। 'सुमनजी' की 'शरद सी तुम कर रही होगी कहीं शृंगार', 'आज रात भर बरसे बादल', 'आज की साँझ सलोनी बड़ी मन-भावन री', गिरिजाकुमार माथुर की 'हेमन्ती पूनो' 'सावन की रात', 'तीन ऋतु चित्र', 'सिंधुतट की रात', 'रात हेमंत की', रांगेय राघव की 'फागुन', महेन्द्र भटनागर की 'शिशिर की रात (१) (२)', 'वसंत', 'छा गये बादल' चांदनी में', 'मेरा चाँद' भवानी मिश्र की 'मंगल वर्षा'—आदि रचनाओं को प्रकृति के उद्दीपन रूप के अंतर्गत लिया जा सकता है। श्री गिरिजाकुमार माथुर की 'सावन की रात' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियों में प्रकृति का यह उद्दीपन रूप देखिए :

नीली बिजली मेंघों वाली झींगुर की गुंजार
घुंघ भरा साँवर सूनापन हवा लहरियों दार
घन घुमड़न भुज-बंधन के उन्माद-सी
बढ़ती आती रात तुम्हारी याद-सी।[2]

श्री रांगेय राघव की 'फागुन' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं :

पिया चली फगनौटी कैसी गन्ध उमंग भरी
डफ पर बजते नये बोल, ज्यों चमकी नयी फरी।
चन्दन की रूपहली ज्योति है रस से भीग गयी
कोयल की मदभरी तान है टीसें सींच गयी।[3]

---

१. टूटती शृंखलायें (द्वितीय संस्करण) : पृष्ठ ७७
२. धूप के धान : पृष्ठ १०९
३. फागुन : रूपाम्बरा : पृष्ठ ३१४

३. पृष्ठभूमि-रूप

इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रकृति-चित्रण में प्रकृति का उपयोग प्रायः आगे आने वाले भावों या मानव-व्यापारों की आधार-भूमि प्रस्तुत करने के लिए होता है। श्री गिरिजाकुमार माथुर 'कविता में प्रथम उसकी आधार-भूमि-निर्माण' के कार्य को ही महत्वपूर्ण समझते हैं। उनकी 'क्वार की दोपहरी', 'रेडियम की छाया' 'ढाकवनी' आदि कविताओं में इसी तरह का प्रकृति-चित्रण उपलब्ध होता है। पंतजी की 'ग्राम-चित्र' या 'संध्या के बाद' शीर्षक कविताओं में भी प्रकृति का यही पृष्ठभूमि रूप उभरा है। 'ग्राम-चित्र' की प्रथम छः पंक्तियाँ इस पृष्ठभूमि को ही रेखांकित करती हैं :

> यहाँ नहीं है चहल पहल वैभव विस्मित जीवन की,
> यहाँ डोलती वायु म्लान सौरभ-मर्मर ले वन की।
> आता मौन प्रभात अकेला, संध्या भरी उदासी,
> यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया-सी।
> यहाँ नहीं विद्युत-दीपों का दिवस निशा में निर्मित,
> अँधियारी में रहती गहरी अँधियाली भय कल्पित।

डा० रामविलास शर्मा की 'प्रत्यूष के पूर्व', 'कतकी', 'किसान कवि और उसका पुत्र', 'बैसवाड़ा' 'डलमऊ में गंगा'—आदि कविताओं में भी प्रकृति के पृष्ठभूमि-रूप को देखा जा सकता है।

४. अलंकार–योजना का रूप

उद्दीपन के समान प्रकृति का अलंकार-योजना के रूप में उपयोग भी हिन्दी साहित्य के 'आदिकाल' से ही उपलब्ध होता है। इस रूप के अन्तर्गत प्रकृति के उपकरणों का उपयोग काव्य में उपमानों अथवा प्रतीकों के रूप में किया जाता है। हिन्दी के प्रायः प्रत्येक कवि ने प्रकृति का अलंकार-योजना के रूप में उपयोग किया है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

१. कांस-सी मेरी व्यथा बिखरी चतुर्दिक
   बाढ़-सा उमड़ा हृदयगत प्यार

---

१. तार सप्तक : पृष्ठ ४०
२. ग्राम्या : पृष्ठ १६

मेघ भादों के झमाझम झर रहे जो
शरद-सी तुम कर रही होगी कहीं श्रृंगार।[1]

२. युग-रात्रि निश्चय
विश्व के प्रत्येक नभ से मिट गई
अभिनव प्रखर स्वर्णिम किरण बन
दमदमाती आरही संस्कृति नई :[2]

३. सड़े घूर के गोबर की बदबू से दब कर
महक जिन्दगी के गुलाब की मर जाती है।[3]

५ उपदेश-ग्रहण-रूप

प्रगतिशील कवि ने चूंकि प्रकृति को प्रेरक तत्व के रूप में ग्रहण किया है, इसलिए अनेक स्थानों पर उसने प्रकृति के उपदेशात्मक रूप को भी प्रस्तुत किया है। त्रिलोचन की निम्न पंक्तियों में प्रकृति का उपदेशात्मक रूप ही व्यञ्जित हुआ है :

लहरों का क्षण-कालिक जीवन
किन्तु अमिट है उस की कम्पन
हम भी अपने त्रिश-कम्प से
दें प्रोत्साहन, दें नव-जीवन।[4]

इसी प्रकार श्री भारत भूषण अग्रवाल की निम्न पंक्तियाँ भी प्रकृति के उपदेशात्मक रूप को प्रकट करती हैं :

बरसते बादल, सरसती वायु पल तन्मय
खोल रे, कुछ खोल गाँठें, बाँट कुछ संचय
बाँट रे, जग माँगता है आज रस की भीख
भरे दिल ओ, भरे बादल से किया यह सीख
सीख, अन्तर की विकल घुमड़न बने रस-दान

---

१. सुमन : पर आँखें नहीं भरीं : पृष्ठ २९
२. महेन्द्र भटनागर : नई संस्कृति . नई चेतना : पृष्ठ ७६
३. केदार : गाँव में : युग की गंगा : पृष्ठ ३०
४. धरती : पृष्ठ ३

तप्त भावोच्छ्वास झुक, भेंटे धरा के प्राण,
लघु हृदय की लहर छू ले फैल नभ के छोर
सफल हो यह साध कण कण को अमृत में बोर[1]

६. प्रकृति का सचेतन तथा मानवीकरण रूप

जड़ प्रकृति में जब सचेतन मानव-व्यक्तित्व का आरोपण कर उसका चित्रण किया जाता है, तब वह चित्रण, प्रकृति-चित्रण की इस विधा के अन्तर्गत आता है। प्रकृति के मानवीकरण का यह रूप हिन्दी काव्य में अपने मौलिक रूप में सर्वप्रथम छायावादी भावधारा का एक अंग बनकर उपस्थित हुआ। प्रगतिशील कवि ने भी छायावाद के इस विशिष्ट तत्व को ग्रहण किया है। सुमनजी ने अपनी चेरापूँजी शीर्षक कविता में यत्रतत्र इस मानवीय चेतना का आरोपण किया है। निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :

अम्बर अवनी मुग्ध परस्पर पुलकन-चुम्बन।
कुहरांचल में मेघ-मनुज करते आलिंगन।[2]

केदारनाथ अग्रवाल के एक अत्यंत मोहक मानवीकरण-रूप में प्रस्तुत प्रकृति-चित्र की निम्न पंक्तियाँ भी देखिए :

खड़ी देख अलसी
लिये शीश कलसी
मुझे खूब सूझी :
हिलाया डुलाया
गिरी पर न कलसी।
इसी हार को पा
हिलाई न सरसों
झुलाई न सरसों,
मजा आ गया तब
न सुध बुध रही कुछ
बसन्ती नवेली

---

१. बोल ओ बन्दी : हंस : दिसम्बर, १९४६ : पृष्ठ २२९
२. पर आँखें नहीं भरीं : पृष्ठ ४२

भरे गात में यो,
हवा हूँ, हवा मैं
बसन्ती हवा हूँ।[1]

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रगतिशील कवि ने प्रकृति के परम्परागत रूप में नवीन दृष्टि-भंगिमा का समावेश किया है और उसे लोक-जीवन की भूमि पर उतार कर उसके सौन्दर्य-आपूरित रूप के साथ ही मंगलमय रूप को भी अपनी शब्द-रेखाओं में बाँधा है।

---

१. बसन्ती हवा : युग की गंगा : पृष्ठ १४

८

सौन्दर्य-बोध और शिल्प

हिन्दी काव्य-क्षेत्र में, प्रगतिशील हिन्दी कविता ने, जिस प्रकार युग-चेतना के अनुरूप नवीन भाव-बोध की प्रतिष्ठा की, उसी प्रकार सौन्दर्य-बोध और शिल्प चेतना के क्षेत्र में भी उसने अपनी नवीन युगानुकूल दृष्टि का परिचय दिया है। जैसे, प्रगतिशील कविता पर सबसे बड़ा आरोप ही यह लगाया जाता है कि उसने काव्यगत सौन्दर्य मूल्यों की उपेक्षा की और साहित्येत्तर प्रमिमानों की ओर अधिक आकृष्ट रहने के कारण शिल्पगत अलंकरण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। प्रगतिशील कवि 'दिनकर, ने प्रगतिशील कविता पर इसी प्रकार का आरोप लगाते हुए लिखा है : "प्रगतिवाद का खास जोर कवियों के सामाजिक विचार पर था। उसे इस बात की प्रायः कोई चिन्ता नहीं थी कि ये विचार शुद्ध कविता की शैली में व्यक्त हो रहे हैं या गद्य-कल्प-रीति से।"[१] डा० केसरीनारायण शुक्ल ने भी प्रगतिशील कविता में विचारों को प्रभावपूर्ण बनाने वाले काव्यात्मक उपकरणों की न्यूनता का उल्लेख किया है।[२] वस्तुतः प्रगतिशील कवि ने, जैसा कि हम पिछले पृष्ठों मे विवेचित कर भी चुके हैं,[३] सिद्धान्ततः ही रूप-विधान की तुलना में गौण स्थान दिया है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'आधुनिक कवि-२' की भूमिका 'पर्यालोचन' में उस समय लिखा था : "विचार और कला की तुलना में इस युग में विचारों ही को प्राधान्य मिलना चाहिए।"[४] डा० नामवरसिंह ने भी अपने 'कलात्मक सौंदर्य का आधार' शीर्षक निबन्ध में रूप-विधान पर बल देने की प्रवृत्ति के वास्तविक तात्पर्य का रहस्य-भेदन करते हुए यही निष्कर्ष निकाला कि :

---

१. काव्य की भूमिका : पृष्ठ ६४
२. आ० हि० का० धा० का सा० स्रोत (द्वि० सं०) : पृष्ठ १४७
३. देखिए : अध्याय क्रमांक—४
४. शिल्प और दर्शन : पृष्ठ ४९

—"रूप विधान पर विशेष बल देना गलत है
—विषय-वस्तु पर बल देना ही सही भूमिका है।"[1]

श्री केदारनाथ अग्रवाल का निम्न कथन भी उक्त धारणा को ही पुष्ट बनाता है। "......अब हिन्दी की कविता न 'रस' की प्यासी है, न 'अलंकार' की इच्छुक है, और न 'संगीत' की तुकान्त पदावली की भूखी है। भगवान अब उसके लिए व्यर्थ हैं।......अब वह चाहती है—किसान की वाणी, मजदूर की वाणी और जन-जन की वाणी।"[2]

प्रगतिशील कवि की सौन्दर्य और शिल्प के प्रति इस प्रारम्भिक दृष्टि ने अवश्य ही अनेक रचनाओं को केवल स्थूल प्रचार का स्वर दिया और वे कलात्मक नैपुण्य की दृष्टि से उच्चकोटि की सिद्ध न हो सकीं। लेकिन बाद में प्रगतिशील आलोचकों और कवियों-दोनों की दृष्टि अधिक परिष्कृत हुई है और उन्होंने कविता को कलात्मक सौन्दर्य-चेतना से संपृक्त बनाने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। स्वयं केदारनाथ अग्रवाल ने 'लोक और आलोक' की भूमिका 'अपनी बात' में यह स्वीकार किया कि 'यथार्थ का निर्वाह तभी प्रभावपूर्ण शब्दों में, छन्दों में हो सकता है, जब क्लासिक की वह कमनीयता और गम्भीरता उसे प्रदान की जाये।"[3] साथ ही क्लासिक के इस प्रभाव को उन्होंने 'प्रगतिवाद के स्वस्थ विकास के लिए' 'लाभदायक' ही माना है, अहितकर नहीं[4]। प्रगतिशील समीक्षकों ने भी बाद में काव्य-सौन्दर्य की आवश्यकता पर जोर दिया और वस्तु की यथार्थ-व्यंजना के साथ ही उसे कलात्मक उपकरणों से सुसज्जित करना भी आवश्यक ठहराया। श्री शिवदानसिंह चौहान ने तो यथार्थवाद के स्वरूप का विवेचन करते हुये स्पष्ट रूप से लिखा कि 'यथार्थवाद कलाहीन, मानव अनुभूतियों से शून्य, नीरस साहित्य की रचना नहीं है, न राजनीतिक इश्तहारबाजी का नाम यथार्थवाद है।[5] डा० रामविलास शर्मा ने भी बाद में 'केवल विचारधारा सम्बन्धी एक तत्व को ही महत्वपूर्ण समझने तथा संस्कारों और कलात्मक सौन्दर्य की उपेक्षा' करने की मनोवृत्ति को 'यांत्रिक भौतिकवाद' का ही लक्षण माना।[6] कहने का तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ में अवश्य ही प्रगतिशील कवि सौन्दर्य-चेतना की ओर से उदासीन रहा, परन्तु शीघ्र ही उसने अपनी परिवर्तित सौन्दर्य-दृष्टि के अनुरूप नवीन कलात्मक सौन्दर्य से अपनी कृतियों

---

१. इतिहास और आलोचना (प्र० सं०) पृष्ठ २८
२. प्राक्कथन : युग की गंगा : पृष्ठ ८ ग
३. अपनी बात : लोक और आलोक : पृष्ठ ६
४. वही : वही : पृष्ठ ६
५. साहित्य की समस्यायें : पृष्ठ ६५
६. सम्पादकीय : समालोचक : मई १९५९ : पृष्ठ ४

को सँवारने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उसका प्रमुख लक्ष्य 'सामाजिक यथार्थ' की अवतारणा ही रहा, लेकिन कलात्मक सौन्दर्य को इस 'सामाजिक यथार्थ' का ही एक अंग मानकर उसने उसे भी अपनी दृष्टि सीमा में घेर लिया। अतएव कतिपय अभावों के होते हुये भी, वह सौन्दर्य-बोध और शिल्प के क्षेत्र में एक नवीन चेतना की प्रतिष्ठा कर सका।

सौन्दर्य बोध :

✓ साधारणतः सुन्दर और सुगठित वस्तु के मानव-मन को आकर्षित करनेवाले सामान्य धर्म को 'सौन्दर्य' की संज्ञा प्रदान की जाती है। लेकिन सौन्दर्य-सत्ता की अवस्थिति के सम्बन्ध में विवेचकों ने अपना भिन्न-भिन्न मत प्रकट किया है। यदि किसी ने सौन्दर्य को पूर्णतः आन्तरिक या मानसिक सत्ता के रूप में देखा और उसे विषयीगत माना, तो किसी अन्य ने वस्तुगत सत्ता के रूप में उसकी अवस्थिति मान कर उसे भौतिक और विषयगत आधार पर स्थित किया। उदाहरणतः 'क्रोचे' सौन्दर्य की भौतिक और वस्तुगत सत्ता मानने से इन्कार किया है। उसने सौन्दर्य को मूलतः एक मानसिक या आत्मिक तथ्य के रूप में ही ग्रहण किया।[1] बिहारी ने भी अपने एक दोहे में सौन्दर्य की इसी 'विषयीगत' सत्ता का ही प्रतिपादन किया है :

> समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूपु न कोई।
> मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ ॥[2]

इसके विपरीत, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सौन्दर्य की वस्तुगत व्याख्या प्रस्तुत की। वे सौन्दर्य को सुन्दर वस्तु से पृथक सत्ता के रूप में मान्यता प्रदान नहीं करते। उनका मत है : "जैसे वीर कर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। ...... जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से

---

1. "The beautiful is not a physical fact, beauty does not belong to things, it belongs to the human aesthetic activity, and this is a mental or spiritual fact" ......

   पं० बलदेव उपाध्याय कृत 'भारतीय साहित्य शास्त्र,' : द्वितीय खण्ड पृष्ठ ४२१ से उद्धृत

२. बिहारी-रत्नाकर — दो ४३२
३. चिन्तामणि : पहला भाग (सन् १९२६) : पृष्ठ १६४—१६५

तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।[१] डा० सम्पूर्णानन्द ने भी सौन्दर्य को विषयगत ही माना है। सौन्दर्य की विवेचना करते हुए उन्होंने लिखा है: "कुछ ऐसे दृश्यिविषय हैं जिनको देखकर हृदय में रस का संचार होता है। .... हम इन सब में जो मनोहारिता पाते है उसको सौन्दर्य कहते हैं।"[२] कुछ अन्य विद्वानों ने उक्त दोनों धारणाओं में समन्वय भी स्थापित किया। डा० गुलाब राय ने उक्त विरोधी धारणाओं मे सामञ्जस्य की स्थिति सम्भव मानी है। उनका कथन है "वस्तुतः इस विषयीगतता और विषयगतता का नितान्त विरोध भी नही है, क्योंकि बहुत से लोगों का विषयीगत 'सौन्दर्य' (और सत्य) विषयगत बन जाता है। गुलाब की लालिमा चाहे मानसिक भ्रम या आभास हो, किन्तु वह सबका भ्रम है। सब की प्राति-भासिक सत्ता व्यावहारिक वास्तविकता बन जाती है, इसलिए विषयीगतता और विषयगतता में सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है।"[३] श्री रामानन्द तिवारी भी सौन्दर्य को — वस्तुवादी तथा अनुभूतिवादी — दोनों ही व्याख्याओं को असंतोषजनक मानते हैं और इन दोनों धारणाओं के समन्वय को कठिन अवश्य, किन्तु असम्भव नहीं मानते।[४]

आधुनिक काल को हिन्दी कविता में उक्त दोनों धारणाएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं। भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग में सौन्दर्य को उसके वस्तुगत रूप में ही प्रतिष्ठा की गई थी। रीतियुग के कवि की सौन्दर्य-भावना भी यद्यपि वस्तुगत ही थी, लेकिन उसकी दृष्टि केवल नारी के मादक रूप-सौन्दर्य तक ही सीमित थी। उनकी विलासलोलुप दृष्टि नारी-शरीर के तीन फुट के नख शिख के संसार से बाहर न जा सकी।[५] भारतेन्दु-युग में अवश्य ही जीवन-सौन्दर्य का आयाम अधिक व्यापक हुआ, लेकिन अधिकांश में परम्परागत रूप-सृष्टि का व्यापार ही चलता रहा। द्विवेदी-युग की सौन्दर्य-दृष्टि नैतिकता के आतंक से सहमी हुई प्रतीत होती है। फिर भी उस युग, कवियों ने अपनी सौन्दर्य-परिधि के अन्तर्गत नारी और पुरुष, देश और प्रकृति

आधुनिक काव्य की सौन्दर्य दृष्टि

---

१. चिन्तामणि : पहला भाग (सन् १९६६) : पृष्ठ १६४—६५
२. चिद्विलास : पृष्ठ २०९
३. सौन्दर्यानुभूति : सामलोचक (सौन्दर्य शास्त्र विशेषांक) : फरवरी १९५८ : पृष्ठ ६
४. कला और सौन्दर्य : वही वही : पृ० ४२
५. पन्त : प्रवेश : शिल्प और दर्शन : पृ० ७.

व्यक्ति और समाज को समेट लिया। उनकी सौन्दर्य-भावना का सबसे अधिक प्रगतिशील तत्व यह है कि उन्होंने केवल 'महत्' वस्तुओं में ही सौन्दर्य का दर्शन नहीं किया, लेकिन जीवन के लघुरूपों को भी उसी आग्रह और ममत्व के साथ अपनाया। 'निम्न जीवन के सादे चित्रों में से सौन्दर्य-संग्रह का कार्य' कवियों ने विशेष उत्साह के साथ किया।[१] इसके पश्चात छायावादी काव्य में सौन्दर्य के विपर्यीगत रूप को प्रधानता मिली। छायावादी कवि ने सौन्दर्य के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण को अपनाया और उसे वस्तु की सत्ता से पृथक कर द्रष्टा के मन में ही अवस्थित देखा। प्रसादजी द्वारा प्रस्तुत सौन्दर्य की परिभाषा छायावादी कवि की भावात्मक तथा आत्मपरक दृष्टि का ही प्रतिनिधित्व करती है :

> उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
> जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।[२]

छायावादी कवि की इस सौन्दर्य-दृष्टि ने द्विवेदी युग की जन सामान्योन्मु दृष्टि के विपरीत जीवन और प्रकृति की महत्तम तथा रुचिकर वस्तुओं ही अपनी परिधि में प्रविष्ट किया। यद्यपि उसने भावावेश में आकर अवश्य लिखा था :

> धूल की ढेरी में अन जान
> छिपे हैं मेरे मधुमय गान।[३]

लेकिन यह सिद्धान्त-कथन मात्र ही रहा, व्यावहारिक रूप में व 'बादल', 'छाया', 'अप्सरा' 'नक्षत्र'[४] —आदि में ही सौन्दर्य का दर्शन करत रहा। साथ ही अत्यधिक भावात्मक चेतना के परिणाम-स्वरूप उसके सौन्दर्य-चित्र अस्पष्ट और धूमिल हो गए हैं। वे 'पन्त' की 'अप्सरा' के समान ही 'विस्मयाकार', 'अकथ', 'अलौकिक' और 'अगोचर' बन गए हैं।[५] कहीं कहीं तो छायावादी

---

१. द्रष्टव्य : आ० हि० क० में प्रेम और सौन्दर्य : डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल : पृष्ठ २९८–९९
२. कामायनी (एकादश सं०) : लज्जा सर्ग : पृष्ठ ११२
३. पन्त : उच्छ्वास : पल्लव (ष० वृत्ति) : पृष्ठ ४
४. देखिए : पन्त जी की इन्हीं शीर्षकों की कवितायें
५. निखिल कल्पनामयि अयि अप्सरि, अखिल विस्मयाकार
अकथ, अलौकिक, अमर, अगोचर, भावों की आधार।
—अप्सरा : पल्लविनी : प्र० सं० : पृष्ठ ११७

कवि के 'सौन्दर्य' ने ऐसा स्वर्गीय रूप ग्रहण कर लिया है कि वह 'कनक-किरण के अन्तराल, में ही 'लुक छिपकर' चलने लगता है।[1]

प्रगतिशील कविता में छायावाद की उक्त आत्म-निष्ठा के भावात्मक दृष्टि के विरुद्ध पुनः प्रतिक्रिया का दर्शन होता है। प्रगतिशील कवि की दृष्टि मूलतः यथार्थ-ग्राहिका रही है, इसलिए उसकी सौन्दर्य-दृष्टि भी वस्तुपरक अधिक रही, आत्मपरक कम। डा० नगेन्द्र ने शायद इसी दृष्टि से प्रगतिवाद को सूक्ष्म के प्रति स्थूल का विद्रोह[2] माना है। वैसे, प्रगतिशील आलोचक डा० रामविलास शर्मा ने 'सौन्दर्य-बोध' को एक *'संश्लिष्ट इकाई' के रूप में ग्रहण किया है।* उन्होंने सौन्दर्य की सत्ता प्रकृति में भी मानी है और मनुष्य के मन में भी। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य की अनुभूति व्यक्तिगत भी होती है और समाजगत भी।[3] इस प्रकार उन्होंने सौन्दर्य की समन्वयवादी धारणा की ही पुष्टि की है। लेकिन व्यावहारिक रूप में प्रगतिशील कवि ने सौन्दर्य के आत्मपरक रूप को प्रस्तुत करने की अपेक्षा उसके वस्तुगत रूप को ही प्रधानता प्रदान की।

प्रगतिशील कविता की सौन्दर्य-दृष्टि.

प्रगतिशील कवि की सौन्दर्य-दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने सौन्दर्य को मात्र काल्पनिक या स्वर्गीय रूप देने की अपेक्षा उसे जीवन और धरती के ठोस धरातल पर स्थापित किया। छायावादी कवि, जहाँ जीवन के संघर्षों से दूर रह कर सौन्दर्य-लोक में ही विचरण करने की आकांक्षा रखता था, वहाँ अब प्रगतिशील कवि को 'जीवन-संघर्ष' में ही 'सुख और सौन्दर्य' का दर्शन होने लगा। पन्त जी की 'नव-दृष्टि' शीर्षक कविता में इस नवीन सौन्दर्य-दृष्टि की ही व्यञ्जना हुई है :

> खुल गए छन्द के बंध
> प्रास के रजत-पाश
> अब गीत मुक्त,
> औ, युग-वाणी बहती अयास।

---

१. तुम कनक-किरण के अन्तराल में लुक छिपकर चलते हो क्यों ?
—प्रसाद : चन्द्रगुप्त : पृष्ठ ५४

२. आ० हि० साहित्य (अभिनव भारतीय ग्रन्थमाला) : पृष्ठ १३०

३. सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास : समालोचक (डा० रा० वि०) फरवरी १९५८ : पृष्ठ १८३

बन गए कलात्मक भाव
जगत के रूप-नाम
जीवन-संघर्षण देता सुख
लगता ललाम।
सुन्दर, शिव, सत्य
कला के कल्पित माप-मान
बन गए स्थूल,
जग-जीवन से हो एक प्राण :[1]

अपनी इस जीवनोन्मुख दृष्टि के कारण उसने जीवन की लघु से लघु औ
तुच्छ से तुच्छ वस्तु को भी महत्त्व प्रदान किया और उसे वे सुन्दर प्रतीत हो
लगीं। एक ओर उसने जहां 'पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर, पत्थर और कूड़
करकट' तक को 'सार्थक' तथा 'सुन्दर' बताया[2] वहीं उसने शोषित-पीड़ि
व्यक्तियों के प्रति भी अपने मोह का प्रदर्शन किया।[3] यही कारण है कि उसने य
एक ओर 'मधुर और मसृण रूपों में आकर्षण पाया तो कठिन, कराल, ज्वलं
और प्रखर रूप को भी बड़ी आस्था के साथ अपनाया। प्रगतिशील कवि की यह
व्यापक सौंदर्य-दृष्टि नवीन जी की निम्न कविता में बड़ी स्पष्टता के साथ व्यक्त
हुई है।

ओ सौन्दर्य उपासक, तुमने सुन्दर का स्वरूप क्या जाना।
मधुर मंजु, सुकुमार, मृदुल ही को क्या तुमने सुन्दर माना ?
क्यों देते हो चिर सुन्दर को इतने छोटे सीमा-बंधन ?
कठिन, कराल, ज्वलंत, प्रखर भी, है सौन्दर्य-संकेत चिरंतन।
कल-कल, ठल-मल, सर-सर, मर्मर, यही नहीं सुन्दर की वाणी।

---

१. युगवाणी (प्र० सं०) : पृष्ठ १५

२. पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर-पत्थर
कूड़ा-करकट सब कुछ भू पर लगता सार्थक सुन्दर।
—पन्त : मानवपन : युगवाणी : पृष्ठ २९

३. आज असुन्दर लगते सुन्दर, प्रिय पीड़ित, शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव-मुख हरता मन।
—वही : वही : मूल्यांकन : पृष्ठ ३५

इन्द्र वज्र–ध्वनि भी है उसकी, गहन गम्भीर गिरा कल्याणी।
क्या सुन्दर बोला है तुमसे अब तक केवल विहँस–विहँस कर?
क्या तुमने न लखा है अब तक सुन्दर का विकराल स्वयंवर?
है जीवन के एक हाथ में, मधुर जीवनामृत का प्याला
और दूसरे कर में उसके, है कटु मरण–हलाहल–हाला।
एक आँख से निकल रही है, सर्व दहन की वन्हि अपारा।
और दूसरी से बहती है, नित्य करुण–जल कल कल धारा।
चिर सुन्दर के किस स्वरूप का, कहो, करोगे, तुम अभिनन्दन?
सदा रहेगा क्या सीमित ही, तव पूजन, अर्चन, अभिनन्दन? [1]

शिल्प-विधान

आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता का शिल्प-विधान उसकी उक्त सौन्द से ही प्रभावित और प्रेरित हुआ है। उसके शिल्प-विधान का अध्ययन निम्न शीर्षक के अन्तर्गत सुविधापूर्वक किया जा सकता है:

१. काव्य-रूप
२. बिम्ब-योजना
३. अलंकार–योजना
४. प्रतीक-योजना
५. छंद–विधान, और
६. भाषा–शैली

१. काव्य-रूप

आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता में मुख्य रूप से निम्नलिखित काव्यरू की योजना हुई है: (क) आख्यानक काव्य (ख) गीति काव्य, (ग) मुक्तक काव्य, औ (घ) रूपक काव्य।

(क) आख्यानक काव्य: प्रगतिशील कवि द्वारा रचित प्रबन्ध काव्यों क महाकाव्य या खण्डकाव्य की शास्त्रीय परिभाषा के अन्तर्गत पूरी तरह से नहीं लिय जा सकता। वस्तुतः उन्होंने महाकाव्य या खण्डकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों को ध्यान रखकर अपनी कृतियों की रचना भी नहीं की है। इसलिए इन काव्यों को महाकाव या खण्डकाव्य की संज्ञा देने की अपेक्षा 'आख्यानक काव्य' के नाम से ही पुकारन अधिक उचित होगा।

---

१. सुंदर: हम विषपायी जनम के; पृ० ११७–११९

प्रगतिशील कवियों में केवल दिनकर और रांगेय राघव ने ही आख्यानक काव्यों की रचना की है। दिनकर द्वारा प्रणीत आख्यानक काव्य है—कुरुक्षेत्र और रश्मि रथी। यद्यपि इधर उन्होंने एक अन्य आख्यानक काव्य 'उर्वशी' की भी रचना की है, लेकिन उसे 'प्रगतिशील काव्य' की संज्ञा से सर्वोपरि करना ठीक नहीं है। उसमें प्रेम और सौन्दर्य की समस्या का विवेचन जीवन के धरातल से पृथक करके निरपेक्ष रूप में किया गया है। इस सम्बन्ध में श्री केदारनाथ अग्रवाल का मत उल्लेखनीय है : "उर्वशी : दिनकर की यह पुस्तक प्रगतिशील है या नहीं ? गम्भीर प्रश्न है। मैं कहूँगा कि यह प्रगतिशील काव्य नहीं है। यह कविता है परन्तु प्रगतिशील नहीं। कारण यह है कि उसमें सौन्दर्य और भोग की समस्या को जीवन के धरातल पर उतार कर काव्यात्मक नहीं बनाया गया। यह समस्याएँ एक दार्शनिक भाव-भूमि पर परम्परा और प्रवृत्तियों के बल पर, उभारी और सुलझायी गई हैं। विषय-वस्तु युग-सत्य से विलग है। उसका रूप-सौन्दर्य केवल विचार-भूमि पर,कल्पना से सजकर, वाक्-स्फुरण बन गया है।"[1] डा० इन्द्रनाथ मदान ने भी इस कृति को व्यक्ति-चिन्तन से अधिक अनुप्राणित माना है। उनका कथन है : "इसमें पुरुवा जो सनातन नर का प्रतीक है, और उर्वशी जो सनातन नारी की प्रतीक है, दिनकर की जीवन-दृष्टि पर आलोक डालते हैं। इस रचना में कवि की जीवन-दृष्टि शिवं की अपेक्षा सुन्दरं की ओर उन्मुख है। समष्टि-चिन्तन की अपेक्षा-व्यष्टि चिन्तन से अनुप्राणित है इसलिए इसमें सोद्देश्यता तथा उपयोगिता का स्वर, जो कुरुक्षेत्र में सशक्त है, शिथिल हो जाता।[2] कुरुक्षेत्र मूलत: एक समस्या मूलक काव्य है, जिसमें कि आधुनिक युग की एक सर्वाधिक ज्वलन्त समस्या 'युद्ध' के सम्बन्ध में कवि ने अपने तर्क पूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। 'रश्मि-रथी' में कवि ने कर्ण के उदार चरित्र का अंकन किया है और उसे दलितों तथा पीड़ितों के नेता के रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।[3] अतएव यह काव्य भी युग-जीवन की समस्या को ही पृष्ठभूमि में रखकर गतिशील हुआ है।

---

१. श्री केदारनाथ अग्रवाल के एक पत्र से
२. आधुनिक कविता का मूल्यांकन : पृष्ठ ५४
३. यह युग दलितों और उपेक्षितों के उद्धार का युग है। अतएव, यह बहुत स्वाभाविक है कि राष्ट्र-भारती के जागरूक कवियों का ध्यान उस चरित्र की ओर जाय जो हजारों वर्षों से हमारे सामने उपेक्षित एवं कलंकित मानवता का मूक प्रतीक बन कर खड़ा रहा है।

—रश्मि रथी : तृतीय संस्करण : भूमिका : पृष्ठ (ग)

श्री रांगेय राघव की आख्यानक कृतियां तीन है : 'अजेय खण्डहर' 'मेधावी' और 'पांचाली'। 'अजेय खण्डहर' मे कवि ने 'स्तालिनग्राद' के युद्ध का सजीव वर्णन कर एक समाजवादी देश के प्रति अपने विशिष्ट प्रेम और अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का परिचय दिया है। 'मेधावी' मे जीवन का एक अत्यन्त व्यापक आयाम ग्रहण किया है। उसमें कवि के ही शब्दो मे, दर्शन, भूगोल, इतिहास, काव्य, समाजशास्त्र आदि सब का सम्मिश्रण हुआ है।[1] और, 'पांचाली' मे महाभारत के एक साधारण प्रसंग के आधार को लेकर नवीन युग की नारी, समाज, राष्ट्र, प्रेम, कर्तव्य–आदि सम्यता को ही उभारा गया है।

उक्त सभी कथा कृतियो के रचना-शिल्प में किसी मौलिक विशेषता का दर्शन नहीं होता है। हाँ, सभी मे आधुनिक युग का बौद्धिक और वैज्ञानिक वातावरण अवश्य मुखरित हुआ है।

(ख) गीति काव्य : इस युग के प्राय प्रत्येक प्रगतिशील कवि ने गीति के माध्यम को अपनाया है। इस क्षेत्र में डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, शम्भूनाथसिंह और रांगेय राघव को विशेष सफलता मिली है। इनके गीतों की प्रमुख विशेषता है–सहज सरल शब्दावली का विधान तथा लोक-धुनों को अपनाना। श्री केदारनाथ अग्रवाल का निम्न गीत उक्त दोनो विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है :

✓ धीरे उठाओ मेरी पालकी
मैं हूँ सुहागिन गोपाल की
बेला है फूलों के माल की
फूलों के माल की—
  धीरे उठाओ मेरी पालकी।
धीरे उठाओ मेरी पालकी
मैं हूँ बँसुरिया गोपाल की
बेला है गीतों के ताल की–
गीतों के ताल की—
  धीरे उठाओ मेरी पालकी।[2]

---

१. मेधावी : प्रावकथन

२. लोक और आलोक : पृष्ठ ६२

[illegible] है और इनमें ग्रामीण जीवन की भोली-भोली झलक मिलती है।

कुछ कवियों ने जन-गीतों की शैली में भी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। सुमन की [illegible] नरेन्द्र शर्मा की [illegible] शैली ही प्रस्तुत हुई है। शिवमंगल ने भी 'कजरी' का प्रयोग कर जन-शैली के प्रति अपनी रुचि का प्रदर्शन किया है। उनकी 'एक कजरी' की निम्न पंक्तियाँ देखिए

> काले काले बादल छाये, न आये वीर जवाहरलाल।
> कैसे कैसे नाग मँडराये न आये वीर जवाहरलाल।
> बिजली चमक के मन की बोली, [illegible] बोली [illegible] अँखियाँ,
> घर घर [illegible] हारे, न आये वीर जवाहरलाल।[1]

३. मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य की रचना तो प्रगतिशील कवियों की प्रमुख प्रवृत्ति ही रही है। इन मुक्तक रचनाओं को उन्होंने विशेष रूप से मुक्त छन्द में ही प्रस्तुत किया है, यद्यपि परम्परागत छन्दों का भी उन्होंने सर्वथा बहिष्कार नहीं किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन 'छन्द-विधान' के अन्तर्गत किया जायगा।

४. रूपक काव्य

रूपक-काव्य में पात्रों की योजना के द्वारा कवि अपने मूलभूत भावों की अभिव्यंजना करता है। इनमें कथातत्व की अपेक्षा भावतत्व की ही प्रमुखता होती है। इनमें कभी तो दो से अधिक पात्र होते हैं कभी केवल दो और कभी एक ही पात्र के माध्यम से भाव व्यञ्जना की जाती है, लेकिन केवल दो पात्रों के रूपक को 'संलाप काव्य' एवं एक ही पात्र की योजना होने पर उसे 'एकालाप' के नाम से भी पुकारा जाता है।

उदयशंकर भट्ट के विश्वामित्र, राधा, मत्स्य गंधा तथा 'एकला चलो रे', गिरिजाकुमार माथुर की 'इन्दूमती', दिनकर की 'हिमालय का संदेश', भारतभूषण अग्रवाल की 'शान्ति-पथ' डा० महेन्द्र भटनागर की 'ओ मजदूर किसानों' डा० शम्भूनाथसिंह का 'शान्ति के लिए युद्ध'–आदि रचनायें 'रूपक काव्य' के ही उदा-

---

[1] ...ला : पृष्ठ ५४

हरण प्रस्तुत करती है। श्री गिरिजाकुमार माथुर की 'याज्ञवल्क्य और 'गार्गी' शीर्षक कविता में एकालाप का भी प्रयोग हुआ है। डा० महेन्द्र भटनागर की 'नई जिन्दगी' शीर्षक कविता को भी 'एकालाप' काव्य रूप के अन्तर्गत ही ग्रहण किया जा सकता है।

बिम्ब-योजना

बिम्ब को सामान्यतः उस चित्र के रूप में ग्रहण किया जाता है जो कि शब्दों के माध्यम से निर्मित होता है।[1] लेकिन एक काव्यात्मक बिम्ब के लिए उसका शब्द चित्र मात्र होना पर्याप्त नहीं माना जाता। एक काव्यात्मक बिम्ब का रूप-रस-स्पर्श-गन्ध आदि एन्द्रिक गुणों से अनिवार्य सम्पर्श होना चाहिए और उसमें भावों को उद्भूत तथा उद्वेलित करने की शक्ति भी होना चाहिए। इन गुणों के अभाव में हम किसी शब्द चित्र मात्र को काव्यात्मक बिम्ब की संज्ञा नहीं दे सकते।

बिम्ब-सृष्टि का काव्य में बड़ा महत्व है। काव्य का उद्देश्य केवल 'अर्थ-ग्रहण' कराना मात्र नहीं होता। उसका असली उद्देश्य तो बिम्बग्रहण' कराना होता है।[2] कवि का उद्देश्य यह होता है कि वह अपने द्वारा अनुभूत तत्व को वैसी ही प्रभाव-क्षमता के साथ पाठक के हृदय तक पहुँचा सके और उसे रस-लीन कर सके। कवि की इस उद्देश्य-पूर्ति में बिम्ब-सृष्टि सर्वाधिक मात्रा में सहायक सिद्ध होती है। इसी-लिए आचार्य शुक्ल ने यह कहा है कि कविता में कही गई बात चित्र रूप में हमारे सामने आनी चाहिए।[3]

प्रगतिशील कवि ने भी बिम्ब-सृष्टि के इस महत्व को नकारा नहीं है। यद्यपि उसकी कुछ कविताओं में मात्र सिद्धान्त विश्लेषण की शुष्क प्रवृत्ति मुखरित हुई है, लेकिन अन्य अनेक कविताएँ बिम्ब-सृष्टि के भी सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। श्री गिरिजाकुमार माथुर, केदार और शमशेर की रचनाओं में तो आधुनिक हिन्दी

---

1. 'In its simplest form, it is a picture made out of words.'—
   C. D. Lewis : Poetic Image : Page 18.
२. 'काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है।'
   आचार्य शुक्ल कविता क्या है ? : चिन्तामणि, भाग १,पृष्ठ १४५
३. वही : पृष्ठ १७५

कविता की सुन्दरतम बिम्ब सृष्टि के दर्शन होते हैं। दिनकर जी ने भी कविता की 'चित्रमयता' पर अत्यधिक जोर दिया है। उनका कथन है 'चित्रमयता ही कविता को विज्ञान से अलग करती है। दार्शनिक और इतिहासकार जिस ज्ञान की सूचना स्थिर रूप चित्रों के भंडार में जमा करते हैं कवि उसी ज्ञान को चित्र बनाकर लोगों की आंखों के आगे तैरा देता है। जो ज्ञान चित्र में परिवर्तित नहीं किया जा सकता वह कविता के लिए बोझ बन जाता है। इसलिए, जिस कविता में जितने अधिक चित्र उठते हैं, उसकी सुन्दरता भी उतनी ही अधिक बढ़ जाती है।"[१]

प्रगतिशील कविता में उपलब्ध 'बिम्बों' को हम मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। १. वस्तु-बिम्ब, २. अलंकृत या कल्पना-बिम्ब, ३. भाव-सिक्त बिम्ब और ४. अमूर्त भावनाओं या विचारों के बिम्ब.

१. वस्तु-बिम्ब

प्रगतिशील कवि की बिम्ब-सृष्टि उसकी वस्तुगत सौंदर्य-दृष्टि से विशेष रूप से प्रभावित और प्रेरित रही है। छायावादी कवि की दृष्टि चूंकि मूलतः आत्मपरक अधिक थी, इसीलिए एक तो, उसकी दृष्टि परिधि में जीवन और प्रकृति का अत्यन्त सीमित और संकुचित क्षेत्र ही प्रविष्ट हो सका, दूसरे, उसने वस्तु के यथार्थ बिम्बों की अपेक्षा भावसिक्त बिम्बों की ही सृष्टि अधिक की। इसके विपरीत, प्रगतिशील कवि ने अपनी सामाजिक यथार्थ मूलक बहिर्मुखी दृष्टि के कारण, एक तो, जीवन और प्रकृति के व्यापक आयाम को अपनी दृष्टि-परिधि में समेट लिया, दूसरे, चूंकि उसने सौंदर्य को किसी निरपेक्ष तत्व के रूप में ग्रहण न कर जीवन के एक अंग के ही रूप में मान्य किया, इसलिए उसने जीवन और प्रकृति के वस्तुगत सौंदर्य का ही अधिक उद्घाटन किया। परिणामतः प्रगतिशील कविता में वस्तु-बिम्बों की सृष्टि अपेक्षातर अधिक मात्रा में हुई और उनका क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक तथा वैविध्यमय रहा।

वस्तु-बिम्बों का रूपायन करते समय प्रगतिशील कवि ने यथार्थ की स्थूल रेखाओं को ही अधिक प्रस्फुटित किया। उनमें कल्पना के रंगों का समावेश करने की ओर उसने कम ही ध्यान दिया। अतएव ऐसे बिम्बों में जीवन और प्रगति के यथा-तथ्य रूप की व्यञ्जना हुई है। डा० रामविलास शर्मा की 'सिलहार' शीर्षक कविता का निम्न रूप-चित्र प्रकृति के यथातथ्य बिम्ब को ही प्रस्तुत करता है—

---

१. काव्य की भूमिका : पृष्ठ ९

पूरी हुई कटाई अब खलिहान में
पीपल के नीचे है राशि सुची हुई
दानों भरी पकी बालों वाले बड़े
पूलों पर पूलों के लगे अरंभ हैं।
बिगही-बिरहे दीख पड़े अब खेत में
छोटे-छोटे ठूँठ ठूँठ ही रह गए।[१]

इसी प्रकार, श्री उदयशंकर भट्ट का निम्न चित्र अकालग्रस्त मानव-जीवन के दयनीय रूप का यथातथ्य वस्तु-बिम्ब उपस्थित करता है।

रक्त हीन, मांस हीन, प्राण-हीन, बल हीन
पड़े फुटपाथ पर
नरक के पिंड वह
चिल्लाते डकारते रोते सब दिन-रात
भात दाओ, अन्न दाओ, अन्न दाओ
दीन-बन्धु।[२]

यथातथ्य रूप को अंकित करने वाले स्थूल वस्तु-बिम्ब यद्यपि सौंदर्य-चित्रों की दृष्टि से उच्च कोटि के नहीं कहे जा सकते, लेकिन छायावादी काव्य की अत्यधिक अस्पष्ट एवं भावमूलक अवस्था में परिवर्तन लाकर ऐसे चित्रों ने अवश्य ही हिन्दी काव्य को ऐतिहासिक दृष्टि से एक नयी ताज़ी महक दी है। पन्त जी का निम्न कथन इस सम्बन्ध में उपयुक्त ही प्रतीत होता है कि—"नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलंकृत होते हैं, क्योंकि उनका रूप-चित्र सद्यः होता है और उनके रस का स्वाद नवीन।"[३] और यह तथ्य तो अत्यन्त स्पष्ट है ही कि ऐसे वस्तु-बिम्ब की सृष्टि में नवीन आदर्श और विचारों की ही प्रेरणा काम कर रही थी।

प्रगतिशील कवि ने उक्त मात्र प्रतिबिम्बात्मक चित्रों के अलावा कुछ ऐसे वस्तु-बिम्बों की भी सृष्टि की है, जिनमें कि उपमादि अलंकारों का समावेश कर उन्हें अधिक स्पष्ट और संवेदनीय बनाने का प्रयास किया गया है। यहाँ यह ध्यान

---

१. रूप-तरंग : पृष्ठ ८
२. बंगाल : अमृत और विष : पृष्ठ ३९
३. पर्यालोचन : शिल्प और दर्शन : पृष्ठ ४४

मैं स्पष्ट मानता हूँ कि प्रगतिशील कवि ने ऐसे वस्तु-बिम्बों में अलंकारों का प्रयोग केवल वस्तु-चित्र को अधिक बोधगम्य और प्रभावशील बनाने के लिए ही किया है, स्वतः अलंकार का चित्र की सृष्टि करने के लिए नहीं। केवल अलंकार चित्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से बड़ी बिम्ब-सृष्टि हुई है—इसको हमने एक चित्र से ही स्पष्ट है। उपमादि अलंकारों से युक्त अधिक मनोरम वस्तु-बिम्ब का निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

> सनसनाती सांझ सूनी वायु का कढ़ुआ खनखना
> झींगुरों की खंजड़ी पर झांझ-सा बीहड़ झनझना
> कंटकित बेरी-करौंदे महकते हैं ढाक-झोरे
> गुम हैं सागौन वन के कान जैसे पात चौड़े[1]

उपर्युक्त बिम्ब में रूपक और उपमा अलंकार के प्रयोग के द्वारा वस्तुतः वस्तुगत यथार्थ की ही अधिक स्पष्ट और साकार मूर्ति उभारी गई है। "वायु का कढ़ुआ", "झींगुरों की खंजड़ी", "झांझ-सा बीहड़", "कान जैसे पात"—आदि शब्द वातावरण को ही अधिक मूर्त बनाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

प्रगतिशील कवि ने वस्तु-बिम्बों को मूर्त करते समय स्पर्श, गन्ध, नाद, वर्ण आदि को भी चित्रित करने का ध्यान रखा है। उपर्युक्त बिम्ब की ही "झींगुरों की खंजड़ी पर झांझ-सा बीहड़ झनझना" पंक्ति में 'झ' वर्ण तथा 'अनुस्वार' की आवृत्ति के द्वारा नाद-चित्र की सुन्दर व्यञ्जना की गई है। इसी प्रकार 'महकते हैं ढाक झोरे'—पंक्ति गन्ध चित्र प्रस्तुत करती है। स्पर्श और वर्ण-चित्र की योजना को प्रस्तुत करने वाले भी एक-एक चित्र देखिये :

स्पर्श चित्र

> फैली खेतों में दूर तलक
> मखमल की कोमल हरियाली।[2]

रेखांकित पंक्ति में 'स्पर्श' की ही संवेदना व्यक्त हुई है।

---

१. गिरिजा कुमार माथुर : ढाकबनी : धूप के धान : पृष्ठ ९५
२. पन्त : ग्राम-श्री : ग्राम्या : पृष्ठ ३५

वर्ण-चित्र

सन्चाइयाँ
जो गंगा के गोमुख से मोती की तरह बिखरती रहती है
हिमालय की बर्फीली चोटी पर चाँदी के उन्मुक्त नाचते
परों में झिलमिलाती रहती है।[1]

उपर्युक्त बिम्ब में 'मोती की तरह' तथा 'चांदी के उन्मुक्त नाचते पर'-पदों में कवि की वर्ण-दृष्टि को देखा जा सकता है।

वस्तु-बिम्बों को प्रस्तुत करते समय प्रगतिशील कवि ने उनके स्थिर रूप के साथ ही उनके गतिशील रूप की भी व्यन्जना की है। प्रगतिशील कवि निष्क्रिय और पत्थर रूपचित्रों की अपेक्षा कर्म सौंदर्य का विशेष प्रशंसक रहा हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने 'कविता क्या है ?' शीर्षक निबन्ध में कविता के वास्तविक गुणों का उल्लेख करते हुए लिखा है : "कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृति के सौंदर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।" [2] कहना नहीं होगा कि प्रगतिशील कवि ने अपने अनेक काव्य-चित्रों में कर्म के गतिशील सौंदर्य का मार्मिक उद्घाटन कर अपनी व्यापक सौंदर्य-दृष्टि का ही परिचय दिया है। यहां पर उदाहरण के लिए सुमनजी की 'चल रही उसकी कुदाली' शीर्षक कविता में चित्रित श्रम-रत किसान का गत्यात्मक श्रम-बिम्ब देखिए—

जल रहा संसार धू-धू
कर रहा वह वार कह-'हूँ'
साथ में समवेदना के
स्वेद-कण पड़ते कभी चू
कौन सा लालच ? धरा की
शुष्क छाती फाड़ डाली।
चल रही उसकी कुदाली।[3]

---

१. शमशेर : अमन का राग : कुछ अन्य कविताएँ : पृष्ठ १८
२. चिन्तामणि : भाग १ : पृष्ठ १६६
३. प्रलय-सृजन : पृष्ठ २१

२—अलंकृत या कल्पना-बिम्ब

अलंकृत या कल्पना-बिम्बों में कवि का मुख्य लक्ष्य दृश्य-रूप को अपनी कल्पना से रंग कर अधिकाधिक अलंकृत रूप में प्रस्तुत करना ही रहता है।

प्रगतिशील कविता में ऐसे अलंकृत बिम्बों की सृष्टि कम ही कवियों ने की है। इधर अवश्य ही प्रयोग अथवा शिल्प की चेतना ने भी प्रगतिशील कवियों को झकझोरा है और इसलिए अब वे इस प्रकार के अलंकृत बिम्बों की सृष्टि भी अधिक मात्रा में कर रहे हैं। इस प्रकार के बिम्बों को प्रस्तुत करते समय प्रगतिशील कवि ने 'रूपक' और 'मानवीकरण' का आश्रय विशेष रूप से लिया है।

कवि केदार का मानवीकरण पर आधारित निम्न प्रकृति-बिम्ब अलंकृत या कल्पना-बिम्ब का ही सुन्दर उदाहरण है :

> एक बीते के बराबर
> यह हरा ठिगना चना
> बांधे मुरेठा शीश पर
> छोटे गुलाबी फूल का,
> सजकर खड़ा है।
> पास ही मिलकर उगी है
> बीच में अलसी हठीली
> देह की पतली कमर की है लचीली
> नील फूले फूल को सर पर चढ़ाकर
> कह रही है जो छुए यह
> दूँ हृदय का दान उसको,
> और सरसों की न पूछो
> हो गई सबसे सयानी,
> हाथ पीले कर लिये हैं
> ब्याह-मण्डप में पधारी
> फाग गाता मास फागुन
> आ गया है आज जैसे
> देखता हूँ मैं : स्वयम्बर हो रहा है।[१]

---

१. केदार : चन्द्रगहना से लौटती बेर : युग की गंगा : पृष्ठ ९

अब 'उपमा' अलंकार से अलंकृत 'वसन्त' का एक दूसरा मोहक विम्ब देखिये :

> यह मदन-धनुष-सा वंक चन्द्र
> है पंच कुसुम पंचमी कला
> रति के गोरे रोचन-तन-सी
> खिल रही कपूरी चंद्र-प्रभा
> हैं फूल भरे भुज-बंध
> उड़ रहा मलय-पवन-सा उत्तरीय
> किंशुक तल-सी काली अलकें
> तिल सुमन खिला मुख शोभनीय।[१]

३. भाव-सिक्त बिम्ब

भाव-सिक्त बिम्बों की कोटि में हम मानव-भावों से सिक्त या अनुप्राणित चित्रों को रख सकते हैं। जब कवि दृश्य-रूपों में अपने भावों की छाया देखता है, तब इस प्रकार के बिम्बों की सृष्टि होती है। छायावादी काव्य मे ऐसे भावसिक्त बिम्बों का अत्यधिक प्राचुर्य है। प्रगतिशील कवि भी ऐसे बिम्बों की सृष्टि करने में पीछे नहीं रहा है। दोनों के द्वारा प्रस्तुत ऐसे बिम्बों में अन्तर केवल यह है कि छायावादी कवि ने अपने एकान्त आत्मनिष्ठ भावों की ही छाया दृश्य-रूपों में देखी है, जबकि प्रगतिशील कवि ने अपेक्षाकृत सामाजिक भावों से दृश्य-रूपो को अधिक अनुप्राणित किया है। इसलिए एक के बिम्ब यदि अधिक अस्पष्ट और अपूर्व हैं, तो दूसरे के अपेक्षातर स्पष्ट व्यञ्जना लिये हुये हैं। दोनों के बिम्बों का एक-एक उदाहरण इस तथ्य को और भी स्पष्ट कर देगा। पहले छायावादी काव्य का एक बिम्ब देखिए।

> सकुच सलज खिलती शेफाली
> अलस मौलश्री डाली-डाली
> सुनते नवप्रभात कुञ्जों में
> रजत श्याम तारों से जाली
> शिथिल मधु पवन, गिन-गिन मधुकण
> हरसिंगार झरते हैं झर-झर।[२]

---

१. गिरिजाकुमार माथुर : पृथ्वी प्रियतम : धूप के धान : पृष्ठ ८९
२. महादेवी : नीरजा : पृष्ठ ५

इस बिम्ब में सुश्री महादेवी वर्मा ने अपनी वियोग-वेदना से सिक्त आंतरिक उदासी का ही आरोपण प्रकृति चित्र पर किया है। इसका स्पष्ट चित्र मानस-प्रत्यक्ष तभी हो सकेगा, जबकि कवि के समान पाठक में भी वैसी ही कल्पना क्षमता होगी। अन्यथा यह बिम्ब उदासी का सूक्ष्म आभास मात्र देकर ही रह जायगा।

अब एक प्रगतिशील कवि द्वारा प्रस्तुत भाव-सिक्त बिम्ब का उदाहरण देखिए। इस बिम्ब में कवि ने प्रकृति को अपनी स्वातन्त्र्य-उल्लास की भावना से सिक्त किया है :

> है फूट रही लालिमा, तिमिर की टूट रही घन-कारा है
> जय हो कि स्वर्ग से छूट रही आशिष की ज्योतिर्धारा है
> बज रहे किरण के तार गूंजती है अम्बर की गली गली
> आकाश हिलोरें लेता है, अरुणिमा बांध धारा निकली।[1]

इस चित्र की सामाजिक चेतना और मूर्त अभिव्यक्ति को व्याख्या की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक शब्द जैसे स्वातंत्र्य उल्लास का मूर्त बिम्ब ही प्रस्तुत करता प्रतीत होता है :

'नई चेतना' की भावना से अनुप्राणित एक ऐसा ही अन्य बिम्ब भी दृष्टव्य है :

> सुबह सुबह महसूस हुआ कुछ ऐसे
> कुछ बदल गई है दिल की धड़कन।
> शायद फिर मौसम बदला है
> बर्फ हिमालय का पिघला है
> आज तभी तो गंगा जमना की धारायें अंगड़ाईं।
> चट्टानों को तोड़ रहीं
> जाने कितना अन्तर में जीवन भर लाईं
> पूरब के स्वाधीन समुद्रों में भर

---

१. दिनकर : नीम के पत्ते : पृष्ठ १३

डोल उठे अरमान नए
तूफान नए।[1]

४. अमूर्त भावों या विचारों के बिम्ब

भाव सिक्त बिम्ब तथा अमूर्त भावों या विचारों के बिम्ब में एक सूक्ष्म अन्तर है। जहाँ प्रथम प्रकार के बिम्बों में कवि वस्तु-बिम्ब को अपने भावों से अनुप्राणित कर प्रस्तुत करता है, वहाँ द्वितीय प्रकार के बिम्बों में स्वयं अमूर्त भावनाओं या विचारों को ही मूर्त बिम्ब के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। प्रसादजी की कामायनी में प्रस्तुत श्रद्धा, लज्जा, इड़ा, चिन्ता, काम आदि अमूर्त भावों के मूर्त चित्र इस प्रकार के बिम्बों के ही उदाहरण हैं। प्रगतिशील कवि ने भी इस प्रकार के बिम्ब प्रस्तुत किए हैं। रांगेय राघव के 'मेधावी' में 'पूंजीवाद' 'फासिस्टवाद' आदि की अमूर्त विचार धाराओं को ही मानवीकृत मूर्त रूप दिया गया है। उदाहरणत. 'फासिस्टवाद' का मूर्त रूप देखिए।

'मैं शुद्ध विभीषण नाच रहा,
लो कुचल दिये हैं देश देश।[2]

इसी प्रकार 'दिनकर' की निम्न पंक्तियों में भी 'स्वातन्त्र्य' की अमूर्त परिभाषा का मूर्त रूप द्रष्टव्य है :

स्वातंत्र्य उमंगों की तरंग, नर में गौरव की ज्वाला है
स्वातंत्र्य रूप की शीखा में अनमोल विजय की माला है।
स्वातंत्र्य सोचने का हक है, जैसे भी मन की धार चले,
स्वातंत्र्य प्रेम की ममता है, जिस ओर हृदय का प्यार चले।[3]

भावों और विचारों के मूर्त बिम्ब कम ही प्रगतिशील कवि प्रस्तुत कर सके हैं। वस्तुतः उनकी दृष्टि वस्तुगत यथार्थ की ओर ही विशेष रही है। कुछ कविताओं में प्रगतिशील भावों और विचारों को प्रस्तुत किया गया है लेकिन वे मात्र सिद्धान्त कथन के रूप में हैं। वे किसी मूर्त बिम्ब की सृष्टि करने में असमर्थ रही हैं। युगवाणी में संगृहीत 'मार्क्स के प्रति', '[illegible]', '[illegible]', '[illegible]' आदि रचनाएँ उक्त तथ्य को ही प्रकट करती हैं।

---

१. रोटी और स्वाधीनता : नींद के पन्ने : पृष्ठ १
२. डा० महेन्द्र भटनागर : [illegible] : [illegible] : पृष्ठ ७७
३. [illegible] : पृष्ठ ३६१

अलंकार–योजना

भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकारों को प्राय: काव्य की शोभा करने व धर्मों के रूप में ग्रहण किया गया है।[१] आचार्य वामन ने तो उन्हें अत्यन्त व्या पीठिका पर आधारित कर 'सौन्दर्य' का पर्यायवाची ही मान लिया था।[२] हि साहित्य के रीति–युग में अलंकार तत्व की पर्याप्त प्रतिष्ठा हुई। उस युग अलंकारों को प्राय: 'साध्य' का ही रूप दे दिया था। उस युग के आचार्य केशव की अलंकार-सम्बन्धी मान्यता उक्त तथ्य की ही पुष्टि करती है।[३]

आधुनिक युग में अलंकारों को 'साध्य' न मानकर 'साधन' के रू ही स्वीकार किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्टत: इस सिद्धान्त का कं किया कि "……ये साधन है, साध्य नहीं। साध्य को भुलाकर इन्हीं को स मान लेने से कविता का रूप कभी कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता नहीं रह जाती।"[४] उन्होंने तो अलंकार को काव्य के भावों की उत्कर्ष-व्यञ्जना सहायक साधन के रूप में ही अपनी मान्यता प्रदान की। उनके द्वारा प्रस्तुत अलं की निम्न परिभाषा उनके उक्त दृष्टिकोण को ही व्यक्त करती है: ("भावों उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव क में कभी कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलकार है।)"[५] जो अलंकार इस प्र सहायक नहीं होते, उनको तो उन्होंने 'भार मात्र' ही माना है।[६]

भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग में तो अलंकार के क्षेत्र में परम्परागत रूढ़ियों ही पालन विशेष होता रहा। इस क्षेत्र में किसी नवीन चमत्कार-व्यञ्जना कोई रूप उक्त युगों में नहीं दिखाई दिया। छायावाद ने अवश्य ही अलंकार क्षेत्र में भी नवीन दृष्टि–भंगिमा का परिचय दिया। अंग्रेजी के अनेक न

---

१. 'काव्य शोभाकरान् धर्मान् लंकारान् प्रचक्षते।'—दण्डी : काव्यादर्श (२/१)

२. 'सौन्दर्यमलंकार।' वामन : काव्यालंकार सूत्र वृत्ति (१.१.२)

३. जदपि सुजाति सुलछणी : सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजई : कविता बनिता मित्त॥—कवि प्रिया : (५/१)

४. कविता क्या है ? : चिन्तामणि : पहला भाग (१९३९) पृष्ठ १९१

-मीमांसा (द्वितीय संस्करण) : पृष्ठ ३२८

पृष्ठ ३२८-३२९

अलंकारों को उसमें अपनाया गया और अप्रस्तुत विधान के क्षेत्र में भी उसकी भावमूलक दृष्टि के अनुरूप नवीनता का समावेश हुआ। छायावादी कवि ने अलंकारों का उद्देश्य 'केवल वाणी की सजावट' स्वीकार नहीं किया, वरन उन्हें 'भाव की अभिव्यक्ति' का 'विशेष द्वार' ही माना। श्री सुमित्रानन्दन पंत ने इस संबंध में अपनी नवीन दृष्टि का परिचय देते हुए 'पल्लव' की भूमिका 'प्रवेश' में बड़ी स्पष्टता के साथ लिखा था : "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं, भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिये आवश्यक उपादान हैं। ......वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हावभाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखट में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बंधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इक सार' हो जाती है।"[१]

आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता में भी अलंकारों को भावों और विचारों को अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने के साधन रूप में ही ग्रहण किया गया है। अनेक प्रगतिशील कवियों ने तो सिद्धान्ततः अलंकारों के प्रति उपेक्षा-भावना भी प्रदर्शित की। जहाँ, पन्तजी ने 'ग्राम्या' में लिखा है :

> तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार
> वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?[२]

वहाँ, श्री नरेन्द्र शर्मा ने भी पन्त जी के ही स्वरों में स्वर मिलाकर अलंकारों को कवि की 'लघु सीमा' तथा 'मोह के बन्धन' का द्योतक तत्व माना और उन्हें तोड़ने का आग्रह प्रदर्शित किया।[३] यही कारण है कि प्रारम्भिक प्रगतिशील काव्य में अलंकृति का अभाव-सा है। लेकिन, अलंकरण, चूँकि, मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है,[४] अतएव प्रगतिशील काव्य में भी वे अपने स्वाभाविक रूप में

---

१. प्रवेश : शिल्प और दर्शन : पृष्ठ १५

२. वाणी : ग्राम्या (पाँचवाँ संस्करण) : पृष्ठ १०३

३. अपना न कभी कवि की लघु सीमाओं को तू, दे छोड़ इन्हें।
   ये अलंकार बहुभार मोह के बन्धन हैं, दे तोड़ इन्हें।
   —स्वर मेरे : हंसमाला (प्रथम संस्करण) : पृष्ठ १३

४. 'अलंकरण की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है। इसके द्वारा उसके आत्मभाव और गौरव की वृद्धि होती है। यद्यपि अलंकार बाहरी साधन होते हैं, तथापि

प्रयुक्त हुये हैं। प्रगतिशील कवि की परवर्ती रचनाओं में तो अलंकरण के प्रति सजगता का भाव भी मिलता है।

प्रगतिशील कवि ने अलंकरण के क्षेत्र में जहाँ अपनी नवीन प्रगतिशील दृष्टि की सूचना दी, वहाँ उसने पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं तथा छायावादी काव्य की अलंकरण-गत विशेषताओं को भी आत्मसात कर अपनाया है।

अप्रस्तुत विधान

काव्य में अप्रस्तुत-विधान के लिए प्रायः निम्न प्रणालियों का उपयोग किया जाता है :

१. मूर्त के लिए अमूर्त का प्रयोग, २. अमूर्त के लिए मूर्त का प्रयोग, ३. मूर्त के लिए मूर्त का प्रयोग, ४. अमूर्त के लिए अमूर्त का प्रयोग, ५. जातिवाचक के लिये भाववाचक का प्रयोग, ६. भाववाचक के लिए जातिवाचक का प्रयोग, ७. अंगी के लिए अंग का प्रयोग और ८. सामान्य के लिये विशेष का प्रयोग।

आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता में अप्रस्तुत-विधान की उक्त सभी प्रणालियों का यथोचित प्रयोग हुआ है। प्रत्येक के उदाहरण देखिए :

१. मूर्त के लिये अमूर्त का प्रयोग :

प्रगतिशील कवि की दृष्टि मूलतः बहिर्मुखी एवं वस्तु व्यञ्जक अधिक रही है, इसलिए उसने इस प्रकार के प्रयोग कम ही मात्रा में किये हैं। छायावाद के प्रभाववश अवश्य ही कहीं कहीं इस प्रकार के प्रयोग हुये हैं। निम्न उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

(क) अचल हृदय की गहराई-सी सुरभा-घाटी। 'सुमन'[१]
(ख) इन नई मुक्त सीमाओं पर निर्बाध बही
युग की पुञ्जित गति—सी कविता की भगीरथी। — माथुर[२]

उनके पीछे अलंकृतिकार की आत्मा का उत्साह और ओज छिपा रहता है।"
—डा० गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन (पाँचवाँ संस्करण) पृष्ठ ३२

१. चेरापूँजी : पर आँखें नहीं भरीं : पृष्ठ ४१
२. महाकवि : धूप के धान : पृष्ठ ३८

उक्त पंक्तियों में 'अचल हृदय की गहराई' तथा 'युग की पुंजित
अमूर्त अप्रस्तुत हैं, जो क्रमश: 'सुरमा घाटी' और 'कविता की भगीरथी' की
रूप-व्यञ्जना के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

२. अमूर्त के लिए मूर्त का प्रयोग :

(क) पर स्वतन्त्रता-मणि का इनसे
मोल न चुक सकता है। — दिनकर[1]

(ख) जहाँ ईसान ने
काली निराशा की पुरानी लाश को
भू की अतल गहराइयों में गाड़कर
रंगीन अभिनव आश के
विश्वास के पौधे लगाये हैं। —महेन्द्र भटनागर[2]

उपर्युक्त उद्धरणों मे 'स्वतन्त्रता', 'निराशा' तथा 'विश्वास' अमूर्त प्र
के लिए क्रमश: 'मणि', 'पुरानी लाश' और 'पौधे' — मूर्त अप्रस्तुतों का वि
हुआ है।

३. मूर्त के लिए मूर्त का प्रयोग :

(क) झूल दूजें बालियों की कान में झमकी
पूर्णिमा का चन्द्रमा टिकुला बना चमका। — रांगेय राघ

(ख) श्यामल धरती जैसे फैली हैं बदोनियाँ
पुरवाई पर उड़ते मेघों से हैं कुन्तल। — डा० रामविलास श

उपर्युक्त उद्धरणों में उपमेय तथा उपमान — दोनों ही मूर्त हैं, अत
किसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं।

४. अमूर्त के लिए अमूर्त का प्रयोग :

(क) सब के सुख की कलित कल्पना
मादकता-सी छा आई है दिल-दिमाग पर। — नागार्जुन[5]

---

१. कुरुक्षेत्र (तेरहवाँ संस्करण) : पृष्ठ ५५
२. जनता : जिजीविषा :पृष्ठ २४
३. तपोभूमि का प्रारम्भ : प्रकृति — १ : पृष्ठ १२०
४. बदिनी कोकिला : रूप-तरंग : पृष्ठ ८६
५. जयति जयति जय सर्व मंगल : हंस (का० स० अंक) : पृष्ठ १३४

(ख) सिम्फोनिक आनन्द की तरह
यह हमारी गाती हुई एकता। —शमशेर[1]

प्रथम उद्धरण में 'कल्पना' तथा 'मादकता' और द्वितीय उद्धरण में 'सिम्फोनिक आनन्द' तथा 'एकता' — सभी अमूर्त ही हैं।

५. जातिवाचक के लिए भाववाचक का प्रयोग :

(क) विध्वंसों के दैत्य चरण से धरा डोलती। —भारतभूषण अग्रवाल[2]

(ख) लगे टूटने एक एक कर गढ़ अत्याचारों के। — शम्भूनाथसिंह[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'विध्वंसों' शब्द विध्वंसकों के लिए तथा 'अत्याचार' शब्द 'अत्याचारियों' के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

६. भाववाचक के लिए जातिवाचक का प्रयोग :

(क) शैतान के साम्राज्य में तूफान आया है। - डा० महेन्द्र भटनागर[4]

(ख) अंधकार से लड़े, मिट गए। — सुमन[5]

प्रथम पंक्ति में 'तूफान' 'विद्रोह' के लिए तथा द्वितीय पंक्ति में 'अंधकार' 'अन्याय' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

७. अंगी के लिए अंग का प्रयोग :

(क) संध्या को ले चुसी हड्डियाँ आते भिखमंगों से कातर। बच्चन[6]

(ख) किन्तु सामने एक भिखारी
का फैला कर क्यों रोता है? — रांगेय राघव[7]

उक्त पंक्तियों में 'हड्डियों' शब्द के द्वारा व्यक्ति के पूरे शरीर की ही व्यञ्जना की गई है और 'कर' शब्द स्वयं व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

---

१. अमन का राग : कुछ और कविताएँ : पृष्ठ १८
२. शान्ति-पथ : शान्ति लोक : पृष्ठ ३६
३. धन-धारा : मन्वन्तर : पृष्ठ २४
४. ललकार : नई चेतना : पृष्ठ ३
५. फिर आगई दिवाली : विश्वास बढ़ता ही गया : पृष्ठ ३८
६. सर्वहारा : किरण-बेला : पृष्ठ ६०
७. मेधावी : पृष्ठ २४२

८ सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग :

(क) नग्न बुभुक्षित द्रुपद-सुताएँ त्राहि त्राहि करती फिरती हैं —नागार्जुन[1]

(ख) सुन रहे कर रहा व्यंग्य-भरा
'फिर अट्टहास रावण खल खल'। —सुमन[2]

प्रथम पंक्ति में 'द्रुपद-सुताएँ'—शोषित नारियों के लिए एवं द्वितीय पंक्ति में 'रावण' अन्यायी पुरुषों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

प्रगतिशील कवि ने अप्रस्तुत-विधान की उक्त प्रणालियों को अपनाने के साथ ही, इस क्षेत्र मे अपनी नवीन दृष्टि का परिचय दिया है। उसकी इस नवीन दृष्टि का परिचय सर्व प्रथम उसके द्वारा प्रयुक्त नवीन उपमानों में मिलता है। छायावादी कवि की दृष्टि प्रकृति के मधुर एवं मसृण उपकरणों तक ही सीमित थी, लेकिन प्रगतिशील कवि ने इस प्रकार की किसी संकीर्ण दृष्टि का परिचय नहीं दिया। उसने जीवन के व्यापक क्षेत्र से उपमानो एवं प्रतीकों का चयन किया। श्री गिरिजा-कुमार माथुर के शब्दों मे "जीवन का छोटे-से छोटा पक्ष, साधारण से साधारण विषय अब काव्य की गरिमा के अयोग्य नहीं रहा। सधे-जमे और एक परिचित दायरे में घूमने वाले प्रतीक-उपमानो के स्थान पर वस्तु-जगत के समस्त क्रिया-कलापों को उसने अपनी वर्द्धमान उँगलिओं से छूकर उन्हें ग्रहण किया है।"[2]

वैसे, साधारणतः प्रगतिशील कवि ने जीवन के संपूर्ण क्षेत्र से सभी प्रकार के उपमानों को ग्रहण किया है, लेकिन जिस प्रकार विषय के रूप में उसने 'तुच्छ जन की जीवनी' को विशेष रूप से प्रयुक्त किया। ऐसे कुछ उपमानों के उदाहरण देखिए जिनमे कि कवि का उक्त आग्रह मूर्त हुआ है :[3]—

१. अधिकांश जनता का
रद्दी की टोकरी-सा जीवन है,
सत्ता हीन, अर्थ हीन,
बेकार, चिर-फटे टुकड़ों-सा पड़ा है।[4]

---

१. विश्वास बढ़ता ही गया : पृष्ठ ६३

२. निवेदनम् : धूप के धान : पृष्ठ १३

३. तुच्छ से अति तुच्छ जन की जीवनी पर हम लिखा करते
कहानी, काव्य, रूपक, गीत ....।
— नागार्जुन : एक मित्र को पत्र : हंस : अगस्त १९४७ : पृष्ठ ७९८

४. केदार : जनता का जीवन : युग की गंगा : पृष्ठ २१

२. उग पीत की गंजी छरीला,
जो लपट से प्रस्त धू धू जल रही है
करता होता जा रहा छार, भूँठ, आडम्बर।[१]

३. चारों ओर घोर तिमिराच्छन्न व्योम
फैल-सा गया है किसी काली मसहरी-सा।
कहीं कहीं लटक रही हैं सफ़ेद भाग
रुई-धुनी
अजगर ज्यों निगल गया हो समूचा भोज्य।[२]

४. लिये हुए कमरे में
जेल के कपड़े सी फैली हैं चाँदनी।[३]

उपयुक्त उद्धरणों में 'रद्दी की टोकरी', 'बेकार चिरफटे टुकड़े', 'पीत की गंजी', 'काली मशहरी', 'अजगर' 'जेल के कपड़े-सी चाँदनी' आदि सामाजिक यथार्थ की मूर्त व्यंजना प्रस्तुत करने वाले सजीव किन्तु जन-जीवन की साधारणता एवं अतियथार्थवादी उपमानों की खोज के प्रति आग्रह के कारण प्रगतिशील कवि ने कहीं कहीं अत्यन्त बीभत्स उपमानों का भी प्रयोग किया है, जिससे कि एक सीमा तक काव्य-सौन्दर्य की भी क्षति हुई है। प्रगतिशील कविता के इस पक्ष को स्पष्ट करने वाले निम्न उदाहरण दृष्टव्य हैं :

१. अरे फोड़ों-से गदे नीच।[४]

२. चल रहे देवता ये
ढेल-सी बड़ी बड़ी आँखें लिए।[५]

३. उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों-से हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।[६]

---

१. महेन्द्र भटनागर : मोर का आह्वान : नई चेतना : पृष्ठ ७३
२. सुमन : ग्रीष्म रात्रि का प्रभंजन : विश्वास बढ़ता ही गया : पृष्ठ १२
३. मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ० ३२
४. रांगेय राघव : मेधावी : पृष्ठ २४५
५. केदार : देवताओं की आत्म हत्या : युग की गंगा : पृष्ठ २७
६. भगवतीचरण वर्मा (राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली—६ द्वारा प्रकाशित) : पृ० ६४

४. लटक रहे कठोर इसके ये जबड़े
जैसे चील के घृणित घोंसले से छिछड़े
घुन लगी हड्डियाँ ।[१]

प्रगतिशील कवि ने कुछ स्थानों पर अन्तर्राष्ट्रीय जीवन को व्यक्त करने वाले अप्रस्तुतों का भी प्रयोग किया है। केदार की निम्न पंक्तियाँ इसी तथ्य का बोध करती हैं :

लाखों की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है
ताकत से मुट्ठी बाँधे
नोकीले भाले ताने हैं
हिम्मत वाली लाल फौज सा
मर मिटने को झूम रहा है ।[२]

इस उद्धरण में 'गेहूँ' की 'लाल-फौज' की सेनानियों के रूप में प्रस्तुत करना, प्रगतिशील कवि की अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि का ही सूचक तत्व है।

अप्रस्तुत-विधान की उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त प्रगतिशील कविता में 'मानवीकरण', 'विशेषण-विपर्यय', 'अन्योक्ति', 'उपमा', 'रूपक', 'वीप्सा', 'अनुप्रास' आदि परम्परागत अलंकारों का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

मानवीकरण

प्रगतिशील कवि ने भी छायावादी कवि के समान कहीं तो वह प्रकृति में चेतन सत्ता का आरोपण कर तथा कहीं अमूर्त भावों को भी मूर्त मानवीकृत रूप में प्रस्तुत कर मानवीकरण अलंकार का प्रयोग किया है। दोनों प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत हैं :

१. है फूल मरे भुजबंध
उड़ रहा मलय-पवन सा उत्तरीय
किंशुक दल सी काली अलकें
तिल सुमन सिला मुख शोभनीय

---

१. अञ्चल : दानव : किरण-वेला: पृष्ठ ६६
२. गेहूँ : युग की गंगा : पृष्ठ १६

सरसों के पीले खेतों पर
तुम उतरो धरकर चरण कुसुम
हे सृजन-मदन की सुरभि-श्वास
आओ, हे पृथ्वी के प्रियतम ।[१]

उक्त उद्धरण में 'बसन्त' को मानव-रूप में प्रस्तुत किया है। अब नि उद्धरण देखिए जिनमें कि 'वेदना' तथा 'नर-प्रज्ञा' जैसे अमूर्त तत्वों को मानवी व्यापारों से अलंकृत किया गया है :

२. (क) वेदना अब आँसुओं से गा रही है।[२]
(ख) किन्तु नर-प्रज्ञा सदा गतिशालिनी, उद्दाम
ले नहीं सकती कहीं रुक एक पल विश्राम ।[३]

विशेषण-विपर्यय

जब विशेषण को उसके नियत स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर उसकी प्रतिष्ठा की जाती है और इस प्रकार भाषा में लाक्षणिक चमत्कार उत्पन्न किया जाता है, तब विशेषण-विपर्यय अलंकार की सृष्टि होती है। कतिपय उद्धरण निम्नलिखित हैं :

(क) जिस दिन मेरी तापित तृष्णा बुझ जाएगी ।[४]
(ख) या तड़पती साँस पर मरहम लगा हो शान्त ।[५]
(ग) भोले ओठों के आस-पास ।[६]
(घ) प्रस्तर से स्मित सपने की बाँकी झाँकी को प्रकटाया ।[७]
(ङ) मेरी गुलाम तलवारों का ।[८]
(च) मैंने देखी
वह कड़क भूख, उदार, प्यास
निःस्वार्थ तृष्णा……………[९]

---

१. गिरिजाकुमार माथुर : पृथ्वी प्रियतम : धूप के धान : पृष्ठ ८८-८९
२. केदार : प्रगति : पृष्ठ १६
३. दिनकर : कुरुक्षेत्र : पृष्ठ ११४
४. सुमन : मरुस्थल और नदी : पर आँखें नहीं भरीं : पृष्ठ ८१
५. माथुर : देह की आवाज : प्रगति–१ : पृष्ठ ७७
६. केदार : ताजमहल : प्रगति–१ : पृष्ठ ४
७. रांगेय राघव : नरोभूमि का आरम्भ : प्रगति–१ : पृष्ठ १३१
८. गिरिजाकुमार माथुर : एशिया का जागरण : धूप के धान : पृष्ठ ११
९. मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ १०१

अनुप्रास

शब्दालंकारों में अनुप्रास का प्रयोग सर्वाधिक प्रचलित है। यह कभी अनायास ही आ जाता है और कभी कवि विशेष प्रयत्न-साधन के द्वारा भी इसे प्रस्तुत करता है। प्रगतिशील कविता में अनुप्रास का सौन्दर्य अपने सहज-स्वाभाविक रूप में ही आया है। निम्न उद्धरण दृष्टव्य हैं :

१. ताल-तलैया भरे चहुँ ओर
चकोर हिलोर में डोले हिया,
दूब की चादर फैली दिगंत लौ
मोर को शोर मरोरे जिया।[1]

२. छिपती-सी पगडंडी, खिसकी आँख सलोनी री
इन्द्र धनुष रंग रंगी, आज मैं सहज रंगीली री।[2]

वैसे प्रगतिशील कविता में यत्र तत्र अन्य अलंकारों की भी आयोजना हुई है, लेकिन प्रमुख रूप से उक्त अलंकारों का प्रयोग ही विशेष हुआ है।

प्रतीक-विधान

प्रतीक का कोश-गत अर्थ-चिन्ह, स्थानापन्न वस्तु या प्रतिमा है। काव्य में प्रतीक को कहीं अधिक व्यापक रूप में गृहण किया जाता है। वह भाव-व्यंजना का एक अपूर्व माध्यम माना जाता है। उसके पीछे एक दीर्घ परम्परा रहती है और वह तत्काल ही भावना को उद्बोधित करने की क्षमता रखता है। इसीलिए डा० सुधांशु ने प्रतीक की परिभाषा इन शब्दों में दी है : "प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनसे केवल अर्थ की व्यक्ति ही नहीं होती, वरन् भावनाओं का उद्बोधन भी होता है। जिन वस्तुओं में तनिक भी निजी विशेषतापूर्ण आकर्षण जिन पर दीर्घ सांस्कृतिक वासना का प्रभाव पड़ा है वे शब्द हमारे काव्य में का काम करते हैं। प्रतीकों के स्वरूप में कुछ-न-कुछ ऐसी व्यंजना रहती है भावनाओं को विकास के संकेत मिल जाते हैं।[3]

---

१. शिवमंगल सिंह 'सुमन' : पर आँखें नहीं भरीं : पृष्ठ २७
२. भवानीप्रसाद मिश्र : मंगल-वर्षा : दूसरा सप्तक : पृष्ठ १७
३. भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा : स० डा० नगेन्द्र : पृष्ठ ४७७ से उ

भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रतीकों को अलंकार-प्रणाली के अन्तर्गत् उपमान के रूप में ही ग्रहण किया गया है—लेकिन उपमान और प्रतीक—दोनों दो भिन्न आधारों पर स्थित हैं। उपमान में सादृश्य अथवा साधर्म्य के आधार का रहना अत्यन्त आवश्यक है, लेकिन प्रतीक के लिए मात्र भावोत्तेजन की क्षमता पर्याप्त मानी जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जागृत करने की निहित शक्ति है।"[1]

जिस प्रकार प्रतीक उपमान से मूलतः भिन्न है, उसी प्रकार 'बिम्ब' से भी उसका पार्थक्य है। डा० रामअवध द्विवेदी ने प्रतीक और बिम्ब के अन्तर को इस प्रकार समझाया है : "बिम्ब का स्वरूप और प्रभाव प्रधानतः ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। यद्यपि स्पर्श तथा श्रवण से भी मन में चित्र बनते हैं तथापि अधिकांश बिम्ब दृष्टि से सम्बन्धित होते हैं।......बिम्बों का स्पष्ट अंकन और पूर्ण रूप में उत्पन्न होना अत्यंत आवश्यक है। प्रतीक में इस प्रकार चित्रांकन अपेक्षित नहीं है। उसका कार्य मन को एक अन्य प्रकार से प्रभावित करना है। प्रतीक किसी पदार्थ का चित्र नहीं खींचता, केवल संकेत द्वारा उसकी विशिष्टता अथवा उसके प्रभाव इंगित करता है। उसका अपना पृथक अस्तित्व है जो किसी अन्य वस्तु अथवा तथ्य पर अवलम्बित नहीं रहता।"[2] इसी प्रकार डा० केदारसिंह का मत है : "बिम्ब, अपेक्षाकृत स्वच्छन्द और नाना अर्थ-व्यंजक होते हैं जब कि प्रतीक नियत और बद्ध रूप से एकार्थ-व्यंजक होते हैं। प्रतीक अपेक्षाकृत अधिक परम्परागत और समाज-स्वीकृति-सापेक्ष होते हैं।"

छायावादी काव्य में भावमूलक प्रतीकों का प्रयोग विशेष हुआ है। प्रगतिशील कवि ने इसके विपरीत, अपनी बहिर्मुखी सामाजिक दृष्टि के अनुरूप यथार्थ जीवन से प्रतीकों का चुनाव अधिक किया है। हँसिया, हथौड़ा, हल, झोपड़ी, कफन, कुकुरमुत्ता, कोयले, कोहरा, मधुशाला, मिल, आदि यथार्थ जीवन से सम्बन्धित प्रतीक ही हैं, जो कि मनुष्य के सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। डा० सुमन ने 'हँसिया' और 'हथौड़ा' का प्रयोग श्रमजीवी व्यवस्था के प्रतीक के रूप में किया है :

हँसिया और हथौड़ा अब तक
हुआ नहीं नाकाम

---

1. चिन्तामणि : द्वितीय भाग : पृष्ठ १६६
2. काव्य में प्रतीक विधान : आलोचना—२१ : अक्टूबर ६१-६६

यह पानी से नहीं
खून से ही था झण्डा लाल।[1]

केदारनाथ अग्रवाल ने विदेशी शासन की प्रगति की अत्यन्त मन्थर गति को 'बैलगाड़ी' के प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया है :

बैलगाड़ी राज्य की
चल नहीं सकती प्रगति से दौड़ती।
एक ही तो बैल है।
दूसरा अब भी अलग है—दूर है।
हाँकने वाला बड़ा हैरान है।[2]

इसी प्रकार 'गाय' और 'सिंह' के प्रतीक के द्वारा उन्होंने क्रमशः भारतीय शोषित जनता की दयनीय जर्जर स्थिति की तथा विदेशी शोषक वर्ग के शोषण के घृणात्मक रूप की व्यंजना की है :

एक गाय है।
—उसके ऊपर गोरा बैठा
तहस नहस करता है सबको।
बहुत थकी है।
खाना–दाना की भूखी है,
रेंग रही है धीरे धीरे।
एक सिंह है,
जो मृग छौनों को पकड़े है,
लोहू में पंजे डूबे हैं,
मांस खा रहा है उधेड़कर।[3]

निरालाजी ने 'कुकुरमुत्ता' को सर्वहारा वर्ग का तथा गुलाब को उच्च व
(पूँजीपति वर्ग) का प्रतीक माना है :

---

१. सोवियत रूस के प्रति : प्रलय-सृजन : पृष्ठ ६०
२. बैलगाड़ी : हंस : अक्टूबर १९४६ : पृष्ठ ६१
३. खेत का दृश्य : हंस : नवम्बर १९४६ : पृष्ठ १२०

रावण ।

कि जो जग को रुलाने के लिए
अपमतम क्रूरकर्मी स्वर्ग का पावन
हरी सेमी भरी बस्ती में जन-व्याप्त

इसी प्रकार भारतीय संस्कृति के एक आराध्य
कवि ने शान्ति के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है।
इस शिव का ही आह्वान करते हुए लिखते हैं

नाचो हे, नाचो, नटवर।
चन्द्रचूड़, त्रिनयन, गंगाधर, आदि-प्रलय,
नाचो हे, नाचो, नटवर। [२]

श्री भवानीप्रसाद मिश्र ने भी भारतीय संस्कृति के
कविताओं में प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है। उनकी 'क
कविता में 'मानसर' ऐसा ही सांस्कृतिक प्रतीक है।[३] उनकी 'प्र
में भी प्रयुक्त सांस्कृतिक प्रतीक दृष्टव्य है :

हर हिमालय शृंग पर उठती लहर की ताल
और बर्फीली सतह बड़वाग्नि पीकर लाल होगी
काल होगी तारिणी गंगा, तरंगिजा व्याल होंगी,
और शिव न होंगे न शंकर, कंठगत नर माल होंगी
कर न पायेगा हमें आश्वस्त जननी का अभय भी।
एक दिन होगी प्रलय भी।[४]

इन पंक्तियों में प्रयुक्त 'हिमालय शृंग', 'तरंगिजा', 'शिव' आ
संस्कृति के ही द्योतक तत्त्व हैं।

---

१. जल रहे हैं जलती है जवानी विश्वास ही गया : पृष्ठ १३
२. तांडव : चक्रवाल : पृष्ठ ४
३. ये कमल के फूल लेकिन मानसर के हैं,
इन्हें हूँ बीच से लाया, न समझो तीर पर के हैं।
—कमल के फूल : [illegible]
४. प्रलय : वही : पृष्ठ २[illegible]

श्री मुक्ति बोध का भी निम्न भाव-चित्र देखिए, जिसमें कि उन्होंने अपने युग-जीवन की एक विशिष्ट सशंकित तथा भय-भक्त मनोवृत्ति के रूपायन के लिए 'वसुदेव', 'कृष्ण', 'कंस' आदि पौराणिक प्रतीकों का ही आश्रय लिया है :

> अपने अँधियारे कमरे में
> आँखें फाड़े मैंने देखा मन के मन में
> जाने कितने कारावासी वसुदेव
> स्वयं अपने कर में, शिशु आत्मज ले,
> बरसाती रातों में निकल
> घँस रहे अँधेरे जंगल में
> विक्षुब्ध पूर में यमुना के,
> अति दूर, अरे, उस नन्द-ग्राम की ओर चले,
> जाने किससे डर स्थानान्तरित कर रहे थे
> जीवन के आत्मज सत्यों को,
> किस महा कंस से से भय खाकर गहरा-गहरा।[1]

प्रगतिशील कवि की दृष्टि ने राष्ट्रीय सीमा को लाँघकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज को छुआ है, अतएव उसने राष्ट्रीय प्रतीकों के साथ ही अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सत्यों को भी प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है। श्री शमशेर की निम्न पंक्तियों में यही तथ्य व्यंजित हुआ है :

> मुझे अमरीका का लिबर्टीस्टेच्यू उतना ही प्यारा है
> जितना मास्को का लाल तारा
> और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल
> मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं।[2]

प्रगतिशील कवियों की रचनाओं में जो 'लाल तारा', 'लाल निशान', लाल रंग आदि का प्रतीक के रूप में अत्यधिक प्रयोग हुआ है, उससे उनकी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि के साथ ही, समाजवादी व्यवस्था के प्रति और विशेष कर समाजवादी देश रूस के प्रति उनका मोहासक्त रूप भी परिलक्षित होता है। रूस का तथा समाजवादी पार्टियों का ध्वज, चूँकि लाल रंग का है, इसलिये इन्होंने लाल

---

१. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ ५०
२. अमन का राग : कुछ और कविताएँ : पृष्ठ २०

रंग को नव जागरण और क्रान्ति का ही प्रतीक मान
पंक्तियों में लाल रंग को उक्त अर्थ में ही प्रयुक्त किया

उधर क्षितिज के पास उग रहा खूनी
लाल लाल हो गई अचानक फिर नम
विश्व-शान्ति की श्वासों के तूफान शैल
विप्लव की आत्मा के जलते श्वास सुमि
देखो बदल रही दुनियाँ के ये गहरे आसा
देखो कैसी आग लग रही आज सितारों के

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रगतिशील कवि ने
किया है, लेकिन प्रगतिशील कविता ने चूँकि मुख्यतः राजनी
विषयों को ही अपनाया है, अन्तर्मुखी जीवन की निगूढ़ता का
किया है, इसलिये उसके प्रतीक प्रायः स्थूल और अत्यधिक स्पष्ट
प्रतीक के संकेतात्मक सौन्दर्य का सर्वथा अभाव ही प्रतीत होता है
द्विवेदी ने निरालाजी द्वारा प्रयुक्त 'कुकुरमुत्ता' और 'गुलाब' प्रतीक
आवश्यक संकेतात्मक के अभाव की चर्चा की है : 'कुकुरमुत्ता' और
ी प्रतीक है, एक सर्वहारा का और दूसरा अभिजात वर्ग का ।
मना इतनी विस्तृत एवं स्पष्ट है कि प्रतीकों की आवश्यक संकेत
ट हो गई है ।"[2] प्रगतिशील कवि द्वारा प्रयुक्त अन्य अनेक प्रतीकों
मा यही बात कही जा सकती है ।

छन्द-योजना

बिम्ब अलंकार तथा प्रतीक की भाँति छन्द भी कविता का एक
तत्व है । श्री सुमित्रानन्दन पंत ने इसीलिए कविता और छन्द के बीच घनिष्ठ
स्वीकार किया है । उनका कथन है : "कविता तथा छन्द के बीच बड़ा
सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का
ही छन्द में लयमान होना है"[3] श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' भी यह भी

---

१. अन्तर्ज्वाला से : हंस, नवम्बर १९४६ : पृष्ठ
२. काव्य में प्रतीक-विधान :
३. प्रवेश : [illegible]

के लिए छन्द को एक 'आवश्यक प्रतिबन्ध' के रूप में स्वीकार करते हैं।[1]

प्रगतिशील कवि ने भी छन्दों के महत्व को स्वीकार किया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि प्रगतिशील कविता के प्रायः प्रत्येक प्रतिनिधि कवि ने छन्द के प्राण तत्व लय का अपनी अधिकांश कविताओं में सर्वत्र निर्वाह किया है। हाँ, यह अवश्य है कि उन्होंने केवल परिपाटीगत मात्रिक, वार्णिक छन्दों तक ही अपने क्षेत्र को सीमित नहीं रखा है। मुक्त छन्दों का भी उन्होंने मुक्त रूप से प्रयोग किया है और आवश्यकतानुसार नये छन्दों का विधान भी किया है। श्री गिरिजा-कुमार ने तो 'धूप के धान' की भूमिका में स्पष्ट रूप से छन्दों की अराजकता और विशृङ्खला को उलझी-सुलझी तर्कों से सिद्ध करने के स्थान पर उन्हें नई गठन और व्यवस्था की ओर 'उन्मुख' करने के पक्ष का समर्थन किया है। उनका मत है : "छन्दों की अराजकता और विशृङ्खला को उलझी सुलझी तर्कों से सिद्ध करने के स्थान पर उन्हें नई गठन और व्यवस्था की ओर उन्मुख करना चाहिए। छन्दों में जो नई संगीत गतियाँ आई हैं या जिन छन्द प्रयोगों में ऐसी संभावनायें हैं कि उनके आधार पर नये सुगठित छन्द निर्मित किये जा सकते हैं 'उनका वर्गीकरण किया जाना आवश्यक है जिससे आगे उनका संस्कार और विकास किया जा सके।"[2]

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रायः तीन प्रकार के छन्दों का विधान हुआ है—मात्रिक, वर्णिक और मुक्त छन्द। प्रगतिशील कवि ने इन तीनों प्रकार के छन्दों का विधान किया है। यहाँ पर मात्रिक तथा वर्णिक छन्दों के उदाहरण देना व्यर्थ ही होगा—क्योंकि उनका विधान उनके परम्परागत रूप में ही हुआ है—वे किसी भी रूप में प्रगतिशील कविता की विशिष्टता को घोषित नहीं करते। हाँ उनमें नियम वैविध्य अवश्य है और कहीं कहीं दो भिन्न छन्दों की लयों को मिलाकर नये छन्दों का निर्माण भी किया गया है। उदाहरण के लिये दिनकर जी का मिश्र छन्द दृष्टव्य है :

> आज न उर के मौन कुञ्ज में स्वप्न खोजने जाऊँगी
> आज चमेली में न चन्द्र किरणों से चित्र बनाऊँगी।

---

1. 'पद्य की रचना के लिए छन्द एक आवश्यक प्रतिबन्ध है, अनिवार्य भी हम कह सकते हैं, यदि दो-एक वर्तमान क्रान्तिकारी कवियों को इसमें विशेष आपत्ति न हो।"

—डा० काव्यशास्त्र की परम्परा : पृष्ठ ५८२ से उद्धृत।

२. निवेदनम्, धूप के धान : पृष्ठ १८

प्र

अधरों में मुस्कान, न लाली बन कपोल में छा

कवि, किस्मत पर भी न तुम्हारी आँसू आज

नालन्दा-वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार

धूसर भुवन स्वर्ग-ग्रामों मे कर पाई न विह

आज यह राज-वाटिका छोड़, चलो कवि वन-फू

उक्त छन्द में प्रथम चार चरण तो ३०-३० मात्राओं के है
-ाँ चरण २७ मात्राओं का तथा अन्तिम चरण ३२ मात्राओं का है।
के अनुसार हो इन चरणों की लय में भी अन्तर आ जाता है। ऐसे छन्द
छन्द' की संज्ञा से भी अभिहित किया जा सकता है।

मुक्त छन्द के क्षेत्र में प्रगतिशील कवि ने अवश्य ही विशेष
प्रदर्शन किया है। प्रगतिशील कवि यद्यपि सामाजिक अनुशासन का स
लेकिन साथ ही वह सामन्ती मूल्यों का विरोधी भी रहा है। छन्दों का
नियम-बद्ध होना सामन्ती मूल्यों का ही प्रतिपादक तत्व है। पूँजीवादी
प्रारम्भ होते ही इस सामन्ती मूल्य का भी निषेध होने लगा और हिन्दी साहि
छायावादी युग से ही सामन्ती मूल्यों के प्रति विद्रोह भावना को जीवन के
, स्वस्थ तत्व के रूप में ग्रहण किया गया।

प्रगतिशील कवि ने मुक्त छन्द का विधान करते समय लय और प्रव
योजना की ओर भी पूरा पूरा ध्यान दिया है। कतिपय- मुक्त छन्दों में तो ऐस
सुन्दर लय और प्रवाह-योजना का दर्शन होता है कि केवल लय और प्रवाह के
आधार पर ही कवि कथ्य वस्तु का गति एवं रूप-चित्र उपस्थित कर सकने में समर्थ
हो सका है। केदार की 'बसन्ती हवा' शीर्षक कविता इस दृष्टि से अद्वितीय है।

यद्यपि मुक्त छन्दों मे तुक और अन्तरनुप्रास आदि का विशेष ध्यान नहीं
रखा जाता है, लेकिन प्रगतिशील कवि ने इन्हें भी यथावसर अपनाकर मुक्त छन्द
के सौन्दर्य को द्विगुणित करने का प्रयास किया है। सुमनजी की 'युगान्तरकारी
कवि निरालाजी के प्रति' शीर्षक कविता मुक्त छन्द तुक-योजना का एक सुन्दर
उदाहरण प्रस्तुत करती है। निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

तुम नव द्रष्टा,

विस्फारित नयनों के आगे

---

१. कविता की पुकार : चन्द्रवास : पृष्ठ १०

आश्वस्त अभय जीवन–प्रसार
लेकिन जर्जर जग—
रूढ़िग्रस्त, पाया न समझ
मनु के बेटे का अहंकार।
आया यौवन झुम झूम उठे
झूमा मधुवन
उन्मद कनकन
सब रहे देखते लुटे लुटे[1]

इसी प्रकार निम्न छन्द में अन्तरनुप्रास की भी योजना का सुन्दर रूप अवतरित हुआ है :

गा रे गा हरवाहे दिलचाहे वही तान :
खेतों में पका धान
मंजरियों में फैला आमों का गन्ध ध्यान
आज बने हैं कल के ज्यों निशान
फूलों में फलने के हैं प्रमाण
खेतिहर लड़की की भोली–सी आँखों में, निम्बुओं की फाँकों में
मुसकाता अज्ञान, हँसता है सब जहान,
खेतों में पका धान ।[2]

—उक्त छन्द में 'हरवाहे दिलचाहे', 'आँखों में', 'फाँकों में', 'मुसकाता', 'हँसता', 'अज्ञान' 'जहान' आदि शब्दों के प्रयोग के द्वारा अन्तरनुप्रास की ही योजना की गई है।

उक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि प्रगतिशील कवि छन्द-योजना के प्रति पर्याप्त सजग रहा है, लेकिन फिर भी कतिपय स्थलों एवं छन्दों में अराजकता तथा उच्छृंखलता के भी दर्शन हो ही जाते हैं। कहीं लय और प्रवाह का भी सर्वथा लोप हो गया है और मुक्त छन्द मात्र गद्य होकर रह गया है। उदाहरण के लिए श्री त्रिलोचन की 'इन दिनों मनुष्य का महत्व कोई नहीं है' शीर्षक कविता की निम्न

---

१. विश्वास बढ़ता ही गया : पृष्ठ १७
२. प्रभाकर माचवे : [illegible] : [illegible] : पृष्ठ २१२

पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं :

इन दिनों मनुष्य का महत्व कोई नहीं है
मूल्य गिर गया है अब मनुष्य का
सिन्धु में बिन्दु का जो स्थान है
वह भी स्थान नहीं है मनुष्य का
ऐसा क्यों
पूँजीवाद का इतिहास कहता है
साम्राज्यवाद पोषित करता है
श्रम का अभिमान और सुख-संग्रह
करने का वैयक्तिक उत्साह इसका उत्तेजक है
कोई सम्बन्ध-धर्म रहा नहीं
अलग-अलग सब अपने सुख दुःख में बहते हैं
और जो प्रहार उन पर होते हैं सहते हैं।[1]

हिन्दी के इन छन्दों के अतिरिक्त प्रगतिशील कवि ने अंग्रेजी के सानेट उर्दू के गजल एवं रुबाई छन्द को भी विशेष रूप से अपनाया है।

ानेट

सानेट को हिन्दी में चतुर्दशपदी के नाम से भी पुकारा जाता है। इसके ग में श्री प्रभाकर माचवे, त्रिलोचन, पंत तथा रामविलास शर्मा को अधिक ता मिली है। श्री त्रिलोचन ने अपने सानेटों से अन्त्यंति की भी योजना की . . उनका निम्न सानेट दृष्टव्य है :

मैंने उनके लिए लिखा है जिन्हें जानता
हूँ जीवन के लिए लगाकर अपनी बाजी
जूझ रहे हैं, जो फेंके टुकड़ों पर राजी
कभी नहीं हो सकते हैं, मैं उन्हें मानता
हूँ आगामी मनुष्यताओं का निर्माता।
कभी आत्म रक्षा से ही वह ज्योति जगी है
जिससे असत्-अंधेरे को सब शक्ति लगी है

---

१. धरती : पृष्ठ ८४

थर थर थर काँपने। नये युग के उद्गाता
वे हैं जो हैं निपट निरक्षर, लेकिन जिनके
प्राणों की ललकार जानती कभी न रुकना,
जिनका आहत-मान जानता नेक न झुकना।
उन्हें रूप-रेखा सुदृष्ट है अपने दिन की।
क्रान्ति उन्हीं लोगों के पास पला करती है,
दुख के तम में जीवन-ज्योति जला करती है।[1]

गजल और रुबाई

निराला, त्रिलोचन और शमशेर ने पर्याप्त गजलें लिखी हैं। *निराला* और त्रिलोचन ने तो गजल में हिन्दी की आत्मा को ही प्रविष्ट कराया है, लेकिन शमशेर की गजलों में उर्दू का रंग अधिक व्याप्त है। शमशेर की एक गजल देखिए :

फिर निगाहों ने तेरी दिल में कहीं चुटकी ली
फिर मेरे दर्द ने पैमाना वफ़ा का बाँधा
और तो कुछ न किया इश्क में पड़कर दिल ने
एक इन्सान से इन्सान वफ़ा का बाँधा
एक फाहा भी मेरे जख्म पे रक्खा न गया
और सर पे मेरे एहसान दवा का बाँधा
इस तकल्लुफ़ की मोहब्बत थी कि उठते ही बनी
रंग यारों ने वो मेहमान सरा का बाँधा
मौसमे-अब्र में आता है मेरे नाम य हुक्म :
कि खबरदार जो तूफ़ान बला का बाँधा,
मुस्कराते हुए वह आए मेरी आँखों में ......
देखने वाला सरो सामान कज़ा का बाँधा[2]

भाव भाषा और शैली —— सभी दृष्टियों से उक्त गजल उर्दू की अदा को ही अपनाये हुए है। इसके विपरीत *निरालाजी की निम्न गजल देखिए,* जिसमें कि इस उर्दू छन्द का हिन्दीकरण करने का प्रयास किया गया है :

---

१. हंस, फरवरी १९५२ : पृष्ठ २९
२. कुछ और कविताएँ : पृष्ठ ४१

हँसी के झूले झूले के हैं वे बहार के दिन।
सलास वृन्तों के फूल हैं वे बहार के दिन ।
जगे हैं सपनों में किरणों की आँखें मल-मलकर,
मधुर हवाओं के, भूल हैं वे बहार के दिन।
कदम के उठते कहा प्रियतमा ने फूलों से
उर में तीरों के हूले हैं वे बहार के दिन।
पुटों में होठों के कलियों का राज दब न सका,
सुगन्ध से खुला, सूले हैं वे बहार के दिन।[1]

रूबाई चार पंक्तियों का एक छन्द होता है, जिसकी कि प्रथम द्वितीय तथ
ातुर्थ पंक्तियों में तुक की योजना होती है। हिन्दी कवियों ने इसे मुक्तक के नाम से
ापनाया है। सुमन, त्रिलोचन और शमशेर ने इस छन्द के विधान में अधिक रुचि
दर्शित की है। डा० सुमन की एक रूबाई देखिए :

जिन्दगी जीत है, विश्वास है, तय्यारी है
मौत विश्राम है,, संघर्ष की लाचारी है
विश्व की घोर उपेक्षा तो मैं सह सकता हूँ
प्यार का भार बहुत भारी है।[2]

ाषा-शैली

महाकवि तुलसीदास ने एक स्थान पर लिखा है :
'गिरा-अर्थ जल-बीचि सम,
कहियत भिन्न न भिन्न।'[3]

आधुनिक शब्दावली में इसका सीधा सा तात्पर्य यही है कि भाषा और
ाचारों की सत्ता अलग अलग नहीं, वरन् अन्योन्याश्रित है। भाषा विशेष कुछ
हीं, वरन विचारों की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है और विचार भी बिना
ाषा के अस्तित्वहीन हैं।

---

1. बेला : पृष्ठ ३२
2. माधव महाविद्यालय पत्रिका ... १९५३-५४ : पृष्ठ १.
3. रामचरितमानस

अतएव जब विचारों में परिवर्तन होगा तो भाषा शैली के स्वरूप में भी परिवर्तन होना अनिवार्य है, स्वयं भाषा में नहीं। चूँकि किसी भाषा का मूल सम्बन्ध उसके व्याकरण से रहता है — वह व्याकरण, जो कि सदियों तक समाज की बड़ी से बड़ी उथल-पुथल के बाद भी बुनियादी रूप से एक बना रहता है। लेकिन भाषा का ऊपरी ढांचा, भाषा का शैलीगत स्वरूप सामाजिक विकास के परिक्रम के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। स्वर्गीय स्तालिन ने 'मार्क्सवाद और भाषा-शास्त्र' नामक अपने निबन्ध में इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है। उनके मतानुसार "भाषा आर्थिक व्यवस्थाजन्य नींव का ऊपरी ढांचा नहीं है, वरन् 'भाषा युगों की एक पूरी शृंखला की उपज होती है, जिसके दौरान में उसका आकार प्रकार बनता है, वह सम्पन्न बनती है, विकसित होती है और उसका परिष्कार होता है।"[१] लेकिन यह परिष्कारगत अन्तर भी अन्ततः विचारों पर ही निर्भर रहता है। विचारों के विकास के अनुसार ही भाषा का भी विकास होता रहता है और उसके स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है। यही कारण है कि हम छायावादी और प्रगतिशील काव्य की भाषा-शैली को अलग अलग खण्डों में बिना किसी हिचक के रख सकते हैं। यों तो शैली के लिए कहा गया है कि "शैली ही व्यक्तित्व है", जिसका सीधा-सादा यह तात्पर्य है कि व्यक्ति का समाजगत एवं मानसगत अन्तर भाषा शैली के अन्तर का भी कारण होता है। फिर भला, सामाजिक विचारों का गहरा अन्तर भाषा-शैली के अन्तर का कारण क्यों नहीं होगा? राल्फ फाक्स ने भी एक स्थान पर यही बताया है कि रोमांटिक विचार रोमान्टिक शैली की मांग करेंगे और यथार्थवादी विचार सरल यथार्थ शैली की।[२]

प्रगतिशील काव्य की शैली के अध्ययन की दृष्टि से हम उसे चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) भावात्मक उच्छ्वास मूलक शैली
(२) वर्णनात्मक अथवा कथात्मक शैली

---

१. मार्क्सवाद और भाषा शास्त्र (पी० पी० एच० लि०, बम्बई ४) : पृष्ठ ३

2. "...... that the romantic thought will demand romentic style and the realist thought the plain prose" thought a simle realistic style.

– The Novel and the People – Page 133.

(३) विश्लेषणात्मक शैली
(४) व्यंग्यात्मक शैली

१. भावात्मक उच्छ्वास मूलक शैली

प्रगतिशील कवि के हृदय में चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति तीव्र घृणा और आक्रोश की भावना है और निम्न वर्ग के प्रति उतनी ही तीव्र समवेदना, अतएव उसने घृणा, आक्रोश समवेदना की भावना को बड़ी तीव्रता और उच्छ्वासमूलक ढंग से प्रकट किया है। दिनकर की 'ताण्डव', 'हिमालय', 'कस्मै-देवाय', 'दिल्ली', 'विपथगा', 'हाहाकार', सुमन की 'नई आग, नई आग है', 'आज देश की मिट्टी बोल उठी है', 'मेरा देश जल रहा, कोई नहीं बुझाने वाला, डा० रामविलास शर्मा की गुरुदेव की पुण्यभूमि, गिरिजाकुमार माथुर की 'एशिया का जागरण' – आदि कविताएँ इसी शैली में लिखी गई हैं। सुमनजी की निम्न पंक्तियों में, देखिए, उच्छ्वासमूलक आक्रोश की कैसी तीव्र व्यञ्जना हुई है :

> देखें, कल दुनिया में तेरी होगी कहाँ निशानी ?
> जा तुझको न डूब मरने को भी चुल्लू भर पानी
> शाप न देंगे हम बदला लेने की आन हमारी
> बहुत सुनाई तूने अपनी आज हमारी बारी।
> आज खून के लिए खून गोली का उत्तर गोली
> हस्ती चाहे मिटे, न बदलेगी बेबस की बोली
> तोप-टैंक–एटम बम सब कुछ हमने सुना–गुना था
> यह न भूल मानव की हड्डी से वज्र बना था[1]

२. वर्णनात्मक अथवा कथात्मक शैली

प्रगतिशील कवि ने चूँकि साधारण जन-जीवन को लक्ष्य में रखकर रचनायें लिखी हैं, इसलिए अपनी रचनाओं को अधिक रोचक एव हृदयग्राही बनाने के लिए उसने छोटे छोटे कथासूत्रों तथा कथात्मक शब्द-चित्रों के माध्यम से भी अपने कथ्य की व्यंजना की है। पन्तजी की 'वे आँखें', 'वह बुड्ढा' निरालाजी की 'रानी और कानी', 'मास्को डायेलाग्स', 'राजे ने अपनी रखवाली की', 'स्फटिक शिला', 'झींगुर डटकर बोला', सुमनजी की 'गुनिया का यौवन', त्रिलोचन की 'मोरई केवट के घर', केदार की

---

१. आज देश की मिट्टी बोल उठी है : विश्वास बढ़ता ही गया : पृष्ठ ४१

'चन्द्र', 'चैतू', 'रनिया', शम्भूनाथसिंह की 'मेरा गाँव', 'जड़ भरत' आदि रचनाओं में इस शैली का प्रयोग किया गया है।

३. विश्लेषणात्मक शैली

प्रगतिशील कविता संक्रान्ति युग की उपज है। संक्रान्ति का युग विचारों के संघर्ष का भी युग होता है। यह विचारों का संघर्ष मनुष्य को बौद्धिक विश्लेषण की ओर प्रवृत्त करता है। अतएव प्रगतिशील कविता में यह बौद्धिक विश्लेषण की प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है। 'युगवाणी' की भूमिका 'दृष्टिपात' में स्वयं पंतजी ने स्वीकार किया है कि—'युगवाणी की भाषा सूक्ष्म है, उसमें विश्लेषण का सौन्दर्य है। 'युगवाणी' की 'बापू', 'युग उपकरण', 'पतझर', 'मूल्यांकन' 'मार्क्स के प्रति', भूत दर्शन, 'साम्राज्यवाद', 'समाजवाद-गाँधीवाद', 'भूत जगत' आदि अनेक रचनाएँ उक्त तथ्य को ही प्रकट करती हैं। युगवाणी की तरह ही अन्य अनेक प्रगतिशील कविताओं के लिए भी यही बात सत्य है। सुमन जी की 'अपने कवि', से रांगेय राघव की 'साम्राज्यवाद', त्रिलोचन की 'जिस समाज में तुम रहते हो', 'एकाधिकार के पंजे में, आदि कविताएँ ऐसी ही हैं।

इस विश्लेषण की प्रवृत्ति के पीछे मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि कविता के क्षेत्र में समाजवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति मुख्यतः मध्यम वर्ग द्वारा ही हुई है। इस वर्ग ने सीधे समाजवादी आन्दोलनों में भाग नहीं लिया है। वह तो उसे अपनी बौद्धिक सहानुभूति ही प्रदान कर सका है। अतएव स्वभावतः ही ऐसे वर्ग द्वारा प्रसूत अनेक कविताओं में उस भावनागत गहराई एवं सौन्दर्य का अभाव है, जो उच्चकोटि के काव्य के लिए अपेक्षित है। आचार्य श्री विनयमोहन शर्मा ने 'छायावाद युग के बाद का हिन्दी साहित्य' शीर्षक अपने निबन्ध में प्रगतिशील कविता के इसी अभाव पक्ष की ओर इंगित किया है :—

"......इन रचनाओं में अनुभूति की गहराई का तो प्रायः अभाव ही रहता है। ऐसे कितने प्रगतिशील कवि हैं जिन्होंने कृषक और मजदूरों सा जीवन व्यतीत किया है या उनके साथ एक होकर सुख दुःख को अपने हृदय में उतारा है? इसीसे अधिकांश प्रगतिशील कहलाने वाली कवितायें शुष्क, निष्प्राण और सिद्धान्त-प्रचारक सी लगती हैं।"[1]

---

१. दृष्टिकोण : पृ० २३–२४

कतिपय विद्वानों के मतानुसार प्रगतिशील काव्य की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति
से मार्क्सवाद की वैज्ञानिक विचारधारा है। चूँकि विज्ञान बौद्धिक चेतना को
धिक जाग्रत करता है, अतएव प्रगतिशील कवि भी विज्ञान की बौद्धिक प्रवृत्ति
आक्रान्त है। लेकिन यह तर्क उचित प्रतीत नहीं होता। विज्ञान जब प्रयोग-
क्षेत्र में प्रवेश करता है, तब वह केवल बुद्धि का ही विषय न रहकर सम्पूर्ण
ा का और अन्तत: राग अथवा भावना का विषय बन जाता है। अत: जो
भी थोड़ी-बहुत विश्लेषणात्मक बौद्धिक प्रवृत्ति प्रगतिशील काव्य में पायी जाती
सका मूल कारण यही है कि वे कवि – विशेष सामाजिक जीवन में पूर्णत:
ल नहीं सके हैं और परिणामत: उनका रागात्मक मानस जन-जीवन के भाव
त्मक चित्रों द्वारा आन्दोलित नहीं हो सका है।

इस विश्लेषण की शैली का प्रभाव ही किसी प्रगतिवादी कविता में
मकता लाने का भी उत्तरदायी रहा है। श्री शमशेर बहादुरसिंह की निम्न
तों में इसी–विश्लेषणात्मक गद्यात्मकता का रूप मिलता है :

आज,
सत्य वाणी का
दीन है।
घन–घटाओं में गंभीर
नाद
(सुनो, सो)
नवल भी प्रवीन है,
स्पष्ट,
चाहे मौन आशा-सा
रक्त में आह्वान है वह
साम्यवाद
का
पुनीत
गान।[1]

---

1. देख अपने औजारों को : हंस, जुलाई १९४८ : पृष्ठ ७१६

४. व्यंग्यात्मक शैली

प्रगतिशील काव्य में इस शैली का निखार अपने ढंग का निराला हुआ है। यह एक स्पष्ट सी बात है कि प्रगतिशील काव्य पूंजीवादी शोषण के विरोध में ही खड़ा हुआ है। पूंजीवाद के विरुद्ध प्रगतिशील कवि के हृदय में तीव्र घृणा और कटुता भरी हुई है। वाणी के द्वारा इस घृणा और कटुता की अभिव्यञ्जना के दो ही साधन हो सकते हैं : — १. आक्रोश मूलक व्यञ्जना और २. व्यंग्य-बाणों का प्रहार। प्रगतिशील कवि की आक्रोश मूलक व्यञ्जना का स्वरूप हम पहले देख ही चुके हैं। यहाँ अब उसकी व्यंग्य-विदग्ध वाणी की तीव्रता को देखना है।

इस व्यंग्यात्मक शैली का पूर्ण निखार हमें निराला, नागार्जुन तथा पंत और केदार की कतिपय रचनाओं में मिलता है। निरालाजी ने सामाजिक तथा राजनीतिक दोनों विषयों पर व्यंग्यात्मक कविताएं लिखी हैं। उनकी 'रानी और कानी', 'गर्म पकौड़ी' तथा 'प्रेम संगीत' शीर्षक रचनाओं में सामाजिक रूढ़ियों के प्रति व्यंग्य है और 'मास्को डायलाग्स' राजनीतिक व्यंग्य का सुन्दर उदाहरण है। 'राजे ने अपनी रखवाली की', 'कुत्ता भौंकने लगा', 'झींगुर डटकर बोला' तथा 'कुकुरमुत्ता' में वर्ग-व्यवस्था और उच्चवर्ग के शोषण के विरुद्ध व्यंग्य-विधान की तीव्रता का दर्शन होता है। नागार्जुन की भी 'बड़ा साहब', 'सौदा', 'प्रेत का बयान', 'मास्टर', 'सौन्दर्य-प्रतियोगिता', 'जयति नखरंजिनी' आदि कविताओं में व्यंग्य का सुन्दर स्वरूप दिखाई देता है। पन्तजी की 'ग्राम-देवता' शीर्षक कविता में ग्राम के रूढ़ि-जर्जर स्वरूप को व्यंग्य-बाणों से बिद्ध किया गया है और केदार की 'सोने के देवता', 'देवमूर्ति', 'अमीनाबाद' — आदि रचनाओं में ईश्वर और धर्म के खोखले स्वरूप को व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिए 'केदार' की 'देवमूर्ति' शीर्षक रचना द्रष्टव्य है :

> छोटी सी देवमूर्ति
> आले में रक्खी थी।
> बेचारी औचक ही,
> चूहे के धक्के से
> हौसा के पत्थर पर
> नीचे गिर टूट गई।
> ताज्जुब है मुझको तो। ……

करुणा के सागर के
अन्तर की एक बूंद,
भूमि पर न छलकी ।[1]

उक्त शैलियों के अतिरिक्त प्रगतिशील काव्य की एक अन्य विशेषता है लोक-भाषा के प्रति झुकाव, त्रिलोचन, केदार, भवानी मिश्र, शम्भूनाथसिंह आदि की रचनाओं में यह विशेषता विशेष रूप से दिखाई देती है। श्री भवानी मिश्र की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं, जिनमें कि लोक भाषा के साथ ही लोक-धुन को भी अपनाने प्रयास किया गया है :

फिसली-सी पगडंडी, खिसली आँख लजीली री,
इन्द्र धनुष रंग रंगी, आज मैं सहज रंगीली री,
रुन झुन बिछिया आज, हिला डुल मेरी बेनी री,
ऊँचे ऊँचे पेंग, हिंडोला सरग-नसेनी री,
और सखी सुन मोर, विजन वन दीखे घर-सा री।
पी के फूटे आज प्यार के, पानी बरसा री।[2]

केदार अग्रवाल के 'मांझी न बजाओ बंशी मेरा मन डोलता', 'धीरे उठा [illegible] मेरी पालकी', 'नाव मेरी पुरइन के पात की — आदि गीतों में भी लोक धुन [illegible] सहज-हृदय-स्पर्शिनी भंगिमा के दर्शन होते हैं।

प्रगतिशील कवि अपना प्राथमिक उत्तरदायित्व साधारण जन-जीवन के प्रति मानता है। इसलिए उसने सरल अभिधात्मक भाषा और जन-जीवन के नित्य प्र[illegible] व्यवहार में आनेवाले मुहावरों का सजीव प्रयोग किया है। निम्न उद्धरण देखिए :

१. अच्छे चले,
पर के रहे, न रहे घाट के। —केदार[3]
२. देस कलेजे के टुकड़ों को
टूक टूक निरुपाय। —सुमन[4]

---

१. युग की गंगा : पृष्ठ २४
२. मंजल—वर्षा : दूसरा खण्ड : पृष्ठ १७
३. देवताओं की आत्महत्या : युग की गंगा : पृष्ठ २७
४. बंगाल का अकाल —१९४५ : प्रलय-सृजन : पृष्ठ ७७

३. अपने ही हाथों से अपने
हमने आज कुल्हाड़ी मारी। —महेन्द्र भटनागर [1]

४. वह किसी एक पागल पर जान दिये थी।[2] — भवानी मिश्र

५. अभय बैठ ज्वाला मुखियों पर अपना मन्त्र जगाते हैं
ये हैं वे जिनके जादू पानी में आग लगाते हैं।[3]

प्रगतिशील कवि की कविता के सम्बन्ध में जो मान्यता है, उसे पाब्लो नेरूदा के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है— "...... कविता रोटी के समान है, जिसका उपयोग विद्वान और किसान सबके लिए' देश के विस्तीर्ण आँगन में फैले हुए परिवार के सारे लोगों के लिए एक सा होना चाहिए।"[4] अतः स्पष्ट है कि प्रगतिशील कवि भाषा और शैली की स्पष्ट तथा जन-सुलभ सरलता का पक्षपाती है। निम्न उद्धरण उसकी उक्त धारणा की ही पुष्टि करता है :

पूरी हुई कटाई अब खलिहान में
पीपल के नीचे है राशि सुची हुई,
दानों भरी पकी बालों वाले बड़े
पूलों पर पूलों के लगे अरंभ हैं
बिगड़ी बरहें दीख पड़े अब खेत में
छोटे छोटे ठूँठ ठूँठ ही रह गये।[5]

लेकिन जन-सुलभ सरलता की इस अति के कारण अनेक रचनाओं का कला-मूल्यों की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रहा। उनमें केवल स्थूल प्रचारात्मकता का स्वर मिलता है। ऐसी रचनाओं में द्विवेदी-युग की शुष्क इतिवृत्तात्मक प्रणाली का पुनरुद्भव हुआ प्रतीत होता है।

हाँ, कहीं कहीं तत्सम शब्द प्रधान भाषा का रूप भी पाया जाता है। श्री गिरिजा कुमार माथुर, नागार्जुन, रांगेय राघव आदि की अनेक रचनाओं में इस

---

१. संयुक्त बनो : बदलता युग : पृष्ठ ३२
२. सन्नाटा : दूसरा सप्तक : पृष्ठ १४
३. दिनकर : हुंकार: पृष्ठ २७
४. कविता और अस्पष्टता : नया पथ, मई १९५४ : पृष्ठ ४९७
५. शिल्हार : रूप तरंग (रामविलास शर्मा) : पृष्ठ ८

रूप के दर्शन किये जा सकते हैं। यहाँ एक उद्धरण पर्याप्त होगा :

> अंगार बन गया आदि पूर्व सदियों का धुंधला जंबु द्वीप
> श्यामल कृतान्तजा धरा उठी लेकर अग्नि-दीप
> शत अनल शिखाओं से उठते सीमान्त आज देशान्तर के
> भर गये दीप्ति से नगर ग्राम जनवास दीर्घ वन-प्रान्तर के।[१]

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रगतिशील काव्य में भाषा-शैली का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ है और उसने परम्परा की लीक मात्र ही नहीं पीटी है।

———

१ गिरिजाकुमार माथुर : [illegible] : धूप के धान। पृष्ठ [illegible]

उपसंहार

आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता के इस विस्तृत विवेचन के पश्चात् उसके संबंध में कतिपय निष्कर्षों पर सहज ही पहुँचा जा सकता है।

१. आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता केवल विदेशी प्रेरणा-स्रोत से ही उद्भूत नहीं है या केवल मार्क्सवादी दर्शन की साहित्यिक अभिव्यक्ति मात्र ही नहीं है। यद्यपि उसने मार्क्सवादी दर्शन से प्रेरणा अवश्य ग्रहण की है, लेकिन मूलतः भारतीय जीवन की परिस्थितियों ने ही उसके विकास का मार्ग प्रशस्त किया है। इस संबंध में डा० नामवरसिंह की इस उक्ति से मैं पूर्णतः सहमत हूँ कि—"यदि प्रगतिवाद की माँ मार्क्सवाद ही है तो हिन्दी में प्रगतिवाद का जन्म उन्नीसवीं सदी में ही हो जाना चाहिए था, क्योंकि उस समय यूरोप में मार्क्सवाद की धूम मची हुई थी और हिन्दुस्तानी लोग तब तक यूरोप के संपर्क में अच्छी तरह आ गये थे। लेकिन वास्तविकता यह है कि हिन्दी में प्रगतिवाद पैदा हुआ, १९४० ई० के बाद। इसका साफ मतलब है कि प्रगतिवाद हिन्दी में अपने समय पर ही पैदा हुआ—ऐसे समय जब हिन्दी जाति और साहित्य की जमीन उसके अनुकूल तैयार हो गयी थी"[१]

डा० नगेन्द्र का यह मन्तव्य है कि "प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ वह उसके यौवन का गला घोंट कर ही उठ खड़ा हुआ।"[२]—यह मत भी तर्क संगत नहीं है। वास्तव में उस समय परिस्थितियाँ ही ऐसी विषम होगई थीं कि छायावाद की स्वप्निल कल्पनाओं के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। स्वयं पंतजी

---

१. आ० सा० की प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ ८१

२. आ० हि० क० की मुख्य प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ १०८

ने 'रूपाभ' के संपादकीय में इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया था। जन-जीवन छायावाद के अति सौकुमार्य से ऊब चुका था और वह धरती की कठोरता को अपनाने के लिए व्याकुल हो उठा था।

२. प्रगतिशील कवि की मूल दृष्टि सामाजिक यथार्थ की दृष्टि है। उसने न तो वायवी काल्पनिक सृष्टि को ही अपना आधार-स्थल माना और न वह वैयक्तिक अन्तर्मुखी चेतना में ही रम सका। ग्राम, नगर और प्रकृति के यथार्थ चित्रों को प्रस्तुत करते समय उसने अपनी इसी सामाजिक यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है। इस सामाजिक यथार्थ दृष्टि ने ही उसे एक ओर तो प्रतिक्रिया की मरणोन्मुख शक्तियों से परिचित कराया, दूसरी ओर भविष्य की क्रान्तिकारी उभरती हुई शक्तियों की विजय के सम्बन्ध में भी आश्वस्त बनाया। इसलिए उसने दोनों ही शक्तियों के यथार्थ चित्र प्रस्तुत किए और वह आशा तथा आस्था का दृढ़ स्वर गुंजित कर सका।

३. प्रगतिशील कविता चूँकि यथार्थ जीवन को वहन करती तथा भोगती है, इसलिए वह समसामयिकता की प्रबल चेतना से संयुक्त है। यह समसामयिकता की चेतना भी किसी पृथक और निरपेक्ष रूप में व्यक्त नहीं हुई है। वह अतीत और भविष्य के सूत्रों से भी जुड़ी हुई है और इसलिए वह एक अखण्ड काल प्रवाह का ही दर्शन कराती है।

४. प्रगतिशील कवि का देश प्रेम संकुचित अन्ध राष्ट्रीयता की सीमा में बद्ध नहीं है। वह तो अन्तर्राष्ट्रीय चेतना की व्यापक भाव-धारा का वाहक है। कहीं कहीं अवश्य ही उसने समाजवादी देशों के प्रति अत्यधिक निष्ठा का प्रदर्शन कर अपनी देश-भक्ति की भावना के आगे प्रश्न चिन्ह लगवा दिया है।

५. प्रगतिशील कविता मानवतावाद की व्यापक भाव-चेतना से आन्दोलित है। इस मानवतावादी भाव-प्रवृत्ति ने ही प्रगतिशील हृदय में शोषक वर्ग के प्रति तीव्र घृणा और शोषित वर्ग के प्रति अपार सहानुभूति की भावनाएं स्पष्ट की हैं।

६. प्रगतिशील कवि वर्ग-व्यवस्था के समूल विनाश के लिए क्रान्ति का समर्थक है। उसकी क्रान्ति-भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित है अतएव साधनों की पवित्रता का उसके लिए कोई अधिक महत्व नहीं है।

७. प्रगतिशील कवि ने ईश्वर और धर्म के प्रति भी अपनी क्षोभ-भावना प्रदर्शित की है। ईश्वर और धर्म को उसने वर्तमान वर्ग-व्यवस्था को बनाये रखने वाली शोषक-वर्ग की साधन शक्ति के रूप में देखा है।

८. प्रगतिशील कवि ने नारी को भी शोषित वर्ग के रूप में देखा है। अतएव उसने नारी-स्वातन्त्र्य तथा उसके समानाधिकार की आवाज भी उठायी है।

९. प्रेम और प्रकृति, को प्रगतिशील कवि ने उनके सामाजिक सन्दर्भ में ही महत्व दिया है।

१०. प्रगतिशील कविता में रूप-विधान की अपेक्षा विषय वस्तु पर अधिक बल दिया गया है। अतएव कहीं-कहीं प्रचारात्मकता का स्वर अधिक प्रबल हो गया है। ऐसे स्थलों पर काव्य-शक्ति का अत्यधिक विकृत रूप दिखाई देता है। वस्तुत: प्रगतिशील कवि की प्रचारवादी दृष्टि के पीछे लेनिन का 'पार्टी और लिटरेचर' नामक लेख था। इस लेख को प्रगतिशील कवियों ने गलत रूप से समझा। जार्ज लुकाच ने बाद में इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि उक्त लेख का उद्देश्य साहित्य को मात्र प्रचार बना दिए जाने का नहीं था। उस लेख का इंगित तो पार्टी के प्रचार के लिए पार्टी के 'पाप्यूलर' साहित्य की ओर ही था।[1] वैसे भी, प्रचार का स्वर कुछ कविताओं में ही विशेष स्थूल रूप धारण कर व्यक्त हुआ है। अनेक कविताएँ ऐसी भी है जो कि कलात्मक दृष्टि से भी अपना उच्च स्थान रखती हैं। बाद में तो प्रगतिशील कवियों ने ही प्रचारवाद का भी तीव्र विरोध किया है और काव्य के कला पक्ष को सँवारने की ओर भी अधिक ध्यान दिया है। हाँ, उन्होंने कला-पक्ष को सँवारते समय भी साधारण जनता का ध्यान बराबर रखा है और इसलिए काव्य को सरल तथा सुगम बनाने के लिए भी वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं।

संक्षेप में, आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता का यही स्वरूप रहा है। वस्तुत: अपने उक्त तत्वों के द्वारा उसने हिन्दी कविता को नये क्षितिज प्रदान किए हैं और उसे सामाजिक चेतना का प्रबल वाहक बनाया है। प्रगतिशील कविता का विरोध करने वाले आलोचकों ने भी कम से कम यह तो स्वीकार किया ही है कि उसने हिन्दी काव्य को एक जीवन्त चेतना प्रदान की है।[2] डा० केसरीनारायण

---

1. "Two years ago the Soviet Magazine Drushba Narodov (1960 No 4) published a hitherto unknown letter of krupskaya's, in which she declares that Lenin's famous 1905 essay a party organisation and Party Literature was not concerned with literature as fine art—a view, I have long held.

(The meaning of contemporary Realism—G. Lukacs : London, 1962 Page 7).

२. डा० नगेन्द्र : आ० हि० क० की मुख्य प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ १०९

शुक्ल ने भी प्रगतिवाद के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है : "......उसका उद्देश्य जीवन के भौतिक पक्ष का अभ्युत्थान है। जीवन के आर्थिक सामाजिक पक्ष पर विशेष आग्रह दिखा कर वह समस्त मानवता के व्यावहारिक पक्ष का उत्तरोत्तर विकास करना चाहता है। प्रगतिवाद का इसलिए भी महत्व है कि उसमें वर्तमान विकास के प्रधान तत्व छिपे हैं।"[१] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी 'हिन्दी साहित्य' में 'प्रगतिशील आन्दोलन' को एक 'महान उद्देश्य से चालित' बताया है। उनका कथन है : "प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी संभावनायें अत्यधिक हैं। भक्ति आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श-निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नए जीवन-दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।"[२]

---

१ डा० [illegible] का साहित्यिक [illegible] : पृष्ठ १४८–१४९

२ हिन्दी-साहित्य (१९५२) : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ ४००–४०१

परिशिष्ट - १

श्री केदारनाथ अग्रवाल का पत्र

प्रिय बन्धु,

आपका कृपा पत्र दिनांक ७/२ का मिला। मैं कृतज्ञ हूँ। आपके प्रश्नों
उत्तर संक्षेप में नीचे लिखे हैं।

१–प्रगतिशील कविता वह है जो जीवन और कविता के क्षेत्र में प्रगति
अपना विकास और शृंगार करती है। वह कभी भी जीवन खो कर कला की
व्यक्ति मात्र बनने का प्रयास नहीं करती। वह जीवन को जीकर, जीवन से कविता
और संक्रमण करती है। उसकी विषय वस्तु जीवन की विषय वस्तु से रागात्मक सम
स्थापित करती है। और अपना रूप तदनुकूल प्राप्त करती है।

वह दो अर्थों में प्रयुक्त हुई है। एक उसका संकुचित और संकीर्ण अर्थ
वह अर्थ एक विशेष 'वाद'—मार्क्सवाद – का निर्वाह करता है। उस अर्थ के
निर्मित कविता अधिक सामाजिक, राजनीतिक और प्रचारात्मक होती है।
का दृष्टिकोण व्यापक मानवता का नहीं होता। वर्ग विशेष की सहानुभूति के
दूसरे वर्ग के प्रति घृणा और आक्रोश का दृष्टिकोण होता है। इस हेतु
अर्थ में "प्रगतिशील कविता", एक विशेष वर्ग का अस्त्र और सिद्धान्त बन
है। दूसरा उसका व्यापक अर्थ होता है। वह व्यापक अर्थ वाद-विवाद-हीन
कोण के कारण मानवतावादी भावना की उत्पत्ति होती है। लेकिन उसका
वस्तुपरक–मूल्यन का परिणाम होता है। और वह मात्र रूप अथवा कला की
व्यक्ति न होकर जीवन के अन्दर से एक वस्तु र ...ल का फूल और फल की
निकलता है।

ऐतिहासिक धरातल पर 'प्रगतिशील कविता' पहले मार्क्सवादी विचार धारा से आक्रान्त रही किन्तु बाद को उससे उबर कर मानवतावादी हो गयी। यह कहना असंगत होगा कि मार्क्सवाद से मुक्त होकर वह मर गई और प्रगतिशील काव्य-धारा मरुभूमि में विलीन हो गयी। वह आज भी स्वस्थ, सयत और विवेक के बल पर 'नये मानव' की अनुभूतियों को उसके परिवेश के साथ, नयी बदली हुई भाषा मे, नयी गतिविधि के साथ व्यक्त कर रही है। मगर उसका स्वरूप 'प्रयोगवादी कविता' और 'नयी कविता' के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। प्रगतिशील कविता न 'प्रयोगवादी काव्य-धारा' मे और न 'नयी कविता धारा' में खोई। वह उन दोनों से बच कर अब भी प्रवाहित है। प्रगतिशील कविता में न 'प्रयोग' पर बलाघात है और न 'नये' पर। वह जीवन को समेट कर जीवन के साथ जीती है। प्रयोगवादी कविता प्रयोग शाला की कविता है। प्रत्येक कविता प्रयोग की अभिव्यक्ति होती है – तभी लय से टूटी, बलात् जोड़े शब्दों से गुम्फित और विकृतियों से आविर्भूत होती है। परम्परा से छूटी और प्रगति से कटी होती है। 'नई कविता' का आग्रह प्रयोग से हटने का दावा तो करता है परन्तु वह दावा सही नहीं है। जो प्रयोग या वह प्रवृत्ति में न आकर कवि की उस संवेदना में आ जाता है जो परिवेश को छोड़कर व्यक्त नहीं होती। इसके अतिरिक्त नयी कविता में विरूपता को बचा कर कविता को रूप दिया जाता है। नयी कविता में भी रूप को बल दिया जाता है और वह रूप लय और नये शब्द संबंधों में व्यक्त होता है। यहाँ भी जीवन के प्रति आग्रह और आस्था का भाव गौण रहता है। 'अमूर्त कविता' प्रयोगवाद का ही अंतिम परिणाम है।

अतएव प्रगतिशील कविता अपना कार्य अब तक पूरा कर रही है और उत्तरोत्तर अग्रसर हो रही है।

२–'प्रगतिशील कविता' एक 'काव्य–प्रवृत्ति' के नाम से संबोधित नहीं की जा सकती। वह काव्य की नहीं जीवन-प्रवृत्ति है। वह प्रवृत्ति चिरकाल से चली आ रही है। इसलिए एक ओर जीवन्त परम्परा से 'प्रगतिशील कविता' अपना नाता जोड़ती है तो दूसरी ओर प्रगति से सम्बद्ध रहती है। 'प्रयोगवादी कविता' और 'नयी कविता' दोनों ही परम्परा और प्रगति से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। वह दोनों ही निश्चयात्मक रूप से काव्य-प्रवृत्तियाँ हैं। यह मूल भेद विचारणीय है।

३–'आधुनिक प्रगतिशील कविता' कहना अभी उपयुक्त न होगा। क्योंकि समय अभी अधिक नहीं बीता। इसलिए अब तक के विकास-काल में कोई विभिन्न

ाएँ नहीं निर्धारित की जा सकतीं। वह कविता अपना वास्तविक धरातल नती चली जा रही है और पाती चली जा रही है। आधुनिकता फैशन और काव्य त्ति को व्यक्त करती है। प्रगतिशील कविता न फैशन थी, न है, और न प्रवृत्ति है। वह पुरातन नहीं होती। संवेदनशील रही है, और रहेगी। वह एक विकास-न कविता है जो जीवन की विकासमयी उपलब्धियों को निरन्तर समेटती ती जायेगी।

४–मेरे संग्रहों का नाम है :—

४७ में १–'युग की गंगा' } दोनों ही बम्बई से प्रकाशित हुए थे। अब
२–'नींद के बादल' } मुझे भी उपलब्ध नही है।

१९५७ में ३–'लोक और आलोक' को लहर प्रकाशन इलाहाबाद ने प्रकाशित किया था। कादम्बिनी मे लगे श्री ओंकार शरद के द्वारा प्राप्त हो सकेगी। मेरे पास एक प्रति है। उसे भेजने मे असमर्थ हूँ।

५–प्रगतिशील कविता की विषय वस्तु जीवन के समान असीम है। उसका कलात्मक सौन्दर्य जीवन के सौन्दर्य के समान अक्षुण्ण है।

६– मेरी दृष्टि में प्रगतिशील कवि वही है जो ऊपर लिखे विचारों से कविता रचते हैं। संख्या कम नही, अधिक है। आप सब लोग जानते हैं।

७–प्रगतिशील कविता का विकास और भाग्य देश के विकास और भाग्य के साथ जुड़ा है। वह पीछे नही, आगे बढ़ती है।

८–उर्वशी : दिनकर की यह पुस्तक प्रगतिशील है या नहीं ? गंभीर प्रश्न है। मैं कहूँगा कि यह प्रगतिशील काव्य नहीं है। वह कविता है परन्तु, प्रगतिशील नहीं। कारण यह है कि उसमें सौंदर्य और भोग की समस्या को, प्रेम और प्रणय की समस्या को, धरती और आकाश के सौन्दर्य की समस्या को जीवन के धरातल पर उतार कर काव्यात्मक नहीं बनाया गया। वह समस्याएँ एक दार्शनिक भाव भूमि पर, परम्परा और प्रवृत्तियों के बल पर उभारी और सुलझाई गई है। विषय वस्तु युग-सत्य से विलग है। उसका रूप सौन्दर्य केवल विचार भूमि पर, कल्पना से सज कर वाक्-स्फुरण बन गया है।

९–हमारा युग कर्म और निर्माण का युग है। यह मूल प्रवृति है। विचारों से नहीं, कर्म से देश बनता है। इसलिए आज की कविता विचारों के सौन्दर्य को व्यक्त करे भी तो उसे प्रगतिशील होने के लिए कर्म से सम्बद्ध होना चाहिए। उसे

प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन तो करना ही चाहिए मनुष्य के बनाये हुए सौन्द
स्थानों का भी उसी आस्था से वर्णन करना चाहिए। 'मान सरोवर' और 'हं
का सौन्दर्य काव्य में आये परन्तु भाखरा-नांगल और चितरंजन का सौन्दर्य
व्यक्त हो। वायुयान हंस का स्थान ले।

आशा है कि आप मेरे उत्तर पाकर मेरा मत जान सकेंगे और प्रगतिश
कविता के विषय में संयत और शिष्ट दृष्टिकोण बनाकर संतुलित विवे
करेंगे। ....

शुभ कामनाओं के साथ।

आपका स्नेह भाजन,
सही. केदारनाथ अग्रवाल

परिशिष्ट २

ग्रंथ-सूची

हिन्दी के गद्य ग्रंथ

लेखक का नाम	पुस्तक का नाम
र्य रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास
"	रस-मीमांसा
"	चिंतामणि—भाग १
"	चिंतामणि—भाग २
र्य नन्ददुलारे वाजपेयी	हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी
"	आधुनिक साहित्य
"	नया साहित्य : नये प्रश्न
नगेन्द्र	विचार और अनुभूति
"	विचार और विवेचन
"	विचार और विश्लेषण
"	आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ
हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी-साहित्य
गुलाबराय	सिद्धान्त और अध्ययन
"	काव्य के रूप
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य
केसरीनारायण शुक्ल	आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत
देवी वर्मा	महादेवी का विवेचनात्मक गद्य
सुमित्रानन्दन पन्त	शिल्प और दर्शन

श्री जयशंकर प्रसाद	चन्द्रगुप्त नाटक
श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'	संस्कृति के चार अध्याय
"	मिट्टी की ओर
"	काव्य की भूमिका
आचार्य विनयमोहन शर्मा	दृष्टिकोण
श्री शिवदानसिंह चौहान	हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष
"	साहित्य की समस्यायें
"	साहित्यानुशीलन
डा० भगवतशरण उपाध्याय	साहित्य और कला
श्री इलाचन्द्र जोशी	विवेचना
डा० रामविलास शर्मा	स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य
"	प्रगति और परम्परा
"	प्रगतिशील साहित्य की समस्या
"	भाषा, साहित्य और संस्कृति
"	विराम-चिह्न
"	लोक जीवन और साहित्य
श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त	साहित्य-धारा
श्री नामवर सिंह	इतिहास और आलोचना
"	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ
डा० इन्द्रनाथ मदान	आधुनिक कविता का मूल्यांकन
डा० रांगेय राघव	समीक्षा और आदर्श
"	प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड
"	आधुनिक हिन्दी कविता में विषय
श्री प्रेमचन्द	कुछ विचार
श्री प० बलदेव उपाध्याय	भारतीय साहित्य-शास्त्र (२
"	द्वितीय खंड)
डा० सम्पूर्णानन्द	चिद्विलास
श्री ओंकारनाथ त्रिपाठी	हिन्दी साहित्य
श्री धर्मवीर भारती	मानवमूल्य और साहित्य
श्री विजयशंकर मल्ल	हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद

श्री डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	आधुनिक हिन्दी कविता : सिद्धान्त और समीक्षा
डा० महेन्द्र भटनागर	आधुनिक साहित्य और कला
डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल	आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौंदर्य
डा० गोपालदत्त सारस्वत	आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा तथा प्रयोग
महात्मा गांधी	हिन्द-स्वराज्य
पं० जवाहर नेहरू	मेरी कहानी
,,	हिन्दुस्तान की कहानी
कार्ल मार्क्स	भारत सम्बन्धी लेख
रजनी पामदत्त	आज का भारत
स्वामी विवेकानन्द	विवेकानन्द के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में विचार
डा० राधाकृष्णन	धर्म और समाज
डा० पट्टाभि सीता रामय्या	कांग्रेस का इतिहास (प्रथम तथा द्वितीय खण्ड)
श्री नम्बूद्रीपाद	गांधीजी और उनका वाद
श्री सुखसम्पत्तिराय भण्डारी	भारतवर्ष के स्वातन्त्र्य-संग्राम का इतिहास

संपादित ग्रन्थ

डा० धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दी साहित्य कोश (भाग–१)
डा० नगेन्द्र	भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा
,,	पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा

२–ग हिन्दी के काव्य-ग्रन्थ

तुलसीदास	राम चरित मानस
केशवदास	कविप्रिया
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र	भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग)
,,	भारतेन्दु ग्रन्थावली (खण्ड–२)
पं० प्रतापनारायण मिश्र	प्रताप-लहरी
,,	लोकोक्ति-शतक
प्रेमघन	प्रेमघन सर्वस्व (प्रथम भाग)
बालमुकुन्द गुप्त	स्फुट कविता
श्री पूर्ण	पूर्ण–संग्रह

श्री त्रिशूल	त्रिशूल-तरंग
श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय	प्रिय प्रवास
श्री मैथिलीशरण गुप्त	भारत भारती
"	साकेत
"	यशोधरा
"	हिन्दू
"	सिद्धराज
श्री रामनरेश त्रिपाठी	स्वप्न
श्री जयशंकर प्रसाद	लहर
"	आंसू
"	कामायनी
श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'	गीतिका
"	अपरा
"	कुकुरमुत्ता
"	बेला
"	नये पत्ते
श्री सुमित्रानन्दन पन्त	पल्लव
"	पल्लविनी
"	युगान्त
"	युगवाणी
"	ग्राम्या
"	आधुनिक कवि–२
श्रीमती महादेवी वर्मा	नीरजा
"	यामा
श्री दिनकर	चक्रवाल
"	सामधेनी
"	कुरुक्षेत्र
"	रश्मि-रथी
"	नीम के पत्ते
"	नील कुसुम
"	रेणुका

दिनकर	हुंकार
,,	धूप और धुआं
,,	इतिहास के आंसू
डॉ० शिवमंगलसिंह सुमन	हिल्लोल
,,	जीवन के गान
,,	प्रलय-सृजन
,,	पर आँखें नहीं भरीं
,,	विश्वास बढ़ता ही गया
श्री गिरिजाकुमार माथुर	धूप के धान
श्री बच्चन	एकान्त संगीत
,,	बंगाल का अकाल
श्री जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द	नवयुग के गान
,,	बलिपथ के गीत
,,	भूमि की अनुभूति
श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	कुंकुम
,,	हम विषपायी जनम के
श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	लाल चूनर
,,	किरण वेला
,,	करील
श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान	मुकुल
श्री नरेन्द्र शर्मा	प्रवासी के गीत
,,	मिट्टी और फूल
,,	पलाशवन
,,	हंस माला
श्री केदारनाथ अग्रवाल	नींद के बादल
,,	युग की गंगा
,,	लोक और आलोक
श्री नागार्जुन	युग-धारा
,,	प्रेत का बयान
,,	सतरंगे पंखों वाली
श्री रांगेय राघव	अजेय खंडहर

रांगेय राघव	पिघलते पत्थर
,,	मेधावी
,,	पंचाली
,,	राह के दीपक
श्री उदयशंकर भट्ट	अमृत और विष
,,	पूर्वापर
श्री त्रिलोचन	धरती
,,	दिगंत
,,	गुलाब और बुलबुल
डा० रामविलास शर्मा	रूप-तरंग
डा० महेन्द्र भटनागर	तारों के गीत
,,	विहान
,,	अभियान
,,	अन्तराल
,,	बदलता युग
,,	टूटती शृंखलाएँ
,,	नई चेतना
,,	मधुरिमा
,,	जिजीविषा
,,	सन्तरण
डा० शम्भुनाथसिंह	छायालोक
,,	दिवालोक
,,	उदयाचल
,,	मन्वन्तर
श्री शील	अंगड़ाई
,,	एक युग
,,	उदय-पथ
श्री भवानीप्रसाद मिश्र	गीत फरोश
श्री शमशेर बहादुर सिंह	कुछ कविताएँ
,,	कुछ और कविताएँ

संकलित ग्रन्थ

तार-सप्तक

श्री अज्ञेय	दूसरा सप्तक
,,	रूपाम्बरा
श्री दिनकर	शान्तिलोक
श्री राहुल सांकृत्यायन	प्रगति...भाग एक
श्री अमृतलाल नागर	भगवतीचरण शर्मा
डा० नगेन्द्र	गिरिजाकुमार माथुर
श्री हरिकृष्ण प्रेमी	माखनलाल चतुर्वेदी
श्री मन्मथनाथ गुप्त	रामधारीसिंह दिनकर
श्री क्षेमचन्द्र सुमन	चीन को चुनौती

संस्कृत . ग्रन्थ

दण्डी	काव्यादर्श
वामन	काव्यालंकार सूत्र वृत्ति
मनु	मनुस्मृति
कालिदास	कालिदास ग्रन्थावली
,,	ऋगवेद

ENGLISH BOOKS

Author	Book
K. Marx & Engels	Manifesto of the communist Party
"	Thesis on Feuerbach
"	Literature and Art
"	The corresponndence of Marx and Enge
Dr. A.R.Desai	Social Background of Indian Natonalism
Anand Gupta (Edited)	India and Lenin
George Thomson	Marxism and Poetry
Stalin	History of the communist Party of th soviet Union.
Louis Harap	Social Roots of the Arts.
T. Farell	A Note on Literary criticism
M.Gorki	Creative Labour and culture.
Humayun Kabir	Indian Heritage
C. D. Lewis	Poetic Image
Sir Monier williams	Sanskrit English Dictonary
D.P.Mukerji	Modern Indian culture
C.Caudwell	Illusion and Reality
"	Studies in a Dying culture
Howard Fast	Literature and Realiy
Ralf Fox	The Novel and the People
G.Lucas	The Meaninig of countemporarary Realism
G.V. Plekhanov	Art and social Life.

पत्र--पत्रिकायें

ालोचना २३ जुलाई १९५७
ालोचक (सौन्दर्य शास्त्र विशेषांक) फरवरी १९५८
„ (यथार्थवाद विशेषांक) फरवरी १९५९
„ मई १९५६
रस्वती, भाग २१, खंड २, संख्या ३, १९९० ई०
रस्वती, खंड ३७, संख्या ३, १९३६ ई०
ाम, वर्ष १, संख्या १, जुलाई १९३८
ाम, फरवरी १९३९
हर (कवितांक) अक्टूबर-नवम्बर १९५८
ाहित्य सन्देश, जुलाई १९६१
शाल भारत, नवम्बर १९३७
„ मई १९४६
या पथ, मई १९६४
ाघव-महाविद्यालय पत्रिका-१९५३-५४
स-सन् १९४६ से तक के विभिन्न अंक.